महावीर वाणी

महावीर वाणी

संपादक
श्रीचन्द रामपुरिया,
एडवोकेट

प्रकाशक : जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं - ३४१ ३०६
नागोर (राजस्थान)

द्वितीय आवृत्ति : १९९७

मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपए

मुद्रक . पकज प्रिन्टर्स, दिल्ली-११० ०५३

आशीर्वचन

महावीर साधना काल मे मौन रहे। उनका साधना काल साढे बारह वर्षो का था। उस अवधि मे वे बोलने के रूप मे नही बोले। क्योकि वे भावी तीर्थकर थे। वे तब तक बोलना नहीं चाहते थे जब तक उनका ज्ञान ही वाणी न बन जाए। उनकी साधना सफल हुई। अज्ञान का आवरण दूर हुआ। उनकी आत्मा ज्ञानमय बन गई। केवलज्ञान का सूर्य उगा। उनका आभामण्डल और अधिक आलोकित हुआ। उनकी वाणी स्फुरित हुई। पर उनकी अतहीन ज्ञान रश्मियो को अभिव्यक्ति देना उनके लिए भी असभव था। सत्य से पवित्र बनी और अनुभूतियो से छनकर निकली उनकी वाणी को गणधरो ने ग्रहण किया। तीर्थकर जितना बोले, उतना गणधर पकड नही पाए। उन्होने जितना पकडा उतना सुरक्षित नही रह सका। जितना सत्य सुरक्षित रहा उसके आधार पर आगमो की रचना हुई। आज हमारे पास महावीर-वाणी का मूल स्रोत उनके गणधरो द्वारा गूंथे हुए आगम हैं।

महावीर-वाणी मे निहित सत्य का आलोक लोक-जीवन तक पहुचे, यह आवश्यक था। इसके लिए उसके सारभूत प्रसंगो को संकलित करने की योजना बनी। सकलनकर्त्ता की दृष्टि जितनी पारदर्शी होती है, सकलन उतना ही उपयोगी बन जाता है। संकलन करने वाला एक बार वाड्मय बन जाए तो उसमे श्रेष्ठता लाई जा सकती है।

'जैन विद्या मनीषी' श्रीचदजी रामपुरिया तेरापथ समाज के गभीर अध्ययनशील और विशिष्ट सूझ-बूझ वाले व्यक्ति है। स्वाध्याय और लेखन दोनो उनकी रुचि के विषय हें। शोध परक दृष्टिकोण के साथ ये साहित्य के क्षेत्र मे कार्यरत है। इन्होने केवल जैन आगम और तेरापथ साहित्य पर ही काम नहीं किया गीता, महाभारत, गाधी दर्शन आदि अनेक [illegible]गो पर इन्होने काफी काम किया है। दिन मे सतत् स्वाध्याय करते है, रात्रि मे एक बार सोकर उठने के बाद लगभग दो घटे लिखते हैं। इनकी इस कार्य शैली को अवस्था भी प्रभावित नही कर सकी है।

भगवा[illegible] महावीर के २५सौवे निर्वाण महोत्सव पर रामपुरियाजी द्वारा सकलित महावीर वार्ण पुस्तक का प्रकाशन हुआ। सरल भाषा मे हिदी अनुवाद साथ रहने से पुस्तक की [illegible]पयोगिता बढ गई। पाठको ने उसे पसद किया। अब उसका दूसरा सस्करण सामने आने [illegible]ाला है। पाठक महावीर-वाणी की गहराई मे उतरकर अपने जीवन को नई दिशा देते रह।

जैन विश्व भारती, लाडनू
५ जनवरी १९९७

गणाधिपति तुलसी

भूमिका

भगवान महावीर का जन्म ई० पू० ५९९ मे सुप्रसिद्ध वज्जी या लिच्छवी गणतंत्र की राजधानी वैशाली के क्षत्रिय कुण्डग्राम (बिहार) मे हुआ। उनके पिता राजा सिद्धार्थ उस समय के वज्जी गणराज्य के शासको मे एक थे।

राजकीय परिवार मे जन्म लेने तथा सभी प्रकार की सुख-सुविधा एव साधन-सामग्री उपलब्ध होने के बावजूद महावीर ने तीस वर्ष की आयु मे संसार-त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पॉच महाव्रतो को अगीकार कर उन्होने कठोर मुनि-जीवन की साधना की। आत्म-संयम, अप्रमाद (जागरूकता), अकषाय और समत्व की सतत् साधना उनके जीवन के अग थे। साधना मे आने वाले उपसर्ग और परीषहो को उन्होने समभाव से सहन किया। भूख, प्यास, ठण्ड, गर्मी, दश-मशक (मच्छर आदि के काटने) तथा अज्ञानी एव अनार्य लोगो के द्वारा दी गई बर्बर यातनाओ को भी महावीर ने सम्पूर्ण समभाव के साथ सहन किया। बारह वर्षो की इस साधना के बाद मे सर्वथा 'वीतराग' या 'जिन' बने तथा सम्पूर्ण निरावरण ज्ञान—केवलज्ञान (सर्वज्ञता) को उन्होने प्राप्त किया। वे जैन धर्म के २४वे तीर्थकर बने। जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म एक प्रागऐतिहासिक धर्म है तथा २३ तीर्थकर भगवान महावीर से पूर्व हो चुके थे।

भारत की सर्वसाधारण जनता को तीस वर्ष तक धार्मिक और आध्यात्मिक विषयो का उपदेश करने के बाद ७२ वर्ष की आयु मे पावा मे ई० पू० ५२७ मे भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। वे सभी बन्धनों और सांसारिक आवागमन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गये।

धर्म-सिद्धान्त

भगवान महावीर ने निम्न धर्म-सिद्धान्तो का अपने जीवन मे पालन किया और लोगो को उनका उपदेश दिया—

अहिसा . सभी प्राणियो और सभी जीवो को जीने का समान अधिकार है। सभी को जीवन पसद है और मृत्यु नापसद है। जब कोई किसी की हिसा करता है, तो वह अपने-आप की ही हिसा है। किसी भी प्राणी या जीव का हनन मत करो, किसी को घायल मत करो, किसी को दास मत बनाओ, किसी को पीडा मत दो, किसी का शोषण मत करो। सब के साथ मैत्री भाव रखो।

समानता सभी मनुष्य समान है। कोई भी जाति अन्य जातियो से ऊची नहीं है। कोई भी वर्ण अन्य वर्णो से ऊचा नहीं है। कोई भी रग अन्य रग से ऊंचा नहीं है। जाति, वर्ण, रग, लिग के आधार पर किए जाने वाले सारे के सारे भेद मनुष्य-कृत है। किसी को भी अपने से हीन मत समझो।

सत्य की सापेक्षता और सह-अस्तित्व सत्य अनेकान्तात्मक है—वहुपक्षी हे। एक कथन किसी एक दृष्टि से सत्य हे, तो उससे विपरीत कथन भी किसी अन्य दृष्टि से सत्य होता है। इसलिए दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणो के वीच भी सामजस्य की स्थापना का द्वार सदा खुला है। ऐकान्तिकदृष्टि को त्याग कर सभी के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व बनाए रखो।

आत्म-स्वातत्र्य तुम अपने भाग्य के निर्माता स्वय हो। तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो। अपने सभी कर्मो तथा उनके फलो के उत्तरदायी तुम स्वयं हो। अपने पुरुषार्थ के द्वारा अपने-आप को बन्धनो से मुक्त करो।

आत्मवाद आत्मा एक वास्तविकता है। उसका अस्तित्व शरीर से भिन्न हे। अनादि काल से प्रत्येक आत्मा जन्म-मृत्यु के आवर्त मे चक्कर लगा रही है। ससार-चक्र आत्मा के लिए दु खमय है। जो आत्मा जन्म-मृत्यु रूपी ससार-चक्र से मुक्त हो जाती है, वह हमेशा के लिए सारे दु खो को पार कर जाती है।

कषाय-मुक्ति कषाय (राग और द्वेष) आत्मा के साथ कर्म-पुद्‌गलो के वन्ध का मूल हेतु है। ये कर्म-पुद्‌गल बहुत ही सूक्ष्म भोतिक पदार्थ रूप हे। यह बन्ध ही आत्मा के दु ख का कारण है। क्रोध, मान, माया ओर लोभ—ये चार कषाय हे। इन वृत्तियो से विमुक्त होने वाला जीव, मोक्ष अर्थात् परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता हे।

साधना-मार्ग·

(१) सम्यग् ज्ञान—आत्म-तत्त्व का यथार्थ वोध।

(२) सम्यग् दर्शन—आत्मवाद के प्रति श्रद्धा।

(३) सम्यक् चारित्र—सयम-साधना अर्थात्—

(क) कषाय-जनित सम्पूर्ण प्रवृत्तियो का परित्याग। हिसा, असत्य, अप्रामाणिकता, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-आसक्ति—इन पाचो दुष्कर्मो का त्याग।

(ख) सयम के पालन मे सतत् जागरूकता।

(ग) सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे सम्पूर्ण समता।

(घ) सम्यक् तप—ध्यान, स्वाध्याय, उपवास आदि शुभ प्रवृत्तियो द्वारा आत्मशुद्धि।

वर्तमान युग मे सार्थकता

उक्त धर्म-सिद्धान्तो का प्रचार करते हुए भगवान महावीर ने जिन प्रवृत्तियो के विरोध मे आवाज उठाई, वे है—यज्ञ-याग मे होने वाले प्राणी-वध, दास-प्रथा, जातिवाद, स्त्रियो को धर्म-साधना से वचित रखना।

भगवान महावीर ने इस प्रकार की अनेक अमानवीय एव अन्यायपूर्ण प्रवृत्तियो का विरोध किया, जो सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे प्रचलित थी।

वर्तमान युग मे निम्नलिखित मूल्यो की सस्थापना के सदर्भ मे भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उक्त सिद्धान्तो की महत्ता व सार्थकता और भी अधिक है—

१ अहिसा और नि शस्त्रीकरण द्वारा विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति की स्थापना।

२ शोषण और हिसा-रहित सामाजिक-व्यवस्था।

३ परिग्रह-विसर्जन पर आधारित यथार्थ समाजवाद।

४ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के सिद्धान्तो के आधार पर विभिन्न धर्म-मतो, राजनैतिक दलो और जातीय (कौमी) विभागो के बीच सामजस्य की स्थापना।

५ रागद्वेषरहित समता की साधना पर आधारित आध्यात्मिक विकास द्वारा मानसिक शान्ति की प्राप्ति।

भगवान महावीर की वाणी को सकलित करने के पिछले वर्षो मे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए है। भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव महासमिति के प्रथम प्रकाशन के रूप मे महावीर वाणी का यह सकलन प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। अपने ढग के इस सुन्दर सकलन को तैयार करने मे श्री श्रीचद जी रामपुरिया ने जो अथक परिश्रम किया है, उसके लिए वे बधाई के पात्र है। यह ग्रन्थ दिगम्बर, श्वेताम्बर ग्रथो से सकलित वाणी के आधार पर तैयार किया गया है, अत इसका रूप सार्वजनीन है। मेरा विश्वास है कि सकलन अत्यन्त उपयोगी एव लोक कल्याणकारी सिद्ध होगा।

महावीर निर्वाण दिवस
३ नवम्बर, १६७५
दीपावली
सवत् २०३२

शान्तिप्रसाद जैन
कार्याध्यक्ष
भगवान महावीर २५००वा निर्वाण
महोत्सव महासमिति, नई दिल्ली।

प्राक्कथन

भगवान महावीर के अनुसार आत्मा शाश्वत है। ज्ञान और दर्शन उसके लक्षण है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख की शक्तियो से सम्पन्न है, पर कर्मो के आवरण के कारण सासारिक प्राणी मे वे प्रगट नहीं होतीं। भगवान् महावीर ने आवरण-विच्छिन्न सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की सिद्धि—उपलब्धि का मार्ग बताया।

सासारिक प्राणी के सुख-दु ख उसके स्वयकृत है—उसके किये हुए अच्छे-बुरे कृत्यो के परिणाम है, अत आत्मा को सत्प्रवृत्ति मे नियोजित करना चाहिए और दुष्प्रवृत्ति से निवृत करना चाहिए। कण्ठछेद करनेवाला शत्रु भी वैसा अहित नहीं करता जैसा दुष्प्रवृत्त आत्मा अपने-आप का करती है। इस भूमिका मे भगवान महावीर ने उपदेश दिया—अपने-आप के साथ ही युद्ध करो। बाह्य शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या सिद्ध होगा ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतने से ही परमसुख की प्राप्ति होगी।

अप्पाणमेव जुज्झाहि कि ते जुज्झेण बज्झओ ?
अप्पाणमेव अप्पाण जइत्ता सुहमेहए।।

आत्मा को शुद्ध रूप मे उपलब्ध करने का मार्ग भगवान महावीर के अनुसार है—सर्व पापो का त्याग, अस्रवो का निरोध, सवर की साधना। उन्होने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की युगपत् साधना से मोक्ष की उपलब्धि बताई है।

भगवान महावीर का उद्‌घोष था—"सच्च भगव"—सत्य भगवान् है। "सच्च लोकम्मि सारभूय"—सत्य लोक मे सारभूत है। यहॉ उन्होने वाचा-सत्य की बात नही कही है, परम सत्य की उपासना की चर्चा की हे। उन्होने मनुष्य-मात्र को सत्य के अन्वेषण मे लगने की प्रेरणा दी—अप्पणा सच्चमेसेज्जा।"

सत्य की पूजा और भय विरोधी तत्त्व है। भगवान् महावीर ने सत्य की भावनाओ मे कहा है—"न भाइयव्व"—भय मत करो। "भीतो य भर न नित्थरेज्जा"—भयभीत मनुष्य सत्य का भार नहीं ढो सकता। "सप्पुरिसनिसेविय च मग्ग भीतो न समत्थो अणुचरिउ"—भयभीत मनुष्य सत्य के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर का उपदेश था—"मेत्ति भूएसु कप्पए" प्राणिमात्र के साथ मैत्री साधो। "न विरुज्झेज्ज केणइ"—किसी के साथ वैर-विरोध मत करो। सब जीवो के प्रति सयम ही अहिसा है—"अहिसा निउण दिट्‌ठा सव्वभूएसु सजमो।" "समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे"—शत्रु हो या मित्र—जगत् के सब जीवो के प्रति समभाव की साधना

करो। भगवान महावीर की अहिसा मनुष्यो तक ही सीमित नहीं थी। उसकी परिधि मे स्थावर प्राणी—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति तथा कीट-पतंग आदि क्षुद्र त्रस प्राणी भी समाहित थे। "अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए"—जीवो के जितने प्रकार है सबको आत्मा के समान मानो।

भगवान् महावीर ने कहा—"सव्वत्थ विरइ विज्जा, सति निव्वाणमाहियं"—त्रस, स्थावर सब जीवो की हिसा से विरत होना अहिसा है।

भयभीत प्राणी के लिए जैसे शरण-स्थल, पक्षी के लिए जैसे गगन, प्यासे के लिए जैसे जल, भूखे के लिए जैसे भोजन, समुद्र मे डूबते हुए के लिए जैसे पोतवाहन, रोगी के लिए जैसे औषधि, अटवी मे भटकते हुए के लिए जैसे सार्थवाह का साथ—उसी तरह अहिसा मनुष्य के लिए कल्याणकारी है।

ब्रह्मचर्य के तिषय मे उन्होने कहा—जो ब्रह्मचर्य का पालन करते है वे मोक्ष पहुचने मे सबसे आगे रहते है—"इत्थिओ जे ण सेवति आदिमोक्खा हु ते जणा।" ब्रह्मचर्य ध्रुव, नित्य और शाश्वत धर्म है—"एस धम्मे धुवे निअए सासए।"

उन्होने धन-लिप्सा पर प्रहार करते हुए कहा था—प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोक मे अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे—"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था।" "जब तक मनुष्य कामिनी, काचन आदि सचित्त, अचित्त पदार्थो मे परिग्रह—आसक्ति रखता है या उसका अनुमोदन करता है तब तक वह दु ख से मुक्त नहीं हो सकता।"

इस तरह भगवान् महावीर की वाणी मे उन शाश्वत सत्यो का मार्मिक प्रतिपादन है, जो किसी भी युग मे मानव-मात्र के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है।

भगवान महावीर की आस्था आन्तरिक शुद्धि पर थी, केवल बाह्य शुद्धि मे उनको विश्वास नही था। उन्होने कहा—जो मार्ग केवल बाह्य शुद्धि का है, उसे कुशल पुरुष सुदृष्ट नही कहते—"ज मग्गहा बाहिरिय विसोहि न त सुदिट्ठ कुसला वयति।"

उन्होने पशु-हिसामय यज्ञादि का विरोध किया। जातिवाद के विरुद्ध उन्होने कहा—"न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त (बडा)।" "जाति की विशेषता नहीं। विशेषता तप की है।" मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी कर्म से ही।" "जो दुराचारी है उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नहीं हो सकते। सुआचरित विद्या और आचरण—धर्म के सिवा अन्य कुछ भी रक्षा नही कर सकते।"

भगवान् महावीर अपने युग के बहुत बडे दार्शनिक चिन्तक रहे। उनकी निरूपण शैली सम्पूर्णत वैज्ञानिक रही। उन्होने अनेकान्त दृष्टि का प्रसार कर सहिष्णुता और व्यापक दृष्टिकोण का पाठ पढाया।

इस ग्रथ मे भगवान् महावीर के मार्मिक उपदेशो का सग्रह है। प्रारभ के १ से ३१ तक के परिच्छेदो मे महावीर की सार्वभौम शिक्षाओ का सग्रह है, जो निर्विशेषरूप से मानव-मात्र के लिए आज भी उतनी ही मार्ग-दर्शक है जितनी २५०० वर्ष पूर्व रहीं। किसी भी जाति और धर्म के व्यक्ति के लिए, फिर वह गृहस्थ हो या गृह-त्यागी, ये उपदेश अमृतमय एव कल्याणप्रद हैं।

३२ से ३५ तक के परिच्छेदो मे उस वाणी का समावेश है जो जैन प्रव्रज्या की विशेषता—जैन श्रमण के महाव्रतो, उत्तर गुणो आदि पर प्रकार डालती है। जैन श्रमण-जीवन की अखण्ड, सूक्ष्म अहिसा-साधना, दुर्धर सयम-उपासना और कठोर साधनचर्या का अतरग परिचय इससे प्राप्त होता है।

३६वे परिच्छेद मे श्रमणो के लिए उपदेशो का सग्रह है, जिसमे सर्व-साधारण के लिए उपयोगी अनेक गभीर शिक्षा-कण गर्भित है।

३७वे परिच्छेद से महावीर ने सर्वग्राही निरीश्वरवादो चिरतन जैन दर्शन का जिस रूप मे प्रतिपादन किया, उसका सहज बोध होता है।

अन्तिम ३८वे परिच्छेद मे भगवान् महावीर ने अपने युग की बुराइयो और जडताओ के विरुद्ध जो तुमुल सग्राम किया, उसकी सहज झाकी है।

सन् १९५३ मे प्रकाशित 'तीर्थकर' नामक मेरी पुस्तक मे भगवान महावीर के प्रवचनो का विस्तृत सग्रह प्रकाशित हुआ था, जिसे सत विनोवा ने सर्वोत्तम बताया था। वह केवल श्वेताम्चर आगम-ग्रन्थो पर ही आधारित था। प्रस्तुत ग्रन्थ श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो स्रोतो से सकलित वाणी से ग्रथित है, अत अधिक व्यापक है।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने मे जिन-जिन ग्रथो का अवलोकन किया या आधार लिया है, उनकी सूची ग्रथ के अन्त मे दे दी गई है। मै सभी लेखको और प्रकाशको के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हू।

स्वर्गीय मूर्धन्य विद्वान, जैन विद्या मनीषी डा० ए० एन० उपाध्ये—जिनके सद्य आकस्मिक निधन से जैन समाज की ही नहीं सारे विद्वान्-जगत की अपूर्ति-कर क्षति हुई है—के प्रति किन शब्दो मे अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करू ? उन्होने तथा पडित दलसुख भाई मालवणिया ने इस सकलन के प्रारूप का अवलोकन कर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, उसके लिए मैं इन दोनो महानुभावो का हृदय से कृतज्ञ हू। भाई श्री यशपाल जैन ने भाषा सम्बन्धी सुझाव देकर सग्रह को परिमार्जित करने मे सहयोग दिया। अन्त मे भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव महासमिति के अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई लालभाई ने सारी पाण्डुलिपि की छान-बीन कर अपने सुझाव एव सशोधन भेजे तथा इस सकलन को प्रकाशित करने की स्वीकृति दी। इसके लिए मै उनका भी हृदय से आभारी हू।

कार्याध्यक्ष साहू श्री शातिप्रसाद जी जैन की ओर से जो सौजन्य प्राप्त हुआ उसे नहीं भूल सकता।

महासमिति के महासचिव श्री अक्षयकुमार जैन एवं कार्यालय मंत्री श्री एल० एल० आच्छा के हार्दिक सहयोग विना इस दुस्तर कार्य का पार पाना कठिन होता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद।

महासमिति द्वारा पाण्डुलिपि अक्टूबर के द्वितीय सप्ताह मे ही प्रेस को दी जा सकी। पुस्तक के समय पर निकालने के लिए एक महीने से भी कम समय हाथ में रहा। अत स्खलनाओ के लिए पाठक क्षमा करे और अपने सुझावो से उपकृत।

श्रीचन्द रामपुरिया

६बी, मदन चटर्जी लेन,
कलकत्ता ७।
महावीर निर्वाण दिवस
३ नवम्बर, १६७५
दीपावली स० २०३२

विषय-सूची

संकेत-सूची

अनु०—अनुयोगद्वार
आ०—आचाराग
आ० चू०—आचाराङ्ग चूला
आव—आवश्यक
आ० नि०—आवश्यक निर्युक्ति
इसि०—इसिभासियम्
उ०—उत्तराध्ययन
औ० औपपातिक
कुन्द० अ०—कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा
गो० जी० गोम्मट्टसार जीव-काड
द०—दशवैकालिक
द० पा०—दर्शनपाहुड
दश भ०—दशभक्ति
दशा०—दशाश्रुतस्कन्ध
द्रव्य स०—द्रव्य-सग्रह
द्वा० अ०
द्वा० अनु० } —द्वादशानुप्रेक्षा (कार्तिकेय)
ध०—धवला (षट्खडागम)
नि० चू०—निशीथ चूर्णि
नि० सा०—नियमसार
पच० प्र०—पच प्रतिक्रमण
पच० स०—पचसग्रह
पचा०—पचास्तिकाय
प्रव०
प्र० सा० } —प्रवचनसार
बो० पा०—बोधपाहुड
भ० आ०
भग० आ० } —भगवती आराधना
भगवई—भगवती
भा०पा०—भावपाहुड
भक्त० परि०—भक्त-परिज्ञा
महा० नि०—महानिशीथ
मू०
मू० आ० } —मूलाचार (वट्टकेर)
मूल०—मूलाचार (कुन्दकुन्द)
मो० पा०—मोक्षपाहुड
र० सा—रयणसार
वि० आव० भा०—विशेष आवश्यक भाष्य
शी० पा०—शीलपाहुड
स० सा०—समयसार
स० सु०—समणसुत्त
सू०—सूत्रकृताग
सू० पा०—सूत्रपाहुड

महावीर वाणी

संकलनकर्त्ता : श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक भगवान महावीर २५०० वीं निर्वाण महोत्सव महासमिति
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली।

भगवान् महावीर की पचीससौवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जैन विद्या मनीषी श्री श्रीचन्द रामपुरिया द्वारा संकलित 'महावीर वाणी' का प्रकाशन एक अभाव की पूर्ति करने वाला सिद्ध हुआ है। विगत पांच दशको में भगवान् महावीर की वाणी के अनेक संकलन प्रकाश मे आए किन्तु उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जो समग्र जैन समाज मे व्यापक प्रसार पा सके। यही कारण है कि उन संकलनो की स्थिति उसी क्षेत्र के ईर्द-गिर्द रही जहां से उनका उद्‌गम हुआ था। स्वयं रामपुरियाजी का भी एतद्‌विषयक एक अन्य सकलन सन् १९५३ मे 'तीर्थंकर वर्धमान' के नाम से प्रकाशित हुआ था। यद्यपि वह महत्त्वपूर्ण श्रम सम्पन्न और अधिकृत था एवं आचार्य विनोबाभावे ने उसे उस समय की एक सर्वोत्तम कृति के रूप मे अभिहित किया था किन्तु वह मात्र श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो पर आधारित होने के कारण समग्र जैन समाज मे सम्मत नहीं बन सका। भगवान् महावीर की पचीससौवीं निर्वाण शताब्दी पर जैनो के सभी सम्प्रदायो ने कुछ सर्व सम्मत कार्यक्रम निर्णीत किए। उन कार्यक्रमो मे साहित्य लेखन और प्रकाशन भी एक अंग था। उसकी क्रियान्विति की निष्पत्ति ही प्रस्तुत कृति है। इसमे श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी ग्रन्थो का सार संकलित है अत इसका समग्र जैन समाज में व्यापक प्रसार हो सकेगा, ऐसी आशा सहज ही की जा सकती है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के चौबीसवे तीर्थंकर थे। उन्होने आत्मदर्शन-से अपनी अनुभूत वाणी मे कहा—जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आया, त पडुच्च पडिसंखाए—जो आत्मा है वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

महावीर ने सत्य का सन्धान किया और अपनी अनुभव पुरस्सर वाणी मे कहा—'सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति'। जो सत्य की आज्ञा मे उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है। इसके साथ उन्होने यह भी कहा कि सत्य का भय से कोई अनुबन्ध नहीं होता। भयभीत व्यक्ति कभी सत्य को नहीं पा सकता। 'सप्पुरिसनिसेविय च मग्ग भीतो न समत्थो अणुचरिउं'।

ज्ञान और शील मे इतरेतर विरोधाभास नहीं है किन्तु यथार्थ की भाषा यह है–'णवरि य सीलेण विणा विसया णाण विणासति'–शील के बिना विषय ज्ञान का विनाश कर देते है। भगवान् महावीर ने इसीलिए कहा–'सील जेसु सुसील सुजीविद माणुस तेसि'–जिनमे सुन्दरशील है, उनका मनुष्य जीवन सुजीवित है।

जातिवाद की अतात्विकता को व्यक्त करते हुए भगवान् महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व अपनी क्रान्तिवाणी मे कहा था–

णीचो वि होइ उच्चो, उच्चो णीचत्तणं पुण उवेई।
जीवाणं खु कुलाइं, पधियरस्स व विस्समताणं।।

नीच उच्च हो जाता है और उच्च पुन नीचत्व को प्राप्त कर लेता है। जीवो के लिए कुल (जाति) पथिको के विश्राम-स्थल की तरह है।

जैन धर्म मे विनय परम्परा को बहुमान प्राप्त है। गुरु के प्रति विनय शिष्य का आत्मधर्म है। भगवान् महावीर ने इस तथ्य को बहुत स्पष्टता से प्रकट करते हुए कहा–'न यावि मोक्खो गुरु हीलणाए'–गुरु की अवहेलना से मोक्ष प्राप्त नही होता।

भगवान् महावीर ने जनता की बात को जनभाषा मे प्रस्तुत किया। आमजनता रूपक और उदाहरण की शैली मे ही किसी बात को अच्छे प्रकार से हृदयंगम करती है। जनभाषा के उदाहरण भी महावीर की वाणी मे सुन्दर ढग से निरूपित हुए है। विज्ञ और अज्ञ शिष्य के प्रति कहा गया है–

रमए पंडिए सासं, हयं भद्द व वाहए।
बालं सम्मइ सासतो, गलियस्सं व वाहए।।

विज्ञ शिष्यो पर शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है, जिस प्रकार भद्र घोडे पर शासन करने वाला वाहक। मूर्ख शिष्यो को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है, जिस प्रकार गलि अश्व का वाहक।

प्रस्तुत सकलन के ३८ परिच्छेद हैं। इनमे धर्म, दर्शन, तत्त्व, व्यवहार, शील, चर्या आदि जीवनस्पर्शी मौलिक सूत्रो का सग्रह किया गया है। विषय और सामग्री दोनो का ही चयन मौलिक और अर्थपूर्ण है। उक्त सदर्भो से महावीर वाणी का गरिमा-वैशिष्ट्य प्रकट होता है। एक ही सकलन मे इतनी अधिक सामग्री का उपलब्ध होना सचमुच ही रामपुरियाजी के पुरुषार्थ का द्योतक है। अब तक के प्रकाशित महावीर वाणी के अन्य सकलनो मे यह सबसे बडा है। भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव महासमिति की साहित्य प्रकाशन योजना के अन्तर्गत यही एक कृति है जो जनता के हाथो मे पहुच सकी। केवल जैन ही नही अपितु अन्य व्यक्तियो के लिए भी महावीर को समझने मे यह कृति सहायक हो सकेगी ऐसी आशा है। श्री श्रीचद रामपुरिया इस सकलन के लिए वास्तव मे ही साधुवाद के पात्र है।

मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'

महावीर वाणी

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाण

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूण।।

: १ :

अनुत्तर मंगल

१. नमोक्कारो

नमो अरिहताण। नमो सिद्धाण। नमो आयरियाण।
नमो उवज्झायाण। नमो लोए सव्वसाहूण।।

(पच० प्र० सू० १)

अरिहतो को नमस्कार, सिद्धो को नमस्कार, आचार्यो को नमस्कार, उपाध्यायो को नमस्कार, लोक मे सर्व साधुओ को नमस्कार।

२. चत्वारि मंगल

१ चत्तारि मंगलं,—अरिहता मगल, सिद्धा मगल,
साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मगल।

(लोक मे) चार मंगल रूप है—अर्हन्त भगवान् मगल रूप है, सिद्ध भगवान् मगल रूप हैं, साधु मगल रूप है, केवलज्ञानी भगवान् द्वारा कहा गया धर्म मगल रूप है।

२. चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

लोक मे चार उत्तम हैं—अरिहत भगवान् लोकोत्तम है, सिद्ध भगवान् लोकोत्तम हैं, साधु[1] लोकोत्तम है और केवलज्ञानी भगवान् द्वारा कहा गया धर्म लोकोत्तम है।

३ चत्तारि सरण पवज्जामि— अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि, केवलिपन्नत्त धम्मं सरण पवज्जामि।

(पच० प्र० सथारा)

मै चार की शरण स्वीकार करता हूं,—अरिहत भगवान् की शरण लेता हू, सिद्ध भगवान् की शरण लेता हूँ, साधु की शरण लेता हू, केवलज्ञानी भगवान् द्वारा कहे गये धर्म की शरण लेता हू।

---

१ यहाँ आचार्य और उपाध्याय 'साधु' शब्द मे गर्भित है।

३. पच परमेष्ठी स्वरूप

१ अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहू पंच परमेट्ठी। (मो० पा० १०४)

अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पाच परमेष्ठी है।

२ मग्गे अविप्पणासो आयारे विणयया सहायत्त।
पचविहनमुक्कार करेमि एएहि हेऊहि।। (आव० नि० ८६७)

अरिहत भगवान् मोक्ष के सत्य मार्ग के दर्शक है, सिद्ध भगवान् अविनाशी हैं, आचार्य स्वय आचार का पालन करते हुए अन्यों से आचार का पालन कराते हैं, उपाध्याय स्वय विनीत है ओर दूसरो को विनीत वनाने वाले हैं, साधु मोक्ष के साधको की सहायता करने वाले है—इन कारणो से में पच परमेष्ठी को नमस्कार करता हूं।

३ अडवीइ देसिअत्तं तहेव निज्जामया समुद्दम्मि।
छक्कायरक्खणट्ठा महगोवा तेण वुच्चंति।। (आव० नि० ८६८)

ससार—रूप अटवी मे अरिहत भगवान् मार्ग वताने वाले हैं, ससार-रूप समुद्र मे अरिहत भगवान् निर्यामक (जीवन-रूप नैया को पार कराने वाले) हैं। छह जीवनिकाय के रक्षण करने वाले हैं, इसलिये अरिहत भगवान् महागोप भी कहलाते हैं।

४ ससाराअडवीए मिच्छत्तऽन्नाणमोहिअपहाए।
जेहि कय देसिअत्तं ते अरिहते पणिवयामि।। (आव० नि० ९०६)

मिथ्यात्व ओर अज्ञान के अधकार से जहॉ मार्ग का पता ही नहीं लगता, ऐसी ससार-रूप अटवी मे जिन्होने मार्ग प्रदर्शित किया उन अर्हन्तो को मे नमस्कार करता हू।

५ इदिय-विसय-कसाये परीसहे वेयणाओ उवसग्गे।
एए अरिणो हंता अरिहता तेण वुच्चति।।
(आव० नि० ९१३)

विषयासक्त इन्द्रियॉ, विषय, कषाय-क्रोध-अहकार-माया-लोभ, परीषह, वेदना ओर उपसर्ग—इन शत्रुओ का हनन करते है, इस कारण ये अरिहत भगवान् कहलाते है।

६ अट्ठविह पि य कम्म अरिभूय होइ सव्वजीवाण।
तं कम्ममरिं हता अरिहता तेण वुच्चंति।। (आव० नि० ९१४)

आठ प्रकार का कर्म सर्व जीवो का वडा शत्रु है। आठ प्रकार के कर्मरूपी शत्रु को ये नष्ट करते हैं, अत ये अरिहत भगवान् कहलाते है।

७ अरिहति वदण-नमसणाइ अरिहति पूय-सक्कार।
सिद्धिगमण च अरिहा अरहता तेण वुच्चति[1]।। (आव० नि० ६१५)

जो वन्दना और नमस्कार के योग्य है, पूजा और सत्कार के योग्य है ओर मोक्ष जाने के योग्य है, वे अरहत भगवान् कहलाते है।

८ अरिहंति णमोक्कार अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए। (मू० आ० ५०५)

जो नमस्कार करने योग्य है, जो पूजा के योग्य है और जो देवो मे उत्तम है, वे अर्हन्त है।

९ जियकोहमाणमाया जियलोहा तेण ते जिणा होति ।
अरिणो हता रय हता अरिहता तेण वुच्चति।।[2]
(आव०नि० १०८३)

क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायो को जीत लेने के कारण जिन है और रागद्वेषादि शत्रुओ, कर्मरूपी रज व संसार के नाशक होने के कारण अरिहत या अरहत कहलाते है।

१० अरिहतनमुक्कारो जीव मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाभाए।। (आव० नि० ६१७)

अरिहतो को भाव से किया हुआ नमस्कार जीव को अनन्त जन्म-मरणो की परपरा से—ससार-परिभ्रमण से मुक्त करता है और पुन बोधि (सम्यग् ज्ञान) की प्राप्ति का कारण बनता है।

११ अरिहतनमोक्कारो धन्नाण भवक्खय कुणताण।
हिअय अणुम्मुअतो विसुत्तियावारओ होइ।। (आव० नि० ६१८)

धन्यवाद के पात्र जिन मनुष्यो का हृदय भगवान् अर्हन्तो के प्रति नमस्कार से निरतर सुवासित है, उनके हृदय मे दुर्ध्यान प्रवेश नहीं करता।

१२ अरिहतनमुक्कारो एव खलु वण्णिओ महत्थुत्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे अभिक्खण कीरए बहुसो।। (आव० नि० ६१९)

अरिहत भगवान् को नमस्कार द्वादशागी का सार होने से महान् अर्थ वाला है, क्योकि मृत्यु उपस्थित होने पर इस नमस्कार का ही बार—बार स्मरण किया जाता है।

---

१ अरिहति सिद्धिगमण, अरहता तेण वुच्चति। (मू० आ० ५६२)

२ हता अरिं च जम्म अरहता तेण वुच्चति। (मू० आ० ५६१)

१३ अरिहतनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाणं च सव्वेसि पढमं हवइ मंगलं।। (आव० नि० ६२०)

अरिहत भगवान् को किया हुआ नमस्कार सर्व पापो का सर्वथा नाश करने वाला है और सर्व मगलो मे प्रथम मंगल है।

१४ णट्ठट्ठकम्मबधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिहा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।। (नि० सा० ७२)

आठ कर्मो के बन्धन को जिन्होने नष्ट किया है, आठ महागुणो सहित, परम, लोकाग्र मे स्थित और नित्य ऐसे वे सिद्ध भगवान् होते है।

१५ निच्छिन्नसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बंधण-विमुक्का।
अव्वावाहं सोक्खं अणुहवंती सया कालं।। (आव० नि० ६८२)

जिनके सर्व दु ख नष्ट हो चुके हैं, जन्म-जरा-मृत्यु ओर कर्मवध से जो सर्वथा मुक्त है—ऐसे सिद्ध भगवान् सदा काल अव्यावाध सुख का अनुभव करते हैं।

१६ सिद्धाण नमुक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाभाए।। (आव० नि० ६८३)

सिद्ध भगवान् को भाव से किया हुआ नमस्कार जीव को अनन्त भवो की परपरा से मुक्त करता है, तथा पुन बोधि की प्राप्ति का कारण वनता हे।

१७ सिद्धाण नमुक्कारो धन्नाणं भवक्ख्यं कुणंताणं।
हिअय अणुम्मुअतो विसुत्तिआवारओ होइ।। (आव० नि० ६८४)

धन्यवाद के पात्र जिन मनुष्यो का हृदय सिद्धो के प्रति नमस्कार से सदा सुवासित है, उनके हृदय मे दुर्ध्यान प्रवेश नहीं कर सकता।

१८ सिद्धाण नमुक्कारो एवं खलु वण्णिओ महत्थुत्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे अभिक्खण कीरए बहुसो।। (आव० नि० ६८५)

सिद्ध भगवान् को नमस्कार द्वादशागी का सार होने से महान् अर्थ वाला है, क्योकि मृत्यु उपस्थित होने पर इसी का वार-वार स्मरण करने मे आता है।

१६ सिद्धाण नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि बिइयं हवइ मगल।। (आव० नि० ६८६)

सिद्ध भगवान् को किया हुआ नमस्कार सर्व पापो का सर्वथा नाश करने वाला है और सर्व मगलो मे दूसरा मगल है।

२० पचविह आयार आयरमाणा तहा पभासता।
आयारं देसता आयरिया तेण वुच्चति।। (आव० नि० ६८८)

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—इन पॉच आचारो का जो स्वयं पालन करते है, दूसरो को कथन करते है और स्वय आचरण द्वारा दूसरो को प्रदर्शित करते है, वे साधु आचार्य परमेष्ठी कहलाते है।

२१. पवयणजलहिजलोयरण्हायामलसुद्धबुद्धिसुद्ध छावासो।
मेरु व्व णिप्पकपो सूरो पचाणणो वण्णो।।
देस-कुल-जाइसुद्धो सोमगो सगभंगउम्मुक्को।
गयण व्व निरुवलेवो आयरिओ एरिसो होइ।। (ध० १, १, १)[1]

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य मे स्नान करने से अर्थात् जिनागम के गभीर अध्ययन और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यको का पालन करते है, जो मेरु के समान निष्कप है, जो शूरवीर हैं, जो सिह के समान निर्भीक है, जो देश, कुल और जाति से शुद्ध है, जो सौम्यमूर्ति है, जो सग से रहित है, जो आकाश के समान निर्लेप है, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते है।

२२ पंचाचारसमग्गा पचिदियदतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगभीरा आयरिया एरिसा होति।। (नि० सा० ७३)

पचाचारो से परिपूर्ण, पचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दमन करने वाले, धीर और गुणगभीर ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते है।

२३. आयरियनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि तइय हवइ मगल।। (आव० नि० ६६२)

आचार्य परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार सर्व पापो का प्रकर्ष से नाश करने वाला है और सर्व मगलो मे तीसरा मगल है।

२४ बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ देसिओ बुहेहि।
त उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चति।। (आव० नि० ६६५)

बारह अग जो जिन देव ने कहे है उनको पण्डित जन स्वाध्याय कहते है। उस स्वाध्याय का उपदेश करते है, इसलिए वे मुनि उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते है।

२५ रयणत्तयसजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कखभावसहिया उवझाया एरिसा होति।। (नि० सा० ७४)

रत्नत्रय से सयुक्त, जिन-कथित पदार्थो के उपदेशक, शूरवीर और निराकाक्ष-भाव सहित ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

---

१ पृ० ४८।

२६ चोद्दसपुव्वमहोयहिमहिगम्म सिवत्थिआ सिवत्थीण।
सीलधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झायो।। (ध० १, १, १)[1]

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र मे प्रवेश करके अर्थात् जिनागम का अभ्यास करके मोक्ष-मार्ग मे स्थित हे तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरो अर्थात् मुनियो को उपदेश देते है, उन मुनीश्वरो को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हे।

२७ उवज्झायनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि च उत्थ हवइ मगल ।। (आव० नि० १००१)

उपाध्याय परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार सर्व पापो का प्रकर्ष से नाश करने वाला है और सर्व मगलो मे चौथा मगल है।

२८ निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहति साहुणो।
समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो।। (आव० नि० १००४)

मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले योगो को—रत्नत्रय को जो साधु सर्वकाल अपनी आत्मा से जोडे ओर सर्व जीवो मे समभाव को प्राप्त हो, वे मुनि भाव-साधु कहलाते हे।

२६ दसण-नाणसमग्ग मग्ग मोक्खस्स जो हु चारित्त।
साधयदि णिच्चसुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स।। (द्रव्य० स० २२१)

जो दर्शन ओर ज्ञान से पूर्ण एव मोक्ष के मार्गभूत सदा शुद्ध चरित्र को साधते हे वे मुनि साधु परमेष्ठी है। उनको मेरा नमस्कार हो।

३० विसयसुहाणिअत्ताण विसुद्धचारित्तनिअमजुत्ताण।
तच्चगुणसाहयाण सहाय[2] किच्चुज्जयाण नमो।।(आव० नि० १००६)

विषय-सुख से जो निवृत्त हो गये है, विशुद्ध चारित्र और अभिग्रह आदि नियमो से जो युक्त हैं, क्षमा आदि तात्त्विक गुणो के जो साधक हे और दूसरे साधको को सहाय करने मे एव मोक्ष के साधक कर्तव्यो मे जो निरतर उद्यमी हे, ऐसे साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार हो।

३१ साहूण नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि पचम हवइ मगल।। (आव० नि० १०११)

साधु परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार सर्व पापो का सर्वथा नाश करने वाला हे ओर सर्व मगलो मे पॉचवॉ मगल है।

---

१ पृ० ३२।

२ साहण—पाठान्तर।

४. पच परमेष्ठी-भक्ति

१ ते अरिहता सिद्धाऽऽयरिओवज्झायसाहवो नेया।
जे गुणमयभावाओ गुणा व पुज्जा गुणत्थीण।। (वि० आव० भा० २६४२)

अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये ज्ञानादि गुण सहित है। अतएव गुणाभिलाषी भव्यात्माओ के लिए ये मूर्तिमान गुणो की तरह पूज्य है।

२ सवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मदरोव्व णिक्कपा।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भव णत्थि ससारे।। (भग० आ० ७४५)

जिसकी जिन-भक्ति सवेग (ससार-भय) से उत्पन्न, माया, मिथ्यात्व ओर निदान (फल पाने की कामना)—इन तीन प्रकार के शल्यो से रहित ओर सुमेरु पर्वत की तरह निष्कप है, उसको ससार मे भय नहीं है।

३. एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइ णिवारेउ।
पुण्णाणि य पूरेदु आसिद्धिपरपरसुहाण।। (भग० आ० ७४६)

अकेली ही वह जिन-भक्ति दुर्गति के निवारण करने मे समर्थ है। वह प्रचुर पुण्य को उत्पन्न करती है ओर मुक्ति की प्राप्ति तक सुखो का कारण बनी रहती हे।

४ विज्जा वि भत्तिवतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य।
किह पुण णिव्वुदिबीज सिज्झहिदि अभत्तिमतस्स।।
(भग० आ० ७४८)

विद्या भी भक्ति-सम्पन्न के ही सिद्ध होती हे और फल देती हे, फिर भक्तिरहित मनुष्य के निर्वाण के बीजरूप ज्ञानादि की कैसे सिद्धि हो सकती है?

५ तेसि आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति।
धत्ति पि सजमतो सालि सो ऊसरे ववदि।। (भग० आ० ७४६)

जो मनुष्य सयम मे दृढ होते हुए भी सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओ के नायक पच-परमेष्ठी की भक्ति नहीं करता वह ऊसर जमीन मे चावल के बीज बोता है।

६ विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादय हवदि वास।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदसणतवाण।।
(भग० आ० ७५१)

विधिपूर्वक बोये हुए बीज की जैसे वर्षा से फल रूप मे उत्पत्ति होती है, वेसे ही अरहत इत्यादि की भक्ति से ज्ञान, चारित्र, दर्शन ओर तपरूपी फल की उत्पत्ति होती है।

१. मा पमायए[1]

१ दुमपत्तए पण्डुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : १)

जैसे रात्रि-समूह के बीतने पर वृक्ष का पक्का पीला पत्ता झड जाता है, उसी तरह मनुष्य-जीवन भी (आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है)। इसलिए हे गोतम! समय[2]-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीविय समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : २)

जेसे कुश की नोक पर लटका हुआ ओस-विन्दु थोडी ही देर टिकता है, वैसे ही मनुष्य-जीवन भी। इसलिए हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

३. इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं समय गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० . ३)

आयु स्वल्प है और जीवन वहुत विघ्नो से भरा है। अत तू पूर्व-सचित कर्म-रूपी रज को शीघ्र दूर कर। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

४. दुलहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिण।
गाढा य विवाग कम्मुणो समय गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० ४)

निश्चय ही मनुष्य-भव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियो को बहुत दीर्घकाल के बाद मिलता है। कर्मो के फल बडे गाढ होते हैं। इसलिए हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

५. एवं भवससारे ससरइ सुहासुहेहि कम्मेहि।
जीवो पमायबहुलो समय गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० . १५)

---

१ भगवान महावीर का अपने मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम को सवोधित यह उपदेश सभी साधको के लिए अत्यन्त मननीय और उपादेय है।

२ जैन दर्शन के अनुसार काल का सूक्ष्मतम विभाग 'समय' कहलाता है। काल की यह इकाई 'क्षण' से अति सूक्ष्म है।

इस प्रकार प्रमादबहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मो द्वारा जन्म-मृत्युमय ससार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए हे गौतम। तू समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

६ धम्म पि हु सद्दहन्तया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समय गोयम्। मा पमायए।। (उ० १० २०)

उत्तम धर्म मे श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करने वाले दुर्लभ है। इस लोक मे बहुत सारे लोक काम-गुणो[1] मे मूर्च्छित रहते है। इसलिए हे गौतम। तू समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

७ परिजूरइ ते सरीरय केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले[2] य हायई समय गोयम। मा पमायए।। (उ० १० २१)

दिन-दिन तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक-पक कर श्वेत होते जा रहे है और श्रोत्र (ऑख, नाक, जीभ और स्पर्श) का पूर्व बल घटता जा रहा है। इसलिए हे गौतम। समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

८ परिजूरइ ते सरीरय केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई समय गोयम। मा पमायए।। (उ० १० २६)

जैसे-जैसे दिन बीत रहे है, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक-पक कर श्वेत होते जा रहे है और पूर्व सर्व-बल क्षीण होता जा रहा है। इसलिए हे गौतम। समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

६ अरई गण्ड विसूइया आयका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धसइ ते सरीरय समय गोयम। मा पमायए।।
(उ० १० २७)

अरति, फोडा-फुन्सी, विसूचिका तथा नाना प्रकार के घातक रोग तेरे शरीर को आक्रात कर रहे है। उनसे तेरा शरीर बल-हीन होकर ध्वस को प्राप्त हो रहा है। इसलिए हे गौतम। समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१० वोछिन्द सिणेहमप्पणो कुमुय सारइय व पाणिय।
से सव्वसिणेहवज्जिए समय गोयम। मा पमायए।। (उ० १० २८)

जैसे शारद-कमल अपने ऊपर से जल को गिरा देता है, वैसे ही तू ही अपने स्नेह (मोह) को व्युच्छिन्न कर। पूर्व सारे स्नेह से मुक्त हो निर्लिप्त बन। हे गौतम। समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

---

१ इन्द्रिय-विषय।

२ 'सोयबल'—श्रोत्रेन्द्रिय बल। इसके आगे की २२ से लेकर २५ तक की गाथाओ मे क्रमश चक्षु नाक, जिह्वा और शरीर बल के द्योतक शब्दो का प्रयोग है। सक्षेप के लिए इस २१वीं गाथा के अनुवाद मे उपलक्षण रूप से सर्व इन्द्रियो के नाम दे दिए है।

११ अवसोहिय कण्टगापह ओइण्णो सि पह महालय।
गच्छसि मग्ग विसोहिया समयं गोयम ! मा पमायए।।(उ० १० : ३२)

कण्टकाकीर्ण पथ को छोडकर तू महापथ पर आया है। इस महामार्ग का ध्यान रखते हुए चल। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१२ अबले जह भारवाहए मा मग्गे विसमे वगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : ३३)

जैसे निर्बल भारवाहक विषम मार्ग मे प्रवेश कर बाद मे पछताता है, वैसा तेरे साथ न हो। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१३ तिण्णो हु सि अण्णव महं किं पुण चिट्ठसि तीर मागओ।
अभितुर पार गमित्तए समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : ३४)

महान् समुद्र तो तू तैर चुका। अब किनारे आकर क्यो स्थिर है ? पार पहुँचने के लिए त्वरा कर। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१४. अकलेवरसेणिमुस्सिया सिद्धि गोयम लोय गच्छसि।
खेम च सिव अणुत्तर समय गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० . ३५)

सिद्ध पुरुषो की श्रेणी[1] के अनुसरण से तू क्षेम, कल्याणयुक्त और श्रेष्ठतम सिद्धिलोक को प्राप्त करेगा। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१५ बुद्धे परिनिव्वुडे चरे गामगए नगरे व सजए।
सन्तिमग्ग च बूहए समय गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० ३६)

तू गॉव मे या नगर मे सयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति-मार्ग को बढा। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

२ असंस्कृतम्

१ असखय जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण।
एव वियाणाहि जणे पमत्ते कण्णू विहिसा अजया गहिन्ति।।

(उ० ४ १)

जीवन (आयुष्य) सॉधा नहीं जा सकता, अत प्रमाद मत करो। निश्चय ही जरा-प्राप्त मनुष्य का कोई त्राण नहीं होता। प्रमादी, हिसक और असयत मनुष्य किसकी शरण मे जायेगे—यह सोचो।

---

१ क्षपक-श्रेणी—कर्मो का विशिष्ट रूप से क्षय करने वाली विशुद्ध विचार-श्रेणी।

२ सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं शरीरं भारुण्ड-पक्खी व चरप्पमत्तो।।

(उ० ४ ६)

आशुप्रज्ञ पडित सोये हुए व्यक्तियो के बीच मे जागृत रहे। आयुष्य मे विश्वास न करे। मुहूर्त्त बडे निर्दय है, शरीर दुर्बल है, अत मनुष्य भारण्ड पक्षी की भॉति अप्रमत्त रहे।

३ चरे पयाइं परिसंकमाणो
जं किचि पास इह मण्णमाणो। (उ० ४ ७ क, ख)

आत्मार्थी पुरुष पद-पद पर पापो से शकित रहता हुआ तथा यत्किचित् पाप को भी पाश मानता हुआ चले।

४. छन्द निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी। (उ० ४ ८ क, ख)

जैसे शिक्षित और तनुत्राण—कवच को धारण करने वाला अश्व युद्ध मे विजय प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मार्थी मनुष्य स्वच्छन्दता के निरोध से मोक्ष को प्राप्त करता है।

५ स पुव्वमेव न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय-वाइयाण।
विसीयई सिढिले आउयमि कालोवणीए सरीरस्स भेए।।

(उ० ४ ९)

(धर्म के प्रति) जो अप्रमाद पूर्व मे प्राप्त नही हुआ वह बाद मे प्राप्त हो जायेगा—ऐसा कथन शाश्वतवादियो का है। पहले प्रमत्त रहने वाला मनुष्य आयुष्य के शिथिल होने और काल के आ पहुॅचने पर शरीर-भेद के समय विषाद को प्राप्त होता है।

६ खिप्प न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोय समया महेसी अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो।।

(उ० ४ १०)

आसक्ति के त्यागरूप विवेक को शीघ्र प्राप्त नही किया जा सकता। अत हे मोक्षार्थी ! उठो। कामभोगो को छोडो। लोक को—जीवो को अच्छी तरह जानो और उनके प्रति समभाव पूर्वक व्यवहार करते हुए आत्म-रक्षक होकर अप्रमत्त भाव से विचरो।

७ मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा तह-प्पगारेसु मण न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोह विणएज्ज माणं माय न सेवे पयहेज्ज लोह।।

(उ० ४ १२)

स्त्री आदि के अनुकूल स्पर्श वहुत लुभावने होते है। वे विवेक को मन्द कर देते है। आत्मार्थी साधक वैसे स्पर्शो मे मन न करे। क्रोध का वर्जन करे, मान को जीते, माया का सेवन न करे और लोभ को छोड दे।

८. जे सखया तुच्छ परप्पवाई ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ।।
(उ० ४ १३)

जो अन्य प्रवादी 'जीवन सॉधा जा सकता है'—ऐसा मानने वाले है, वे निस्सार कथन करने वाले है। वे राग ओर द्वेष से ग्रस्त होने के कारण पराधीन है, अधर्मी हैं, ऐसा सोचकर दुर्गुणो से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-भेद सद्‌गुणो की आराधना करता रहे।

३. रत्नत्रय का आदर करो

१. भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्ख भावहि जिणभावणा जीव।।। (भा० पा० ८)

हे जीव। तूने भयकर नरक, तिर्यञ्च, कुदेव और कुमनुष्यो की गति मे जन्म ग्रहण कर तीव्र दु ख का अनुभव किया है। अब जिन-भावना को भा।

२ असुईवीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि।
वसिओसि चिर काल अणेयजणणीण मुणिपवर।। (भा० पा० १७)

हे पुरुष। तू अनेक माताओ की अशुचि, वीभत्स और गन्दे मैल से भरी हुई गर्भवसति मे चिर काल तक रहा है।

३ तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाण अणेयजणणीण।
रुण्णाण णयणणीर सायरसलिलादु अहिययर।। (भा० पा० १६)

हे पुरुष। तुम्हारे मरने पर दु ख से व्याप्त भिन्न-भिन्न माताओ के रोने से उत्पन्न ऑखो का जल समुद्र के पानी से भी अधिक है।

४ भवसायरे अणते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुजइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी।। (भा० पा० २०)

हे पुरुष। इस अनन्त ससार-समुद्र मे तुम्हारे शरीरो के काट कर फेके हुए केश, नख, नाल और हड्डियो को यदि कोई देव जगत मे इकट्ठा करे तो मेरु पर्वत से भी ऊँचा ढेर हो जाय।

५ गहिउज्झियाइ मुणिवर कलेवराइ तुमे अणेयाइ।
ताण णत्थि पमाण अणतभवसायरे धीर।। (भा० पा० २४)

हे धीर पुरुष ! तूने इस अनन्त ससार-समुद्र मे जो अनेक शरीर ग्रहण किये और छोडे है, उनकी कोई गिनती नही है।

६ रयणत्ते सुअलद्धे एव भमिओसि दीहससारे।
इय जिणवरेहि भणिय तं रयणत्त समायरह।। (भा० पा० ३०)

रत्नत्रय—सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति न होने से हे जीव ! तू ने इस प्रकार दीर्घ काल तक ससार मे भ्रमण किया है। अत तू रत्नत्रय का आचरण कर, 'ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

७ अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ त सण्णाण चरदिह चारित्तमग्गुत्ति।। (भा० पा० ३१)

आत्मा मे लीन आत्मा निश्चय रूप से सम्यक् दृष्टि है। आत्मा को यथार्थ रूप मे जानता है, वह सम्यक्ज्ञान है और आत्मा मे तन्मय होकर आचरण करता हे, वह चारित्र है। इस प्रकार यह मोक्ष का मार्ग है।

८ रयण चउप्पहे पिव मणुयत्त सुट्ठु दुल्लह लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पाव समज्जेदि।। (द्वा० अ० २९०)

जैसे चोराहे मे गिरा हुआ रत्न बडे भाग्य से हाथ लगता है, वैसे ही (अन्य गतियो से निकल कर) मनुष्य गति पाना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी जीव मिथ्यादृष्टि म्लेच्छ होकर पाप का उपार्जन करता है।

९ अह होदि सील-जुत्तो, तह वि ण पावेइ साहु-ससग्ग।
अह त पि कह वि पावदि सम्मत्त तह वि अइदुलह।।
(द्वा० अ० २९४)

मनुष्य शील-सम्पन्न हो जाने पर भी साधु पुरुषो का ससर्ग नहीं पाता। यदि वह भी कभी पा जाता है तो सम्यक्त्व का पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

१० सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्त णेव गिण्हदे जीवो।
अह कह वि त पि गिण्हदि, तो पालेदु ण सक्केदि।।
(द्वा० अ० २९५)

सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर भी जीव चारित्र ग्रहण नहीं करता। यदि कभी चारित्र ग्रहण कर लेता है तो उसका पालन नहीं कर पाता।

११ रयणत्तये वि लद्धे तिव्व-कसाय करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ होउं।। (द्वा० अ० २६६)

रत्नत्रय पा लेने पर भी यदि जीव तीव्र कषाय करता है तो रत्नत्रय का नाश कर दुर्गतियो मे जाता है।

१२ रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्त त पि होदि अइदुलहं।
एव सुणिच्छइत्ता मिच्छ-कसाए य वज्जेह।।
(द्वा० अ० २६७)

समुद्र के जल मे गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान मनुष्यत्व की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा निश्चय करके मिथ्यात्व और कषाय को छोडो।

१३ अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं।
तो तव-चरणं ण लहदि देस-जमं सील-लेसं पि।।
(द्वा० अ० २६८)

अथवा यह जीव देव भी हो जाय और वहॉ कदाचित् समयक्त्व भी पा ले तो भी तप और चारित्र नहीं पाता, देशव्रत और शीलव्रत की लेशमात्र भी प्राप्ति नहीं करता।

१४ मणुव-गईए वि तओ मणवु-गईए महव्वय सयल।
मणुव-गदीए ज्झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं।। (द्वा० अ० २६६)

इस मनुष्य-गति मे ही तप का आचरण होता है, इस मनुष्य-गति मे ही समस्त महाव्रत होते हैं, इस मनुष्य-गति मे ही शुभ ध्यान होता है और इस मनुष्य-गति मे ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

१५ इय दुलहं मणुयत्त लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ-णिमित्तं पजालंति।। (द्वा० अ० ३००)

ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियो के विषयो मे रमण करते हैं वे दिव्य रत्न को पाकर उसे जलाकर राख कर डालते हैं।

१६ इय सव्व-दुलहं-दुलह दंसण-णाणं तहा चरित्त च।
मुणिऊएण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि।।
(द्वा० अ० ३०१)

इस प्रकार ससार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सब दुर्लभो से भी दुर्लभ जानकर इन तीनो का महान् आदर करो।

४. धर्म ही त्राण है

१ इह जीविए राय । असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंसि लोए।।
(उ० १३ . २१)

हे राजन् । यह जीवन अशाश्वत है। जो इस जीवन मे प्रचुर सत्कृत्य नहीं करता वह मृत्यु के मुख मे जाने पर पश्चात्ताप करता है तथा धर्म न करने के कारण परलोक मे भी दु खित होता है।

२ मरिहिसि राय । जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव । ताण न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।।
(उ० १४ ४०)

हे राजन् । इन मनोरम कामभोगो को छोडकर तू जब-तब मरण को प्राप्त होगा। हे नरदेव । एकमात्र धर्म ही त्राण है। इस ससार मे अन्य कोई नहीं, जो त्राण हो सके।

३ अभओ पत्थिवा । तुब्भ अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि कि हिसाए पसज्जसि ?।। (उ० १८ ११)

पार्थिव । तुझे अभय है। जैसे तू अभय चाहता है, वैसे ही तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक मे तू हिसा मे क्यो आसक्त है ?

४. अज्झत्थ सव्वओ सव्व दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए।। (उ० ६ : ६)

सारे सुख सब प्रकार से जैसे स्वय को इष्ट है वैसे ही दूसरे जीवो को है तथा सब प्राणियो को अपना आयुष्य प्रिय है, यह देखकर भय और वैर से उपरत मुमुक्षु प्राणियो के प्राणो का हनन न करे।

५ जगनिस्सिएहि भूएहि तसनामेहि थावरेहि च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव।। (उ० ८ १०)

जगत् के आश्रित जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया–किसी भी प्रकार से दण्ड (घातक शस्त्र) का प्रयोग न करे।

६ अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा मायामोस विवज्जए।। (उ० ८ · ४६)

बिना पूछे न बोले । बातचीत कर रहे हो, उनके बीच मे न बोले। चुगली न खाये और कपटपूर्ण झूठ से दूर रहे।

७ आयाण नरय दिस्स नायएज्ज तणामवि। (उ० ६ : ७ क, ख)

धन-धान्यादि परिग्रह नरक (का हेतु) है, यह देखकर मुमुक्षु न दिया हुआ तृण-मात्र भी ग्रहण न करे।

८ पाणे य णाइवाएज्जा अदिण्ण पि य णातिए।
सातियं ण मुस वूया एस धम्मे वुसीमओ।। (सू० १, ८ · २०)

प्राणियो का अतिपात—हनन न करे, न दी हुई कोई वस्तु न ले, कपटपूर्ण झूठ न बोले। यही आत्मजयी पुरुषो का धर्म है।

९. मुसावाय वहिद्धं च उग्गहं च अजाइय।
सत्थादाणाइं लोगंसि त विज्जं । परिजाणिया।।(सू० १, ६ . १०)

मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, अदत्तादाने—ये सव लोक मे प्राणियो को परिताप के हेतु होने के कारण शस्त्र के समान है और वधन के कारण हैं। विद्वान् यह जानकर इनका त्याग करे।

१०. णो तासु चक्खु सधेज्जा णो वि य साहस समणुजाणे।
णो सिद्धियं हि विहरेज्जा एवमप्पा सुरक्खिओ होइ।।
(सू० १, ४ (१) · ५)

स्त्रियो पर ऑख न सॉधे। विपय-सेवन के साहस को अच्छा न माने। उनके साथ विहार न करे। इस प्रकार आत्मा सुरक्षित होती है।

११ सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए।। (उ० १६ १०)

मुमुक्षु शव्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पॉच प्रकार के कामभोगो का सदा परिवर्जन करे।

१२ पलिउंचणं च भयण च थडिल्लुस्सयणाणि य।
धुत्तादाणाणि लोगंसि त विज्जं ! परिजाणिया।। (सू० १, ६ ११)

माया, लोभ, क्रोध और मान ससार मे वधन के हेतु हे। विज्ञ उन्हे जानकर उनका त्याग करे।

१३ प्रभु दोसे णिराकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव अतसो।। (सू० १, ११ १२)

दोपो को दूर कर जितेन्द्रिय पुरुष किसी के साथ जीवन पर्यन्त मन, वचन, काया से विरोध न करे।

१४ अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइ झाणाइ झाण त तु वुहा वए।। (उ० ३० ३५)

आर्त्त ओर रोद्र इन दो ध्यानो का वर्जन कर सुसमाहित मुमुक्षु धर्म-ध्यान ओर शुक्ल-ध्यान का अभ्यास करे। ज्ञानी इसे ही ध्यान-तप कहते है।

१. आत्मा

१ जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणति से आया त पडुच्च पडिसखाए।।
(आ० १, ५ (५) . १०४)

जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

२ सव्वे सरा णियट्टति
तक्का जत्थ ण विज्जइ
मई तत्थ ण गाहिया। (आ० १, ५ (६) १२३-२५)

आत्मा का वर्णन करते हुए सब शब्द समाप्त हो जाते है। वहॉ तर्क की गति नही है, न बुद्धि ही उसे पूरा ग्रहण कर पाती है।

३ से ण दीहे ण हस्से
ण वट्टे ण तसे ण च उरसे ण परिमण्डले। (आ० १, ५ (६) १२७)

न वह दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चौरस है और न मडलाकार ही है।

४ ण इत्थी ण पुरिसे ण अण्णहा। (आ० १, ५ (६) १३५)

आत्मा न स्त्री है, न पुरुष और न नपुसक।

५ से ण सद्दे ण रूवे ण गधे
ण रसे ण फासे इच्चेताव। (आ० १, ५ (६) १४०)

आत्मा न शब्द है, न रूप है, न गध है, न रस है और न स्पर्श है।

६. अरूवी सत्ता। अपयस्स पय णत्थि। (आ० १, ५ (६) १३८-३६)

आत्मा अरूपी सत्ता है। उसको कहने के लिए कोई शब्द नही है (वह वास्तव मे अवाच्य है)।

७. अरसमरूवमगध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्द।
जाणमलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। (भा० पा० ६४)

जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, चैतन्य गुण से युक्त, शब्द-रहित, इन्द्रियो से अगोचर और अनियत आकार वाला जानो।

८. उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परम-तच्चं जीव जाणेह णिच्छयदो।। (द्वा० अ० २०४)

जीव ज्ञान आदि उत्तम गुणो का धाम है, चैतन्य-स्वरूप होने से सब द्रव्यों मे उत्तम द्रव्य हे और आराध्य होने से सव तत्त्वो मे परम तत्त्व है, यह निश्चयपूर्वक जानो।

९. अंतर-तच्च जीवो बाहिर-तच्चं हवंति सेसाणि।
णाण–विहीणं दव्व हियाहियं णेय जाणेदि।। (द्वा० अ० २०५)

जीव अंतरतत्त्व है, अवशेष सारे बाह्यतत्त्व है। वे द्रव्य ज्ञानविहीन होने से हिताहित को नहीं जानते।

१०. एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिदियमहत्थ।
धुवमचलमणालबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।। (प्र० सा० २ : १००)

मैं आत्मा को ज्ञानप्रमाण, दर्शनयुक्त, अतीन्द्रिय, महातत्त्व, ध्रुव, अचल, अनालम्ब और शुद्ध मानता हू।

२. आत्मत्रय

१ तिपयारो सो अप्पा परमतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा।। (मो० पा० ४)

शरीरधारियो की आत्मा तीन प्रकार की होती है—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। बहिरात्मा को त्याग कर अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा का ध्यान किया जाता है।

२. अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।। (मो० पा० ५)

इन्द्रियॉ बहिरात्मा है (इन्द्रियो को ही आत्मा मानने वाला प्राणी बहिरात्मा है)। आत्मा मे ही आत्मा का सकल्प करने वाला अन्तरात्मा हे। कर्म-कलक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है। उसे ही देव कहा है।

३. मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देह एक्क मण्णंतो होदि बहिरप्पा।। (द्वा० अ० १६३)

जिसकी आत्मा मिथ्यात्व मे परिणमन करती है, जो तीव्र कषाय से अत्यन्त आविष्ट है और जो जीव और देह को एक मानता है, वह बहिरात्मा है।

४ जे जिण-वयणे कुसला भेय जाणति जीव-देहाण।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अतरअप्पा य ते तिविहा।। (द्वा० अ० १६४)

जो जीव जिन-वचन मे कुशल है, जीव और शरीर के भेद को जानते है और जिन्होने आठ दुष्ट मदो[1] को जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं। (साधना के तारतम्य से) वे तीन प्रकार के होते है।[2]

५ स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्ख-सपत्ता।। (द्वा० अ० १६८)

जिन्होने केवलज्ञान से सकल पदार्थो को जान लिया है, वे सदेह अर्हत एक प्रकार के परमात्मा है। और, जिन्हे सर्वोत्तम सुख प्राप्त हो गया है तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है, वे दूसरे देहरहित सिद्ध परमात्मा है।

६ मलरहिओ कलचत्तो अणिदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो।। (मो० पा० ६)

सिद्ध परमात्मा मैल से रहित है, शरीर से रहित है, इन्द्रियो से रहित है, केवल ज्ञानमय है, विशुद्ध आत्मा है, परमपद मे स्थित है, परम जिन है, मोक्ष को देने वाला है और शाश्वत है।

७. आरुहवि अतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठ जिणवरिंदेहि।। (मो० पा० ७)

अन्तरात्मा को अपनाकर और मन, वचन, काया से बहिरात्मा को छोडकर परमात्मा का ध्यान करो, ऐसा जितेन्द्र देव ने कहा है।

८ परमप्पय झायतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णव कम्म णिदिट्ठ जिणवरिंदेहि।। (मो० पा० ४८)

परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी कर्मरूपी महामल के ढेर से मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मो को ग्रहण नही करता, ऐसा जिनवर देव ने कहा है।

---

१ जाति, कुल, बल, रूप तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य—इनके सम्बन्ध से मद आठ हैं।

२ जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। देखिए द्वा० अनु०, १६५-६७

३. वहिरात्मा

१. देह-मिलिदो वि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणो एयत्त वुज्झदे दोण्हं।। (द्वा० अ० १८५)

क्योकि देह से मिला हुआ ही जीव समस्त कर्म करता है, इसलिए उन कर्मो मे प्रवर्त्तमान वहिरात्मा को दोनो (देह और जीव) का एकत्व प्रतीत होता है।

२ राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुव्वलो वलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण वुज्झेदि।। (द्वा० अ० १८७)

मैं राजा हूँ, मैं भृत्य हूँ, मैं श्रेष्ठी हूँ, मैं दुर्वल हूँ—मैं दरिद्र हूँ, मैं बलवान हूँ—इस प्रकार शरीर और आत्मा के एकत्व मे आविष्ट यह जीव शरीर और आत्मा के भेद को नहीं समझता।

३. बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।। (मो० पा० ८)

मूढदृष्टि वहिरात्मा इन्द्रियो के द्वारा वाह्य पदार्थो में मन को लगाता हुआ अपने स्वरूप से च्युत हो अपने शरीर को ही आत्मा मानने का अध्यवसाय (संकल्प) करता है।

४. णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गह पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण।। (मो० पा० ९)

मूढदृष्टि वहिरात्मा अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर यद्यपि वह अचेतन है तथापि उसका प्रयत्नपूर्वक ओर परमभाव से ध्यान करता है।

५ सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाण वड्ढए मोहो।। (मो० पा० १०)

इस प्रकार देह को ही अपना और पर का आत्मा मानने से पदार्थो के स्वरूप को न जानने वाले मनुष्यो का स्त्री, पुत्र आदि के विषय मे मोह वढता है।

६. मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अगं सं मण्णए मणुओ।। (मो० पा० ११)

मिथ्याज्ञान में लीन हुआ और मिथ्याभाव की भावना रखता हुआ मनुष्य मोह के उदय से पुन शरीर को आत्मा मानता हे।

७. परमाणुपमाण वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। (मो० पा० ६६)

मोह के कारण जिस मनुष्य की परद्रव्य मे परमाणु के बराबर भी रति होती है, वह मूर्ख अज्ञानी है, आत्मा के स्वभाव से विपरीत है।

८. परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स।। (मो० पा० १३)

जो परद्रव्य मे राग करता है, वह अनेक प्रकार के कर्मो का बंध करता है और जो परद्रव्य मे राग नहीं करता है वह अनेक प्रकार के कर्म-बधन से मुक्त हो जाता है, यह जिनेन्द्र भगवान् ने सक्षेप मे बन्ध और मोक्ष का उपदेश दिया है।

४. स्वद्रव्य : परद्रव्य

१ परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि।। (मो० पा० १६)

परद्रव्य मे राग करने से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य मे राग करने से सुगति होती है। ऐसा जानकर स्वद्रव्य मे राग करो, परद्रव्य मे राग मत करो।

२ आदसहावादण्ण सच्चित्ताचित्तमिस्सिय हवदि।
त परदव्वं भणिय अवितत्थं सव्वदरिसीहि।। (मो० पा० १७)

आत्मस्वभाव से भिन्न जो सचेतन (स्त्री, पुत्र आदि), अचेतन (धन-धान्य आदि) सचेतन-अचेतन (आभूषण सहित स्त्री आदि) पदार्थ हैं, सर्वज्ञ देव ने उन सब को वास्तव मे परद्रव्य कहा है।

३ दुट्ठट्ठकम्मरहिय अणोवम णाणविग्गह णिच्च।
सुद्ध जिणेहि कहिय अप्पाण हवइ सद्दव्व।। (मो० पा० १८)

दुष्ट कर्मो से रहित, अनुपम, ज्ञान-शरीरी और नित्य शुद्ध आत्मा को जिनेन्द्र देव ने स्वद्रव्य कहा है।

४ जे झायति सदव्व परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्ग अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं।। (मो० पा० १९)

जो परद्रव्य से विमुख और सम्यक् चारित्र से युक्त होकर आत्मद्रव्य का ध्यान करते है, वे जिनवर भगवान् के मार्ग मे लगे रहकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

५. बंध और मोक्ष

१. जीवा ससारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।। (पंचा० १०९)

जीव दो प्रकार के हैं—ससारी और मुक्त। दोनो ही प्रकार के जीव चैतन्यस्वरूप और उपयोग-लक्षण वाले होते हैं; परन्तु ससारी जीव देह-सहित होता है और मुक्त जीव देह-रहित।

२. ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य त परूवंति।। (पंचा० १२१)

ससारी जीव की इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं। छः प्रकार के शरीर कहे गए हैं वे भी जीव नहीं है, किन्तु उन इन्द्रियो और शरीरो मे जो ज्ञानवान् द्रव्य है, उसी को जीव कहते है।

३. जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं।।(पंचा० १२२)

जीव सबको जानता और देखता है, सुख की इच्छा करता है, दु ख से भयभीत होता है, हित अथवा अहित करता हे और उनके फल को भोगता है।

४. जीवो त्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।। (पंचा० २७)

वह जीव चेतयिता है, उपयोग से विशिष्ट है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, अपने शरीर-प्रमाण है, अमूर्त है पर कर्मो से संयुक्त है।

५. पाणेहि चदुहि जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिदियमाउ उस्सासो।। (पंचा०.३०)

जो चार प्राणो के द्वारा वर्तमान मे जीवित है, भविष्य मे जीवित रहेगा ओर पूर्वकाल मे जीवित था, वह जीव है। वे चार, प्राण है—बल (मन बल, वचन बल, काय बल), इन्द्रिय (श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन स्पर्शन), आयु और श्वासोच्छ्वास।

६. जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि।। (पंचा० ३३)

जैसे दूध मे रखा हुआ पद्मराग नामक रत्न दूध को अपनी प्रभा से प्रकाशित करता है, वैसे ही जीव शरीर मे रहता हुआ अपने शरीर मात्र को प्रकाशित करता है।

७ अप्पा उवओगप्पा उपओगो णाणदसणं भणिदो।
सोहि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।। (प्र० सा० २ ६३)

जीव उपयोगस्वरूप है और उपयोग जानने और देखनेरूप कहा गया है। जीव का वह उपयोग भी शुभ अथवा अशुभ दो प्रकार का होता है।

८ कम्म वेदयमाणो जीवो भाव करेदि जारिसयं।
सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं।। (पंचा० २७)

कर्म का अनुभव करता हुआ जीव जैसे भाव को करता है, वह उसके द्वारा उस भाव का कर्त्ता होता है, ऐसा जैन शासन मे कहा है।

९. ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहि सव्वदो लोगो।
सुहमेहि बादरेहि य णताणंतेहि विविधेहिं।। (पंचा० ६४)

यह लोक सब जगह अनेक प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म और स्थूल पुद्गल-स्कन्धो से ठसाठस भरा हुआ है।

१०. अत्ता कुणदि सभाव तत्थ गदा पोग्गला सभावेहि।
गच्छंति कम्मभाव अण्णोण्णागाहमवगाढा।। (पंचा० ६५)

जीव अपने रागादिरूप भावो को करता है। जब जहॉ वह इन भावो को करता है, उन भावो का निमित्त पाकर उसी समय वहीं स्थित कर्म-योग्य पुद्गल जीव के प्रदेशो मे परस्पर एक क्षेत्र अवगाहरूप से दूध-पानी की तरह मिलकर कर्मरूप हो जाते हैं।

११ रूवादिएहि रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि।।(प्र० सा० २ ८२)

आत्मा रूप, स्पर्श आदि गुणवाला नहीं है, किन्तु जैसे वह रूप आदि गुणवाले पुद्गल द्रव्यो को और उनके रूपादि गुणो को जानता-देखता है, वैसे ही पुद्गल द्रव्य के साथ आत्मा का बन्ध जानो।

१२. उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सबधो।।
(प्र० सा० २ . ८२)

जीव उपयोगमय है। वह अनेक प्रकार के इष्ट-अनिष्ट विषयो को पाकर उनमे मोह करता है—आसक्ति करता है अथवा द्वेष करता है। वह उन राग, द्वेष और मोह के द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है।

१३. भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदए विसए।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो।।
(प्र०सा० २ . ८४)

जीव प्राप्त हुए विषयो को जिस राग, द्वेष या मोहरूप भाव से जानता-देखता है, उसी भाव से रग जाता है और फिर उसी भाव से पौद्गलिक कर्म बधते है।

१४. जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिवद्धा।
काले विणुज्जमाणा सुहदुक्ख दिंति भुजंति।। (पचा० ६७)

इस तरह जीव और पुद्गल-स्कध परस्पर मे सघन रूप मे बद्ध होकर रहते हैं। उदयकाल आने पर जब वे जुदा होने लगते है तो पुद्गल-कर्म सुख-दु ख देते हैं और जीव उनको भोगता है।

१५ एव कत्ता भोत्ता होज्ज अप्पा सगेहि कम्मेहि।
हिडदि पारमपार संसार मोहसछण्णो।। (पचा० ६६)

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मो के द्वारा कर्त्ता-भोक्ता होता हुआ मोह मे डूबकर अनन्त ससार मे भ्रमण करता है।

१६ उवसतखीणमोहो मग्ग जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुर वजदि धीरो।। (पचा० ७०)

वही धीरात्मा जीव जिन भगवान के द्वारा कहे हुए मार्ग को अपनाकर मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय करके, सम्यग्ज्ञान का अनुसरण करनेवाले मार्ग पर चलता हुआ मोक्षनगर को जाता है।

१७. कखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो सतो।
अभुजतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झइ।। (मू० ८१)

जो सुखाकाक्षी होता है, राग-द्वेषादि से मलिन और काम-भोगो मे मूर्च्छित होता है, वह भोगो को न भोगता हुआ भी परिणामो के कारण कर्मो से बॅध जाता है।

१८ णेहो उप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे।
तह रागदोससिणिहोलिदस्स कम्मं मुणेयव्व।। (मू० २३६)

जैसे स्नेह से स्निग्ध शरीर के रेणु चिपट जाती है, वैसे ही राग-द्वेषरूपी स्नेह से भीगी हुई आत्मा को कर्मपुद्गलो का बधन होता है।

१६ रागी बंधइ कम्म मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणेवएसो समासदो बधमोक्खाणं।। (मू० २४७)

रागी जीव कर्मो का बधन करता है। वैराग्ययुक्त पुरुष कर्मो से मुक्त होता है। यही उपदेश बध-मोक्ष के विषय मे जिनेन्द्रदेव ने संक्षेप मे दिया है।

६. बन्धन और आत्मबोध

१ अज्झत्थहेउं निययऽस्स बन्धो।
संसारहेउ च वयन्ति बन्ध।। (उ० १४ : १९ ग, घ)

यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं, और यह बधन ही ससार का हेतु है—ऐसा कहा है।

२ अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्प मे नन्दण वण।। (उ० २० . ३६)

(मन मे चितन कर—) "मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और यही कूटशाल्मली वृक्ष। मेरी आत्मा ही कामदुधा (इच्छानुसार दूध देने वाली) धेनु है और आत्मा ही नदन वन।"

३ अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।। (उ० २० ३७)

"मेरी आत्मा ही दु ख और सुख की कर्त्ता—उनको उत्पन्न करने वाली है और वही दु ख और सुख की विकर्त्ता—क्षय करने वाली है। सदाचार मे प्रवृत्त आत्मा मित्र है और दुराचार मे प्रवृत्त आत्मा शत्रु।"

४ न त अरी कण्ठछेत्ता करेइ।
ज से करे अप्पणिया दुरप्पा।। (उ० २० ४८ क, ख)

अपना दुराचार मनुष्य का जो अनिष्ट करता है, वैसा अनिष्ट कण्ठ-छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं करता।

५ पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्त कि वहिया मित्तमिच्छसि ?
(आ० १,३ (३) ६२)

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर से मित्र पाने की इच्छा क्यो करता हे ?

६ से सुय च मे अज्झत्थियं च मे।
बध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव।। (आ० १,५ (२) . ३६)

मैंने सुना है और अनुभव भी किया है कि बधन से मुक्ति आन्तरिक गुणो से होती है।

७. आत्म-जय : परम जय

१ इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ?
जुद्धारिह खलु दुल्लहं। (आ० १.५ (३) : ४५, ४६)

हे प्राणी ! अपनी आत्मा के दुर्गुणों के साथ ही युद्ध कर। दूसरों से युद्ध करने से क्या प्रयोजन ? दुष्ट आत्मा के साथ युद्ध करने योग्य सामग्री का पुनः-पुनः मिलना दुर्लभ है।

२. अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा-दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य।। (उ० १ . १५)

आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि वास्तव में आत्मा ही दुर्दम है। जो अपनी आत्मा का दमन कर चुका, वह इहलोक तथा परलोक में सुखी होता है।

३ वर मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माह परेहि दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य।। (उ० १ . १६)

दूसरे लोगों द्वारा वध और बन्धनादि से दमन किया जाऊं—ऐसा न हो। दूसरों के द्वारा दमन किया जाऊं, उसकी अपेक्षा संयम और तप के द्वारा मैं ही अपनी आत्मा का दमन करूं—यह अच्छा है।

४. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ।
एवं दुक्खा पमोक्खसि।। (आ० १.३ (३) . ६४)

हे पुरुष ! आत्मा को ही नियन्त्रण में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुःखों से मुक्त होगा।

५ जो सहस्सं संगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण एस से परमो जओ।। (उ० ९ . ३४)

जो व्यक्ति दुर्जय संग्राम मे सहस्र-सहस्र शत्रुओ को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो केवल अपनी एक आत्मा को जीतता है, उसकी यह विजय श्रेष्ठ है।

६. अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ ?।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।। (उ० ९ . ३५)

अपनी आत्मा के साथ युद्ध कर। बाह्य शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या प्रयोजन? आत्मा द्वारा आत्मा को जीतकर ही मनुष्य सुख प्राप्त करता है।

७ पचिदियाणि कोह माण मायं तहेव लोह च।
दुज्जयं चेव अप्पाण सव्वं अप्पे जिए जियं।। (उ० ६ . ३६)

पॉच इन्द्रियॉ, क्रोध, मान, माया, लोभ और अपनी दुर्जय आत्मा—ये दस शत्रु हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर सब जीत लिए जाते हैं।

८. आत्मा : रक्षित और अरक्षित

१ बालस्स मदयं बीयं ज च कड अवजाणई भुज्जो।
दुगुण करेइ से पाव पूयणकामो विसण्णेसी।।
(सू० १,४ (१) · २६)

मूर्ख मनुष्य की दूसरी मूर्खता यह होती है कि वह कृत पाप-कर्म को बाद मे अस्वीकार करता है। इस तरह निन्दा से बचने की कामना करने वाला विषण्णैषी—असयमी मनुष्य दुगुना पाप करता है।

२ से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मिय पय।
सवरे खिप्पमप्पाण बीय त न समायरे।। (द० ८ . ३१)

विवेकी पुरुष जान या अजान मे कोई अधर्म कृत्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को शीघ्र उससे हटा ले और फिर दूसरी बार वह कृत्य न करे।

३ अणायार परक्कम नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे असंसत्ते जिइंदिए।। (द० ८ ३२)

अनाचार का सेवन कर लेने पर उस पर पर्दा न डाले और न अस्वीकार करे परन्तु सदा पवित्र, प्रगट, अनासक्त और जितेन्द्रिय रहे।

४ जो पुव्वरत्तावरत्तकाले संपिक्खई अप्पगमप्पएणं।
कि मे कड किं च मे किच्चसेस कि सक्कणिज्ज न समायरामि।।
किं मे परो पासइ किं व अप्पा किं वाहं खलिय न विवज्ज्यामि।
(द० चू० २ : १२, १३)

मुमुक्षु रात्रि के प्रथम और पिछले प्रहर मे अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा का संप्रेक्षण करता है—मैंने क्या करने योग्य कार्य किया है, क्या कार्य करना शेष है, वे कौन से कार्य हैं जिन्हे करने की शक्ति तो है किन्तु कर नहीं रहा हू, मुझमे दूसरे क्या दोष देखते है, मेरी आत्मा मुझमे क्या दोष पाती है, मैं अपनी किस स्खलना को नहीं छोड रहा हूँ।

५. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्त काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं।।
(द० चू० २ : १४)

जव कभी अपने-आप को मन, वचन, काया से कहीं भी दुष्प्रवृत्त होता देखे तो धीर पुरुष लगाम से खींचे गए घोडे की तरह उसी क्षण अपने-आप को उस दुष्प्रवृत्ति से हटा ले।

६ जस्सेरिया जोग जिइंदियस्स धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी सो जीवइ संजमजीविएण।।
(द० चू० २ : १५)

जिस धृतिमान, जितेन्द्रिय सत्पुरुष के मन, वचन, काया के योग इस प्रकार नित्य वश में रहते हैं, उसे ही लोक मे सदा जाग्रत कहा जाता है। सत्पुरुष हमेशा सयमी जीवन जीता है।

७. अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो सव्विंदिएहि सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपह उवेइ सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ।।
(द० चू० २ : १६)

सर्व इन्द्रियो को अच्छी तरह वश मे कर आत्मा की (पापो से) अवश्य ही सतत् रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं होती, वह जाति-पथ में (भिन्न-भिन्न योनियो मे) जन्म-मरण ग्रहण करती है। जो आत्मा सुरक्षित होती है, वह सर्व दु.खो से मुक्त हो जाती है।

८. जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।।
(प्र० सा० : २१०४)

जिसने मोहरूपी कालुष्य को नष्ट कर दिया है ओर जो विषयो से विरक्त हे, वह पुरुष अपने मन का निरोध कर अपने स्वभाव मे अच्छी तरह स्थित होता है। ऐसा पुरुष अपनी आत्मा का ध्याता होता हे।

९. आगतिं गतिं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे।
से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ ण हम्मइ कचणं सव्वलोए।।
(आ० १, ३ (३) . ५८)

आगति और गति को जानकर जिसने दोनो ही अन्तो—राग ओर द्वेष को छोड दिया है वह सारे लोक मे न किसी के द्वारा छिन्न होता हे और न भिन्न। न दग्ध होता है और न निहत।

६. आराध्य और शरण : आत्मा ही

१ जो इच्छइ णिस्सरिदु ससारमहण्णवस्स रुद्दाओ।
कम्मिधणाण डहण सो झायइ अप्पय सुद्ध।। (मो० पा० २६)

जो ससाररूपी महावन के विस्तार से निकलना चाहता है, वह कर्मरूपी ईधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

२ णविएहि ज णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरय।
थुव्वतेहि थुणिज्जइ देहत्थ कि त मुणह।।
(मो० पा० १०३)

नमस्कार योग्य जिसको नमस्कार करते हैं, ध्यान करने योग्य जिसका निरतर ध्यान करते है और स्तुति करने योग्य जिसका स्तवन करते है वह शरीर मे स्थित आत्मा ही है, अन्य नहीं। उसे ही जानो।

३ अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। (मो० पा० १०४)

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये जो पाच परमेष्ठी है, वे भी आत्मा मे ही स्थित है अर्थात् आत्मा ही अर्हन्त, सिद्ध आदि पदो को प्राप्त करता है। इसलिए निश्चय से आत्मा ही मेरा शरण है।

४ सम्मत्त सण्णाण सच्चारित्त हि सत्तव चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरण।। (मो० पा० १०५)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप—ये चारो आत्मा मे ही स्थित है। अत आत्मा ही निश्चय से मेरा शरण है।

५ एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा।। (भा० पा० ५६)

ज्ञान और दर्शन लक्षण वाला एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है। शेष सभी मेरे भाव बाह्य है। वे सभी पर द्रव्य के सयोग से प्राप्त हुए है।

६ जो जीवो भावतो जीवसहावं सुभावसजुत्तो।
सो जरमरणविणास कुणइ फुड लहइ णिव्वाण।। (भा० पा० ६१)

जो जीव शुभ भावो से सयुक्त होता हुआ आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करता है, वह जरा और मरण का विनाश करके निश्चय से मोक्ष प्राप्त करता है।

: ४ :

दुर्लभ संयोग

१. परम अंग

१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं।। (उ० ३ . १)

ससार मे प्राणियो के लिए चार परम अग (उत्तम सयोग) अत्यन्त दुर्लभ है[1]: (१) मनुष्य-भव, (२) धर्म-श्रुति—धर्म का सुनना, (३) श्रद्धा—धर्म मे रुचि और (४) सयम—धर्म मे वीर्य—पराक्रम।

२. समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया।। (उ० ३ : २)

संसारी जीव ससार मे नाना प्रकार के कर्म कर विविध जाति और विविध गोत्रो मे उत्पन्न होते हैं। पृथक्-पृथक् रूप से इन प्राणियो ने इस विश्व को भर रखा है।

३ एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहि गच्छई।। (उ० ३ . ३)

अपने कर्मो के अनुसार जीव कभी देवलोक मे, कभी नरक मे और कभी असुर योनि मे जन्म ग्रहण करता है।

४ एगया खत्तिओ होइ तओ चण्डाल-वोक्कसो।
तओ कीड—पयगो य तओ कुन्थु—पिवीलिया।। (उ० ३ : ४)

जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल और कभी वोक्कस। कभी कीट-पतंग और कभी कुन्थु-चींटी होकर जन्म लेता है।

---

१ उत्तराध्ययन के १०वे अध्ययन की १६वीं और १७वीं गाथाओ मे क्रमश 'आर्यत्व' और 'अहीन-पचेन्द्रियता'—पाँचो इन्द्रियो की सम्पूर्णता को भी दुर्लभ बताया गया है ओर इनको 'मनुष्य-भव के वाद और 'धर्म-श्रुति' के पहले स्थान दिया है। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

लद्धूण वि माणुसत्तण आरिअत्त पुणरावि दुल्लह।
वहवे दसुया मिलेक्खुया समय गोयम! मा पमायए।।
लद्धूण वि आरियत्तण अहीणपचिदियया हु दुल्लहा।
वगलिदियया हु दीसई समय गोयम! मा पमायए।।

५ एवमावट्ट-जोणीसु पाणिणो कम्म-किब्बिसा।
न निविज्जन्ति ससारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया।। (उ० ३ ५)

कर्म द्वारा मलिनता प्राप्त जीव एक के बाद एक योनि मे भ्रमण करते हुए भी ससार के प्रति उसी प्रकार निर्वेद को प्राप्त नहीं होते जिस प्रकार (हर तरह से सम्पन्न) क्षत्रिय सर्व प्रकार के अर्थ (धन, कनक, भूमि, वनिता आदि के और अधिक सग्रह) से।

६ कम्मसगेहि सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो।। (उ० ३ : ६)

कर्म-सग से मूढ, दु खित और अत्यन्त वेदना-प्राप्त प्राणी मनुष्येतर योनियो मे पतित होकर पीडित होते है।

७ कम्माण तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सय।। (उ० ३ ७)

कर्मो के क्रमश क्षय से शुद्धि को प्राप्त हुए जीव कदाचित् बहुत लम्बे काल के बाद मनुष्य-भव को पाते है।

८ माणुस्सं विग्गह लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
ज सोच्चा पडिवज्जति तवं खंतिमहिंसय।।[1] (उ० ३ . ८)

मनुष्य देह पाकर भी उस धर्म का सुनना दुर्लभ है, जिस धर्म को सुनकर मनुष्य तप, सयम और अहिसा को स्वीकार करते है।

९ आहच्च सवणं लद्धु सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउय मग्ग बहवे परिभस्सई।।[2] (उ० ३ . ९)

कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमे श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, क्योकि मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी अनेक जीव उससे भ्रष्ट हो जाते हैं।

१० सुइ च लद्धु सद्ध च वीरियं पुण दुल्लह।
बहवे रोयमाणा वि नो एण पडिवज्जए।।[3] (उ० ३ १०)

---

१ मिलावे उ० १० १८

अहीणपचिदियत्त पि से लहे उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समय गोयम । मा पमायए।।

२ मिलावे उ० १० १९

लद्धूण वि उत्तम सुइ सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समय गोयम । मा पमायए।।

३ मिलावे उ० १० २० पृ० ६ पर उद्धृत।

कदाचित् धर्म को सुनकर उसमे श्रद्धा भी प्राप्त हो जाय तो धर्म मे पुरुषार्थ होना और भी दुर्लभ होता है। धर्म मे रुचि होने पर भी वहुत से लोग धर्म को स्वीकार नहीं करते।

११ माणुसत्तमि आयाओ जो धम्म सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरिय लद्धुं सवुडे निद्धुणे रयं।। (उ० ३ . ११)

मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्म को सुनता है और श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ करता है वह तपस्वी नये कर्मों को रोकता हुआ सचित कर्मरूपी रज को धुन डालता है।

१२. सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्त व्व पावए।। (उ० ३ १२)

ऋजु आत्मा की ही शुद्धि होती है। धर्म शुद्ध आत्मा मे ही ठहरता है। जिस तरह घी से सींची हुई निर्धूम अग्नि दिव्य प्रकाश को प्राप्त होती है, उसी तरह शुद्ध आत्मा परम निर्वाण को प्राप्त होता है।

२. ज्ञान और क्रिया

१ जावन्तऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा संसारमि अणंतए।। (उ० ६ : १)

जो भी विद्याहीन—तत्त्व को नहीं जानने वाले पुरुष हैं, वे सव दु-खो के पात्र होते हैं। इस अनन्त संसार मे मूढ मनुष्य वार-वार पीडित होते है।

२ इहमेगे उ मन्नति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्वदुक्खा विमुच्चई।। (उ० ६ : ८)

इस ससार मे कई ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किए बिना ही केवल आचार को जान लेने-मात्र से जीव सर्व दु खो से मुक्त हो जाता है।

३. भणन्ता अकरेन्ता य बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं।। (उ० ६ . ६)

ज्ञान से ही मोक्ष वतलाने वाले, पर किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न करने वाले, ऐसे वन्ध-मोक्ष के व्यवस्थावादी लोग, केवल वचनो की वीरतामात्र से अपनी आत्मा को आश्वासन देते है।

४. न चित्ता तायए भासा कओ विज्जाणुसासण ?।
विसन्ना पावकम्मेहि बाला पडिय माणिणो।। (उ० ६ : १०)

नाना प्रकार की भाषाएँ जीव को दुर्गति से नहीं बचातीं। विद्याओ का अनुशासन (आधिपत्य) भी कहाँ से रक्षक होगा ? आश्चर्य है कि अपने-आप को पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य पाप कर्म मे निमग्न हैं।

५. समिक्ख पडिए तम्हा पासजाईपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए।। (उ० ६ . २)

इसलिए पण्डित पुरुष अनेक प्रकार के बधन और नाना जाति-पथ (एकेन्द्रिय आदि जीव-योनियो) की समीक्षा कर आत्मा द्वारा सत्य की गवेषणा करे और सर्व प्राणियो के प्रति मैत्री का आचरण करे।

६ जे केइ सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केण सव्वे ते दुक्खसभवा।। (उ० ६ . ११)

जो भी मनुष्य मन, वचन, काया से सर्व प्रकार से शरीर, वर्ण और रूप मे आसक्त होते हैं, वे सब अपने लिए दु ख उत्पन्न करते हैं।

७. बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे।। (उ० ६ . १३)

आत्मिक सुख—जो इन्द्रिय सुख से परे और ऊँचा है—उसकी अभिलाषा करे। कभी भी बाह्य अर्थात् विषय-सुखो की कामना न करे। इस देह का पालन-पोषण पूर्व कर्मो के क्षय के लिए ही करे।

८. णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतु।
गंतु कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अधयारम्मि।। (भग० आ० ७७१)

जो ज्ञान के प्रकाश के बिना मोक्ष-मार्ग पर चलना चाहता है, वह उस अधे की तरह है, जो अधकार मे दुर्गम जगल मे चलने की इच्छा करता है।

६ जदि पडदि दीवहत्थो अवडे कि कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं।।
(मूल० १० : १५)

जिसके हाथ मे दीपक है वही पुरुष यदि कुऍं मे गिर जाय तो दीपक हाथ मे लेने से क्या लाभ हुआ ? इसी तरह ज्ञान प्राप्त करने पर भी मनुष्य यदि अन्याय का आचरण करे तो उसके शास्त्र पढने से क्या लाभ ?

१० संजोग-सिद्धीय उ गोयमा फलं न हु एग-चक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समेच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा।।
(महा० नि० १ : ३६)

गौतम! ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही सिद्धि-रूप फल मिलता है। एक चक्के से रथ नहीं चलता। अंधा और पगु जगल मे मिले एव दोनो एक-दूसरे से सयुक्त होकर नगर मे प्रविष्ट हुए।

११. जेण तच्च विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (मूल० ५ : ८५)

जिससे तत्त्व जाना जाय, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे आत्मा की विशुद्धि हो, उसे ही जिन-शासन मे ज्ञान कहा है।

१२. जेण रागा से विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (मूल० ५ : ८६)

जिससे जीव राग से विरक्त हो, जिससे श्रेय मे रक्त हो, जिससे मैत्री-भाव की वृद्धि हो, उसे ही जिन-शासन मे ज्ञान कहा गया है।

१३. मइधणुहं जस्स थिर सुदगुण वाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।। (बो० पा० २३)

जिसके पास मतिज्ञानरूपी दृढ धनुष है, श्रुतज्ञानरूपी डोरी है, रत्नत्रयरूपी अच्छे बाण हैं और जिसने परमार्थ को निशान बनाया है, वह मोक्ष-मार्ग से नहीं चूकता।

३. संयम और तप

१ पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासओ।। (उ० ३० : २)

हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत जीव अनास्रव (नए कर्मार्जन से रहित) हो जाता है।

२ पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो।।[1] (उ० ३० . ३)

१ मिलावे मू० ७४१

मणवयणकायगुत्तिदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे।।

जो जीव पॉच समितियो से समित, तीन गुप्तियो से गुप्त, चार कषायो से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनास्त्रव हो जाता है।

३. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे।।
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ।। (उ० ३० : ५, ६)

जिस तरह जल आने के मार्गो को रोक देने पर बडा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमश सूख जाता है, उसी तरह आस्त्रव—पाप-कर्म के प्रवेश-मार्ग को रोक देने वाले सयमी पुरुष के करोडो भवो के सचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड जाते है।

४. तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।
ण हु सोत्ते पविसते किसिणं परिसुस्सदि तलाय।।
(भ० आ० १८५४)

तालाब मे स्त्रोत से जल प्रवेश करते रहने पर जैसे वह तालाब पूरा नहीं सूख पाता वैसे ही जिन वचन के अनुसार सवररहित मनुष्य को केवल तप से मोक्ष नहीं होता।

५. सजमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो।। (मू० ५ ५५)

सयम और योग से युक्त जो पुरुष अनेक (बारह) भेदरूप तप मे प्रवृत्ति करता है, वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है।

६. जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु सतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहि कणयं वा।।[1] (मूल० ५ : ५६)

जैसे सुवर्ण धमाने और अग्नि द्वारा तपाने पर मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है, उसी तरह यह जीव भी तपरूपी अग्नि से तपाया जाने पर कर्मो से रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

७. णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो।
दहइ तवो भववीय तणकट्ठादी जहा अग्गी।। (मू० ७४७)

ज्ञानरूपी प्रचड पवन से युक्त, शील, उत्तम समाधि और सयम से प्रज्वलित तप ससार के कारणभूत कर्मो को वैसे ही भस्म कर देता है, जैसे अग्नि तृण, काष्ठ आदि को।

---

१ मू० २४३।

८ चिरकालमज्जिदपि य विहुणदि तवसा रयति णाऊण।
दुविहे तवम्मि णिच्च भावेदव्वो हवदि अप्पा।। (मू० ७४८)

बहुत काल का भी सचित कर्म-रज तप से नष्ट हो जाता है, ऐसा जानकर दो प्रकार के तप मे आत्मा को निरन्तर भावित करना चाहिए।

९ जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति।
एव अत्त-समाहिए अणिहे। (आ० १,४ (३) · ३३)

जिस तरह अग्नि पुरानी सूखी लकडी को शीघ्र जला डालती है, उसी तरह आत्मनिष्ठ ओर स्नेहरहित जीव तप से कर्मों को शीघ्र जला डालता है।

१० सउणी जह पसुगुंडिया विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एव दविओवहाणवं कम्म खवइ तवस्सि माहणे।।
(सू० १,२ (१) . १५)

जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर मे लगी हुई रज को अपना शरीर कँपाकर झाड देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिसक तपस्वी अनशन आदि तप द्वारा अपने आत्मप्रदेशो से कर्म-रज को झाड देता है।

११ खवेत्ता पुव्वकम्माइं सजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो।। (उ० २८ : ३६)

सर्व दु खो का क्षय करने की कामना वाले पुरुष सयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मो का क्षय कर सिद्धि गति को प्राप्त करते है।

१२ तवनारायजुत्तेण भेत्तुण कम्मकंचुयं।
मुणि विगयसगामो भवाओ परिमुच्चए।। (उ० ६ : २२)

तपरूपी वाण से सयुक्त हो, कर्मरूपी कवच का भेदन करनेवाला ज्ञानी पुरुष सग्राम का अत ला, ससार से (जन्म-जन्मान्तर से) मुक्त हो जाता है।

१३ पडिए वीरिय लद्धु णिग्घायाय पवत्तग।
धुणे पुव्वकड कम्म णव चावि ण कुव्वइ।। (सू० १,१५ · २२)

पडित पुरुष, कर्मो को विदारण करने मे समर्थ वीर्य को पाकर नवीन कर्म न करे और पूर्वकृत कर्मो को धुन डाले।

४. त्रिरत्न

१ रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाण।। (मो० पा० ३४)

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आराध्य है, जीव आराधक है, अनुष्ठान आराधना है। आराधना करने का फल केवलज्ञान की प्राप्ति हे।

२ सिद्धे सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य।
सो जिणपरेहि भणिओ जाण तुम केवलं णाण।। (मो० पा० ३५)

जिनवर भगवान ने सिद्ध पद को प्राप्त शुद्ध आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी कहा है, उसे ही तुम केवलज्ञान जानो। (केवलज्ञान आत्मरूप है। उसकी प्राप्ति शुद्धात्मा की प्राप्ति है।)

३. रयणत्तयं पि जोइ आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाण पिरहरदि परं ण सदेहो।। (मो० पा ३६)

जो योगी जिनवर भगवान के द्वारा बताए हुए मार्ग के अनुसार रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आत्मा का ध्यान करता है और परवस्तु का त्याग करता है, इसमे कोई सदेह नहीं है।

४ ज जाणइ त णाणं ज पिच्छइ त च दसणं णेयं।
तं चारित्त भणिय परिहारो पुण्णपावाणं।। (मो० पा० ३७)

जो जानना है वह ज्ञान है, जो देखना है (श्रद्धा करना है) वह दर्शन है और जो पुण्य और पाप का परित्याग है वह चारित्र है।

५ तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहण च हवइ सण्णाण।
चारित्त परिहारो पयंपिय जिणवरिंदेहि।। (मो० पा० ३८)

तत्त्वो मे रुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। तत्त्वो के स्वरूप को ठीक-ठीक ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। कर्मो को लाने वाली क्रियाओ को त्यागना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

६ दंसणसुद्धो सुद्धो दसणसुद्धो लहेइ णिव्वाण।
दसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।। (मो० पा० ३६)

जो दर्शन से शुद्ध है वह शुद्ध है। जो दर्शन से शुद्ध हे वह निर्वाण को प्राप्त करता है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है वह ईप्सित लाभ—मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।

७ इय उवएस सार जरमरणहर खु मण्णए ज तु।
त सम्मत्तं भणियं समणाण सावयाणं पि।। (मो० पा० ४०)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का यह उपदेश ही सारभूत है, यही जरा और मरणादि का हरने वाला है, जो ऐसा मानता है उसे ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कही है। यह सम्यग्दर्शन मुनि और श्रावक दोनो के लिए है।

८ जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण।
त सण्णाण भणियं अवियत्थ सव्वदरसीहि।। (मो० पा० ४१)

जिनवर भगवान के द्वारा बतलाए हुए मार्ग के अनुसार जो योगी जीव और अजीव को जानता है, उसे सर्वदर्शी परमात्मा ने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है।

९ ज जाणिऊण जोई परिहार कुणइ पुण्णपावाण।
त चारित्त भणिय अवियप्प कम्मरहिएण।। (मो० पा० ४२)

उस जीव और अजीव के भेद को जानकर जो योगी पुण्य और पाप का त्याग करता है, उसे कर्मो से रहित जिनेन्द्र देव ने निर्विकल्प चारित्र कहा है।

१० जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं सजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपय झायतो अप्पय सुद्ध।। (मो० पा० ४३)

जो सयमी रत्नत्रय से युक्त होता हुआ अपनी शक्तिपूर्वक तप करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद—मोक्ष को प्राप्त करता है।

५. समायोग

१ णाणेण दसणेण य तवेण चरियेण सजमगुणेण।
चउहि पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। (द० पा० ३०)

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्ररूपी सयम गुण से अर्थात् इन चारो के समायोग से जिन-शासन मे मोक्ष कहा गया है।

२. तवरहिय ज णाण णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाण।। (मो० पा० ५९)

तपरहित ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञानरहित तप भी व्यर्थ है। अत ज्ञान और तप से सयुक्त मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

३. अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइ करेदि निरवसेसाइ।
तह वि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो।। (सू० पा० १५)

जो आत्मा को नहीं चाहता और समस्त धर्माचरण करता है उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे मनुष्य को ससारी ही कहा है।

४. एएण कारणेण य त अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्ख तं जाणिज्जह पयत्तेण।। (सू० पा० १६)

इस कारण हे मनुष्य! तू मन, वचन, काया से उस आत्मा का श्रद्धान कर तथा प्रयत्नपूर्वक उस आत्मा को जान, जिससे तू मोक्ष को प्राप्त कर सके।

५ ण हि आगमेण सिज्सदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।
(प्र० सा० ३ : ३७)

यदि जीवादि पदार्थो का श्रद्धान नहीं है तो आगम के जानने से भी मुक्ति नहीं होती। इसी तरह जीवादि पदार्थो का श्रद्धान होते हुए भी यदि मनुष्य असयमी है तो उसे भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

६ बहुगंपि सुदमधीदं कि काहदि अजाणमाणस्स।
दीवविसेसो अधे णाणविसेसोवि तह तस्स।।[1] (मूल० १० : ६५)

जो आचरण रहित है वह बहुत से शास्त्रो को भी पढ ले तो उसका वह शास्त्रज्ञान क्या कर सकता है? जैसे अंधे के हाथ मे दीपक की कोई विशेषता नहीं होती, उसी प्रकार आचरणहीन के ज्ञान की कोई विशेषता नहीं होती।

७. णाण करणविहूणं लिगग्गहण च दसणविहूणं।
सजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि।।
(भग० आ० ७७०)

ऐसा ज्ञान, जिसके साथ चारित्र नहीं है, ऐसा वेश-ग्रहण, जिसके साथ दर्शन नहीं है, ऐसा तप, जो सयम से रहित है—जो इनकी साधना करता है वह निरर्थक साधना करता है।

८ धीरो वइरग्गपरो थोव हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं।। (मूल० ६ : ३)

१ सुबहु पि सुयगहीय कि काठी चरणविप्पमुक्कस्स।
अधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्स कोडी वि।। (आ० नि०)

जो पुरुष धीर और वैराग्यपरायण है वह थोडा पढा हो तो भी सिद्धि से युक्त होता है।। सब शास्त्रो को पढ लेने पर भी जो वैराग्यहीन है उस पुरुष की सिद्धि नहीं होती।

६ थोवह्मि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण।। (मूल० ६ : ६)

जो चारित्र से सम्पूर्ण होता है वह थोडा-सा पढा होने पर भी बहुश्रुत को जीत लेता है। जो चारित्र से हीन है उसके बहुत शास्त्र पढ लेने से भी क्या लाभ ?

१०. णाण करणविहीणं लिगग्गहण च सजमविहीणं।
दसणरहिदो व तवो जो कुणइ णिरत्थय कुणइ।। (मूल० १० : ६)

जो पुरुष क्रियारहित ज्ञान, सयमरहित साधु-वेष, सम्यक्त्वरहित तप को धारण करता है वह उन्हे निरर्थक ही धारण करता है।

११. सम्मत्तादो णाण णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि।। (मूल० १० : १२)

सम्यक्त्व से ज्ञान—सम्यग्ज्ञान होता है, ज्ञान से सब पदार्थो के स्वरूप की पहचान होती है और जिसने पदार्थो का स्वरूप अच्छी तरह जान लिया है वही हित और अहित को जानता है।

१२ बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स कि करिस्सति।
(मूल० १० : २६ ग, घ)

मूलगुणरहित पुरुष के सब बाह्य योग क्या कर सकते है ?

१३ घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भतरह्मि कुहिदस्स तस्स दु कि बज्झजोगेहि।। (मू० ६६४)

बाह्य मे बगुले के समान निश्चल हाथ-पॉव वाले और घोडे की लीद के सामान चिकने और अभ्यतर मे कुत्सित साधक के बाह्य योगो से क्या लाभ ?

१४ भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।। (मू० ६६५)

जो भाव—अतरग मे विरक्त है, वास्तव मे वही विरक्त है। केवल बाह्य विरक्त की सुगति नहीं होती। इसलिए विषय-वन मे क्रीडालपट मनरूपी हाथी को रोकना चाहिए।

: ५ :

धर्म

१. दस धर्म

१ उत्तमखम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्च च संजम चेव।
तव-चागमकिचण्हं बह्मा इन्दि दसविह होदि।।(कुन्द० अ० ७०)

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य—ये धर्म के दस भेद है।

२. कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंग जदि हवेदि सक्खाद।
ण कुणदि किचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।।
(कुन्द० अ० ७१)

क्रोध की उत्पत्ति का साक्षात् बाह्य कारण होने पर भी जो किचित् भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमा धर्म होता है।

३ कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु तव-सुद-सीलेसु गारवं किचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।।
(कुन्द० अ० ७२)

जो कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील का किचित् भी मद नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।

४ जे चितेइ ण वक ण कुणदि वक ण जपए वक।
ण य गोवदि णिय-दोस अज्जव-धम्मो हवे तस्स।। (द्वा० अ० ३९६)

जो मन मे वक्र चिन्तन नहीं करता, जो काय से वक्र आचरण नहीं करता, जो वचन से वक्र नहीं बोलता और अपने दोषो को नहीं छिपाता, उसके उत्तम आर्जव धर्म होता है।

५ परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्च।। (कुन्द० अ० ७४)

दूसरो को सन्ताप पहुँचाने वाले वचनो का त्याग कर जो अपना और दूसरो का हित करने वाला वचन बोलता है, उसके चौथ सत्य धर्म होता है।

६ कखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्च।। (कुन्द० अ० ७५)

जो आकाक्षा-भाव को दूर करके वैराग्य भावना से युक्त रहता है, उसके शौच धर्म होता है।

७. सम-संतोस-जलेण य जो धोवदि तिव्व-लोह-मल-पुज।
भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।।
(द्वा० अ० ३६७)

जो समभाव और सन्तोषरूपी जल से तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को धोता है, जो भोजन की गृद्धि से रहित है, उसके निर्मल शौच धर्म होता है।

८. जो जीव-रक्खण-परो गमणागमणादि-सव्व-कम्मेसु।
तण-छेदं पि ण इच्छदि संजम-भावो हवे तस्स।। (द्वा० अ० ३६६)

जीवो की रक्षा मे तत्पर जो मनुष्य गमनागमन आदि सब कार्यो मे तृण का भी छेद नहीं चाहता, उसके सयम धर्म होता है।

६ इह-परलोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो।
विविह काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मल्लो तस्स।।
(द्वा० अ० ४००)

जो इहलोक-परलोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ सुख-दु ख, शत्रु-मित्र, तृण-कचन, निन्दा-प्रशसा आदि से राग-द्वेष रहित समभावी होता हुआ अनेक प्रकार के काय-कलेश करता है, उसके निर्मल तप धर्म होता है।

१० विसय-कसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाण तस्स तव होदि णियमेण।। (कुन्द० अ० ७७)

विषय और कषाय भाव का निग्रह कर, जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना भाता है, उसके नियम से तप धर्म होता है।

११ णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।। (कुन्द० अ० ७८)

जो समस्त द्रव्यों से मोह का त्याग कर तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है, उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

१२ जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं।
वसदि ममत्त-हेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स।।(द्वा० अ० ४०१)

जो मिष्ट भोजन को छोडता है, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तुओ को छोडता है, ममत्व के हेतु वास-स्थान को छोडता है, उसके त्याग नामक धर्म होता है।

१३ होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्ददेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं।।(कुन्द० अ० ७९)

जो समस्त परिग्रह को छोडकर और सुख-दु ख देने वाले आत्म-भावो का निग्रह कर निर्द्वन्द्व रहता है, उसके आकिचन्य धर्म होता है।

१४. जो परिहरेदि संग, महिलाण णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणियत्तो णवहा बंभं हवे तस्स।। (द्वा० अ० ४०३)

जो स्त्रियो की सगति नहीं करता, उनके रूप को नहीं देखता, काम-कथादि से रहित होता है तथा जो मन, वचन, काया तथा कृत, कारित, अनुमति से ऐसा करता है, उसके ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

१५ एसो दह-प्पयारो धम्मो दह-लक्खणो हवे णियमा।
अण्णो ण हवदि धम्मो हिसा सुहमा वि जत्थत्थि।। (द्वा० अ० ४०५)

यह दस प्रकार का धर्म ही नियम से दसलक्षणरूप धर्म है। इससे अन्य जहॉ सूक्ष्म भी हिसा हो, वह धर्म नहीं है।

१६. एदे दह-प्पयारा पाव-कम्मस्स णासया भणया।
पुण्णस्स य सजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा।। (द्वा० अ० ४०६)

ये दस प्रकार के धर्म के भेद पाप-कर्म का नाश करने वाले और पुण्य-कर्म को उत्पन्न करने वाले कहे गए है, परन्तु पुण्य के प्रयोजन से इनको अगीकार करना उचित नहीं है।

२. धर्म-स्थित

१ जो धम्मत्थो जीवो सो रिउ-वग्गे वि कुणइ खम-भावं।
ता पर-दव्वं वज्जइ जणणि-समं गणइ पर-दारं।।
(द्वा० आ० ४२६)

जो जीव धर्म मे स्थित है वह शत्रुओ के समूह पर भी क्षमा भाव करता है, दूसरे के द्रव्य का वर्जन करता है और परस्त्री को मॉ के समान समझता है।

२. धुट्टिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि।
माणुसभवे वि धुट्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा।।(भग० आ० १८३१)

जो व्यक्ति मनुष्य-भव में भी धर्म को छोडकर भोगो की अभिलाषा करता है, वह वैसा ही है जैसा वह जो रत्नद्वीप पहुँचकर भी रत्नो को छोडकर लकडियों को इकट्ठा करता है।

३. गतूण णदणवण अभय छडिय विस जहा पियइ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा।।(भग० आ० १८३२)

जो व्यक्ति दुर्लभ मनुष्य-भव मे भी धर्म को छोडकर भोगो की चाह करता है, वह वैसा ही है जैसे वह जो नंदन वन मे जाकर भी अमृत को छोड विषपान करे।

४. हिंसारंभो ण सुहो देव-णिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो।। (द्वा० अ० ४०६)

चूँकि हिंसा पाप कही गई है और धर्म को दयाप्रधान कहा गया है, इसलिए देव के निमित्त अथवा गुरु के कार्य के निमित्त हिसा करना शुभ नहीं है।

५. देव-गुरूण णिमित्तं हिंसारम्भो वि होदि जदि धम्मो।
हिंसा-रहिओ धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलियं।। (द्वा० अ० ४०७)

यदि देव ओर गुरु के निमित्त हिसा का आरम्भ भी धर्म हो तो 'धर्म हिसा रहित है' ऐसा जिमेन्द्र वचन असत्य सिद्ध होगा।

६ मरणभयभीरुआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं।
तं दाणाणवि दाणं तं पुण जोगेसु मूलजोगंपि।। (मू० ६३६)

मरण-भय से भयभीत सव जीवों को जो अभयदान देता है वही दान सव दानो मे उत्तम है और वह दान सव आचरणो मे प्रधान आचरण है।

७ आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु बहो।
अप्पा ण हु हंतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो।। (मू० ६२१)

आरम्भ में जीवघात होता हे। जीवघात होने से आत्मघात होता है। चूँकि आत्मघात करना ठीक नहीं, अत आरम्भ—हिसा का त्याग करना ही उचित है।

३. आत्मार्थ : परार्थ

१. आतं पर च जाणेज्जा सव्वभावेण सव्वधा।
आयट्ठं च परट्ठं च पियं जाणे तहेव य।। (इसि० ३५ : १२)

साधक 'स्व' और 'पर' का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे, साथ ही आत्मार्थ और परार्थ को भी जाने।

२. सए गेहे पलित्तम्मि किं धावसि परातकं ?।
सयं गेहं णिरित्ताणं ततो गच्छे परातकं।। (इसि० ३५ : १३)

अपना घर जल रहा है तव दूसरे के घर की ओर क्यो दौड रहे हो ? स्वय के घर का वचाव कर लेने के बाद दूसरे के घर की ओर जाओ।

३ आतट्ठे जागरो होही नो परट्ठाहि धारए।
आतट्ठो हावए तस्स जो परट्ठाहि धारए।। (इसि० ३५ : १४)

आत्मार्थ के लिए जागृत बनो। परार्थ को धारण न करो। जो परार्थ को अपनाता है, वह आत्मार्थ को खो बैठता है।

४ जइ परो पडिसेवेज्ज पाविय पडिसेवणं।
तुज्झ मोण करेंतस्स के अट्ठे परिहायति ?।। (इसि० ३५ : १५)

यदि दूसरा कोई पाप सेवन कर रहा है तो तुझे मौन मे क्या हानि होती है।

५ आतट्ठो णिज्जरायतो परट्ठो कम्मबधणं।
अत्ता समाहिकरण अप्पणो य परस्स य।। (इसि० ३५ १६)

आत्मार्थ निर्जरा का हेतु है और परार्थ कर्म-बन्धन का हेतु। आत्मा ही स्व और पर के लिए समाधि का करने वाला है।

६ अण्णातयम्मि अट्टालकम्मि कि जग्गिएण वीरस्स ?।
णियगम्मि जग्गियव्व इमो हु बहुचोरतो गामो।।(इसि० ३५ . १७)

अज्ञात अट्टालिका मे वीर के जागने से क्या होगा ? स्वय को जागना होगा। क्योकि यह ग्राम बहुत चोरो का है।

७ जग्गाहि मा सुवाहि माते धम्मचरणे पमत्तस्स।
काहिति बहु चोरा संजमजोगे हिडाकम्मं।। (इसि० ३५ : १८)

जाग्रत रहो। सोओ मत। धर्माचरण मे प्रमत्त होने पर तुम्हारे सयम-योग को बहुत से चोर लूट लेगे।

८ जागरह णरा णिच्च जागरमाणस्स जागरति सुत्तं।
जे सुवति न से सुहिते जागरमाणे सुही होति।।(इसि० ३५ : २२)

मनुष्यो ! सदा जाग्रत रहो। जाग्रत रहने वाले कि लिए सूत्र भी जाग्रत रहता है। जो सोता है वह सुख प्राप्त नहीं करता। जाग्रत रहने वाला सुखी होता है।

९. जागरंत मुणि वीरं दोसा वज्जेति दूरओ।
जलतं जातवेथं वा चक्खुसा दाहभीरुणो।। (इसि० ३५ : २३)

जाग्रत वीर पुरुष को दोष वैसे ही दूर से ही छोड देते हैं जैसे ऑखो से देखते ही दाह-भीरु मनुष्य ज्वलित अग्नि को दूर से ही छोड देते हैं।

: ६ :

कामभोग

१. कामभोग

१. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई।। (उ० २५ ३६)

भोग मे कर्मों का उपलेप—वन्धन—होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी को जन्म-मरण रूपी ससार मे भ्रमण करना पडता है, जवकि अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है।

२. उल्लो सुक्को य वो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोतत्थ लग्गई।।
एव लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरात्ता उ न लग्गंति, जहा सुक्को उ गोलओ।।
(उ० २५ : ४०, ४१)

जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टी के गोलो को फेकने पर दोनो दीवार पर गिरते हैं, किन्तु गीला ही दीवार के चिपकता है, उसी प्रकार जो काम-लालसा मे आसक्त और दुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य होते हैं, वे संसार मे वन्धन को प्राप्त होते हैं। जो कामभोगो से विरक्त होते हैं, वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते, जैसे सूखा गोला दीवार के नहीं चिपकता।

३ खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।
(उ० १४ : १३)

कामभोग क्षणिक (इन्द्रिय) सुख देने वाले होते है और दीर्घकालीन आत्मिक दु ख। उनसे सुखानुभव तो नाममात्र होता है ओर दु ख का कोई ठिकाना नहीं। ससार से छुटकारा पाने मे ये विघ्नकारी है। ये कामभोग अनर्थों की खान हैं।

४. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं।। (उ० ६ · ५३)

कामभोग शल्यरूप हैं, कामभोग विषरूप हैं, आशीविष सर्प के सदृश हे। भोगो की प्रार्थना करते-करते जीव बिचारे उनको प्राप्त किये बिना ही दुर्गति मे चले जाते है।

५ सव्व विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बिय।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।। (उ० १३ : १६)

सर्व गीत विलाप है, सर्व नाट्य विडम्बना है, सर्व आभूषण भार है और सर्व कामभोग दु खावह हैं।

६ गिद्धोवमे उ नच्चाणं, कामे संसारेवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व संकमाणो तणुं चरे।। (उ० १४ · ४७)

गीध पक्षी के दृष्टान्त से[1] कामभोगो को ससार को बढानेवाले जानकर विवेकी पुरुष, गरुड के समीप सर्प की तरह, कामभोगो से सशकित रहता हुआ चले।

७ इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्ग, ज भुज्जो परिभस्सई।।
इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे जनावरज्झई ।। (उ० ७ · २५, २६ क, ख)

इस ससार मे कामभोगो से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। मोक्ष-मार्ग को सुनकर भी वह उससे पुन-पुन भ्रष्ट हो जाता है। इस मनुष्य-भव मे कामभोगो से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता।

८. कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धमि आउए।
कस्स हेडि पुराकाउ, जोगक्खेम न सविदे ?।। (उ० ७ · २४)

इस सीमित आयु मे कामभोग कुश के अग्रभाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योगक्षेम को नहीं समझते ?

९ जे गिद्धे काम-भोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु-दिट्ठा इमा रई।। (उ० ५ ५)

जो कोई मनुष्य शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पॉच प्रकार के कामभोगो मे आसक्त होता है, वह नाना पापकृत्य मे प्रवृत्त होता है। जब उसे कोई धर्म की बात कहता है, तो वह कहता है "मैने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगो का आनन्द तो ऑखो से देखा जाता है। यह प्रत्यक्ष है।

१० हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो?।। (उ० ५ : ६)

"ये वर्तमान काल के कामभोग हाथ मे आए हुए है। भविष्य के कामभोग कब मिलेगे—कौन जानता है और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं?"

---

१ जिस गीध के पास मांस होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं, जिसके पास मास नहीं होता उस पर नहीं झपटते।

११ जणेण सद्धि होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई।। (उ० ५ · ७)

"मैं तो अनेक लोगो के साथ रहूँगा"—मूर्ख मनुष्य इसी प्रकार धृष्टता भरी बाते कहा करता है। ऐसा मनुष्य कामभागो के अनुराग से इस लोक और परलोक मे क्लेश की प्राप्ति करता है।

१२. जे इह सायागुणा णरा, अज्झोववण्णा कामेहि मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, ण वि जाणंति समाहिमाहियं।।
(सू० १, २ (३) : ४)

इस संसार मे जो मनुष्य सुखशील हैं, समृद्धि, रस और सुख मे गृद्ध हैं, कामभोग मे मूर्च्छित हैं, इन्द्रिय-लम्पट पुरुषो की तरह धृष्ट हैं, वे वीतराग पुरुषो के बताये समाधि-मार्ग को नहीं जानते।

१३ वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।
से अंतसो अप्पथामए, णाईवचए अबले विसीयइ।।
एवं कामेसणाविऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुइं।।

(सू० १, २ (३) · ५, ६)

जिस तरह वाहक द्वारा चावुक मारकर प्रेरित किया हुआ अर्थात् त्रास देकर हॉका जाता हुआ बैल थक जाता हे और मारे जाने पर भी अल्प बल के कारण आगे नहीं चलता और रास्ते मे कष्ट पाता है, उसी तरह क्षीण मनोबल वाला अविवेकी पुरुष सद्‌वोध पाने पर भी कामभोगरूपी कीचड से नहीं निकल सकता। आज या कल इन भोगो को छोड़ूँगा, वह केवल यही सोचा करता है। सुख चाहने वाला पुरुष काम भोगो की कामना न करे और प्राप्त हुए भोगो को भी अप्राप्त हुआ करे—त्यागे।

१४. मा पच्छ असाहुया भवे अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयई से थणई परिदेवई बहुं।। (सू० १, २ (३) : ७)

कहीं परभव मे दुर्गति न हो इस विचार से आत्मा को विषय-सग से दूर करो और उसे अकुश मे रखो। असाधु कर्म से तीव्र दुर्गति मे गया हुआ जीव अत्यन्त शोक करता है, आक्रन्दन करता है, विलाप करता है।

१५ इह जीवियमेव पासहा तरुण एव वाससयस्य तुट्टई।
इत्तरवासं व बुज्झहा गिद्ध णरा कामेसु मुच्छिया।।
(सू० १, २ (३) · ८)

ससार मे और पदार्थ की तो बात ही क्या, इस अपने जीवन को ही देखो। यह पल-पल क्षीण हो रहा है। कभी आयु तरुणावस्था मे पूरी हो जाती है और अधिक हुआ तो सौ वर्ष के छोटे-से काल मे। यहाँ कितना क्षणिक निवास है। हे जीव ! समझो। कितना आश्चर्य है कि आयुष्य का भरोसा न होते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामो मे मूर्च्छित रहते है।

१६. ण य सखयमाहु जीविय तह वि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पणेण्ण कारिय के दट्ठु परलोगमागए ?।।
(सू० १, २ (३) १०)

टूटा हुआ आयु नही जोडा जा सकता—ऐसा सर्वज्ञो ने कहा है; तो भी मूर्ख लोग धृष्टतापूर्वक पाप करते रहते है और कहते है, "हमे तो वर्तमान से ही मतलब है। परलोक कौन देखकर आया है ?"

१७ अदक्खुव ! दक्खुवाहिय सद्दहसू अदक्खुदसणा।
हदि ! हु सुणिरुद्धदसणे ! मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा।।
(सू० १, २ (३) ११)

हे नहीं देखने वाले पुरुषो ! त्रिभुवन को देखने वाले ज्ञानी पुरुषो के वचनो पर श्रद्धा करो। मोहनीय कर्म के उदय से अवरुद्ध दर्शन-शक्ति वाले अध पुरुषो ! सर्वज्ञो के वचनो को ग्रहण करो।

१८ पुरिसोम पावकम्मुणा पलियंत मणुयाण जीवियं।
सण्णा इह काममुच्छिया मोह जति णरा असवुडा।।
(सू० १, २ (१) . १०)

हे पुरुष ! पाप कर्मो से निवृत्त हो जा। यह मनुष्य-जीवन शीघ्रता से दौडा जा रहा है। भोरूपी कीचड मे फॅसा हुआ और कामभोगो मे मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिता-हित विवेक को खोकर मोहग्रस्त होता है।

२. मृगतृष्णा

१ कच्छु कडुयमाणो सुहाभिमाण करेदि जह दुक्खे।
दुक्खे मुहाभिमाण मेहुण आदीहि कुणहि तहा।।
(भग० आ० १२५२)

जैसे कच्छु रोग को नखो से खुजलाने वाला मनुष्य दु ख मे सुख का अभिमान करता है, वैसे ही मैथुन आदि दु खो मे प्राणी सुख का अभिमान करता है।

२. घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी।।

(भग० अ० १२५३)

घोषातकी नामक कड़ुए फल को खाता हुआ मूर्ख कृमि जैसे उसको मीठा मानता है, वैसे ही कामी पुरुष वास्तव में दुःख का भोग करता हुआ उसको सुख मानता है।

३. ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं।।
महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं।।

(भग० आ० १२५५-५६)

जैसे कुत्ता रक्तहीन सूखी अस्थि को चबाता हुआ रस को प्राप्त नहीं करता किन्तु अपने ही तालू से निकले हुए रक्त को चूसता हुआ सुख मानता है वैसे ही स्त्री आदि भोगों का सेवन करने वाला पुरुष थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं करता, किन्तु अपने शरीर के परिश्रम को ही सुख मान लेता है।

४. सुट्ठु वि मग्गिजंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तण णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि।।

(भग० आ० १२५४)

सूक्ष्म रूप से अन्वेषण करने पर भी कदली में कहीं भी कोई सार नहीं देखा जाता, वैसे ही खोज करने पर भी भोगों में थोडा भी सुख नहीं पाया जाता।

५. दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स।।

(भग० आ० १२५७)

जैसे जंगल में विचरने वाले तृषित हिरणों को मृगतृष्णिका जल के समान दीखती है, वैसे ही राग-भाव से तृषित मनुष्यों को भोग सुख-रूप दिखाई देते हैं।

६. वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि।
तह कुणिमदेहसंफंसणेण अवुहा सुखायंति।।

(भग० आ० १२५८)

श्मशान में व्याघ्र शव का भक्षण कर तृप्त होता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य कुत्सित शरीर के स्पर्श से सुख का अनुभव करता है।

७. तह अप्प भोगसुह जह धावतस्स अठितवेगस्स।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं।। (भग० आ० १२५६)

ग्रीष्मकाल मे सूर्य के धूप से अभितप्त बिना रुके दौडते हुए पथिक को रास्ते मे वृक्ष की छाया से अल्प ही सुख मिलता है, वैसे ही इस जीव को भोग-पदार्थों से अल्प-सा ही सुख मिलता है।

८. अहवा अप्पं आसाससुहं सरिदाए उप्पिंतस्स।
भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण।। (भग० आ० १२६०)

अथवा नदी मे जल के प्रवाह से बहते चले जाते हुए पुरुष को अँगूठे से भूमि का स्पर्श होने से जैसे थोडा अश्वासन रूप सुख होता है, वैसे ही वैषयिक भोगो मे अल्प सुख होता है।

६ जावति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते।
को णाम तत्थ भोगेसु विभओ लद्धविजडेसु।। (भग० आ० १२६१)

जो भी भोग प्राप्त है वे तुम्हे अनन्त बार प्राप्त हुए हैं, अत प्राप्त कर छोडे हुए भोगो मे विस्मय जैसी क्या है ?

१० दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सत्तू।
अदिदुक्ख कदमाणा भोगा सत्तू किह ण हुंती।।
(भग० आ० १२७१)

दु ख उत्पन्न करने से यदि पुरुष पुरुष के शत्रु होते हैं तो अतिशय दु ख देने वाले इन्द्रिय-सुख क्यो न शत्रु माने जायेगे ?

११ इधइं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तण पुणमुवेति।
इधइ परलोगे वा सदाइ दु.खावहा भोगा।। (भग० आ० १२७२)

इसी जन्म मे अथवा पर-जन्म मे शत्रु पुन मित्रता धारण कर सकते हैं, परन्तु भोग इस लोक मे तथा परलोक मे सदा ही दु खकारी होते हैं।

१२ एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी।
भोगा से पुण दुक्ख करति भवकोडिकोडीसु।।
(भग० आ० १२७३)

शत्रु इस एक ही भव मे देह को दु ख उत्पन्न कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता है, परन्तु भोग कोटि-कोटि भवो मे दु ख उत्पन्न करते है।

१३. जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयतस्स।
कि ते करति भोगा मदो व वेज्जो मरंतस्स।।
(भग० आ० १२७७)

कुयोनियो मे दु ख का अनुभव करते हुए जीव की वे भोग क्या रक्षा कर सकते है? मरा हुआ वैद्य मरने वाले का क्या उपचार कर सकता है ?

१४ भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं।। (भग० आ० १२४८)

भोगोपभोग से जो सुख मनुष्य को होता है तथा भोग के नाश से जो दु.ख होता है—इन दोनो मे भोग-पदार्थो के नाश से उत्पन्न दु.ख ही अधिक होता है।

१५. जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसम लभदि।।
(भग० आ० १२५१)

जैसे कुष्ठी मनुष्य अग्नि का सेवन करता हुआ रोग की शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, वैसे ही भोगो को भोगता हुआ प्राणी संतोष को प्राप्त नहीं होता है।

१६ जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइ तण्हं दीविति से भोगा।।
(भग० आ० १२६२)

जैसे-जैसे मनुष्य भोगो को भोगता है, वैसे-वैसे ही उसकी भोग-तृष्णा बढती जाती है। जैसे ईंधन अग्नि को दीप्त करता है, वैसे ही भोगे हुए भोग तृष्णा को दीप्त करते है।

१७ जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहि भुंजमाणेहि।
तित्तीए विणा चित्त उव्वूर उव्वुदं होइ।।
(भग० आ० १२६३)

चिरकाल तक भोगो को भोग लेने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती। तृप्ति के बिना जीव का चित्त रिक्त और उत्कठित रहता है।

१८ जह इधणेहि अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहि।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं।। (भग० आ० १२६४)

जैसे ईंधन से अग्नि और सहस्रो नदियो से समुद्र की तृप्ति नहीं होती वैसे ही जीव कामभोगो से तृप्त नहीं हो सकते।

१९ उद्धुयमणस्स ण सुह सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्स घण्णस्स।।
(भग० आ० १२६७)

जिसका चित्त व्याकुल है, उसे सुख नहीं होता। सुख के बिना तृप्ति कैसे हो सकती है ? तृप्ति के बिना व्याकुल और उत्कठित व्यक्ति को रति (आनन्द) नहीं होता।

२० जो पुण इच्छदि रमिदु अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि।
कुणदि रदिं उवसतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी।।
(भग० आ० १२६८)

जो मनुष्य रमण करने की इच्छा करता है, वह उपशात हो तृप्ति करने वाले अध्यात्म-सुख मे रति करे। अध्यात्म-रति के समान दूसरी कोई रति नहीं है।

२१ अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमण परायत्त।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण।। (भग० आ० १२६९)

आत्म-स्वरूप विषयक रति स्वायत्त—परद्रव्य की अपेक्षा से रहित होती है। भोगरति परायत्त—परद्रव्यो पर अवलम्बित होती है। भोगरति मे च्युति है (क्योकि वह पर-द्रव्याश्रित होती है) आत्मरति मे च्युति नहीं होती (क्योकि आत्मा का सान्निध्य सदा रहता है)।

२२ भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होति अदिबहुगा।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा।।
(भग० आ० १२७०)

भोगरति से नियम से आत्मा का नाश होता है और इसमे अनेक विघ्न भी होते हैं, पर सुभावित अध्यात्म-रति से आत्मा का नाश नहीं होता और उसमे विघ्न नहीं है।

१. विनय : मानसिक, वाचिक, कायिक

१ अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाण च।
किदियम्म पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं।। (मू० ३८२)

अभयुत्थान—आचार्य आदि को देखकर उठना, नमस्कार, आसन-दान, अनुप्रदान—ग्रन्थ आदि देना, कृतिकर्म प्रतिरूप—भक्ति पूर्वक शीतादि का निवारण, आसन-त्याग—ऊँचे आसन आदि का त्याग, अनुदान—दूर तक साथ जाना—ये काय-विनय के सात भेद हैं।

२. पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयण अणिट्ठुरमकक्कस वयणं।।
उवसतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो।। (मू० ३७७, ३७८)

पूज्य वचनो से बोलना, हितकर बोलना, थोडा बोलना, मधुर बोलना, आगम के अनुसार बोलना, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन बोलना, क्रोधादि रहित वचन बोलना, आरम्भ रहित वचन बोलना, असि आदि की क्रिया से असम्पृक्त वचन बोलना, अवहेलना रहित वचन बोलना—यह वाचिक विनय है। इसे यथायोग्य जानना चाहिए।

३. हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्व।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव।। (मू० ३८३)

हितकर बोलना, थोडा बोलना, परिमित बोलना, विचारपूर्वक शास्त्रानुसार बोलना—ये चार भेद वचन-विनय के हैं। अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति—ये दो भेद मानसिक-विनय के हैं।

४. पापविसोतियपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ।। (मू० ३७६)

हिसादि पाप-परिणाम का त्याग, सम्यक्त्व आदि की विराधना के परिणाम का त्याग, प्रिय और हित मे परिणाम—यह मानसिक-विनय कहा गया है।

२. विनय के पॉच भेद

१ दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खह्मि एस विणओ पचविहो होदि णादव्वो।। (मू० ५८४)

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय, औपचारिक विनय—इस तरह मोक्षविनय के पाँच भेद हैं, ऐसा जानना चाहिए।

२ उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा।
संकादिवज्जण पि य दसणविणओ समासेण।। (मू० ३६५)

उपगूहन आदि पूर्वोक्त गुण, पचपरमेष्ठी की भक्ति आदि और शंकादि दोषो का वर्जन—यह सक्षेप मे दर्शन-विनय है।

३ जे अत्थपज्जया खलु उवदिड्डा जिणवरेहि सुदणाणे।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो।। (मू० ३६६)

जिनेश्वर देव ने श्रुतज्ञान मे जो पदार्थ और पर्याय कहे है, उसमे उसी प्रकार रुचि करना दर्शन–विनय होता है।

४. णाणं सिक्खदि णाण गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि।
णाणेण कुणदि णाय णाणविणीदो हवदि एसो।। (मू० ३६८)

जो ज्ञान को सीखता है, ज्ञान का ही चितन करता है, दूसरे को भी ज्ञान का ही उपदेश करता है, और ज्ञान से ही न्याय प्रवृत्ति करता है वह जीव ज्ञान-विनय वाला होता है।

५ णाणि गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ।। (मू० ५८६)

ज्ञानी मोक्ष को जानता है, ज्ञानी पाप को छोडता है, ज्ञानी नवीन कर्मों को ग्रहण नहीं करता, ज्ञानी ज्ञान से चारित्र को अगीकार करता है इसलिए ज्ञान मे विनय करना चाहिए।

६ इदियकसायपणिहाणंपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो।। (मू० ३६६)

इन्द्रियो के व्यापार को रोकना, क्रोधादि कषायो के प्रचार को रोकना और समिति-गुप्ति—यह सब सक्षेप से चारित्र-विनय है, ऐसा जानना।

७ पोराणयकम्मरय चरिया रित्त करेदि जदमाणो।
णवकम्म ण य बज्झदि चरित्तविणओत्ति णादव्वो।। (मू० ५८७)

यतनाचार पूर्वक आचरण करता हुआ ज्ञानी चरित्र से पूर्व सचित कर्मरूपी रज को बाहर निकालता है और नवीन कर्मो का बंध नहीं करता, यही चारित्रविनय है, ऐसा जानना।

८. भत्तो तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचरित्तसाहुस्स।। (मू० ३७१)

तप मे जो अधिक है उनकी भक्ति, तपो की भक्ति तथा जो अन्य हैं उनकी अवहेलना न करना यह यथोक्त चारित्र का पालन करने वाले मुनियो का तप में विनय है।

९. अवणयदि तवेण तम उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणओत्ति णादव्वो।। (मू० ५८८)

जिसकी तप-विनय मे बुद्धि दृढ है, ऐसा पुरुष तप से पापरूपी अधकार को हटाता है और आत्मा को मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति कराता है, यही तप विनय है, ऐसा जानना।

१०. तह्मा सव्वपयत्ते विणयत्तं मा कदाइ छंडिज्जो।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण।। (मू० ५८९)

इसलिए सयमी पुरुष सब प्रयत्नो से (तप के प्रति) विनयभाव कभी न छोडे। थोडा श्रुत जानने वाला पुरुष भी इस (तप) विनय से कर्मो का नाश कर देता है।

११. पंचमहव्वदगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणाइ सदा ऊणरादिणिओ।। (मू० ५९०)

पॉच महाव्रतों के आचरण मे लीन, धर्म मे उत्साहवाला, उद्यमी, मान-रहित, दीक्षा मे लघु ऐसा संयमी निर्जरार्थी होकर रत्नाधिकों का कृतिकर्म करता है, यह उपचार-विनय है।

३. विनय : धर्म का मूल

१. विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फल विणयफलं सव्वकल्लाण।।[1] (मू० ३८५)

जो विनय से रहित है उसकी सारी शिक्षा निरर्थक होती है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल है सम्पूर्ण कल्याण।

१ भग० आ०, १२८

२ विणओ सासणमूलो विणयादी सजमो तवो णाणं।
विणयेण विप्पहूणस्स कुदो धम्मो कुदो य तवो।। (मू० ७ . १०४)

विनय जिन शासन का मूल है। विनय से सयम व ज्ञान की सिद्धि होती है। जो विनय से रहित होता है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप ?

३ विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।[1] (मू० ३८६ क, ख)

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही सयम, तप और ज्ञान होता है।

४. अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्लादकरण च।[2] (मू० ३८७ ग, घ)

आर्जव, मार्दव, लोभ का त्याग, गुरुओ की भक्ति, सबको प्रह्लाद उत्पन्न करना—ये सब विनय के गुण है।

५ कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरूजणे य बहुमाणो।
तित्थयराण आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।।[3] (मू० ३८८)

कीर्ति, मैत्री, गर्व-त्याग, गुरुजनो का बहुमान, तीर्थकरो की आज्ञा का पालन, गुणो मे प्रमोद—इतने गुण विनय करने वाले के प्रगट होते है।

६ जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य।
तम्हा वदति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा।। (मू० ५७८)

चूँकि आठ प्रकार के कर्मो का नाश करता है, चतुर्गति रूप ससार से मुक्त करता है, इस कारण से ससार से पार हुए पण्डित पुरुष इसको विनय कहते हैं।

७ मूलाओ खधप्पभवो दुमस्स, खंधाओ पच्छा समुवेति साहा।
साहप्पसाहा विरुहति पत्ता तओ से पुप्फ च फल रसो य।।
(द० ६ (२) . १)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओ से दूसरी छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती है। उनसे पत्ते निकलते हैं। इसके बाद क्रमश फूल, फल और रस उत्पन्न होते है।

८ एव धम्मरस्स विणओ मूल परमो से मोक्खो।
जेण कित्ति सुयं सिग्घं निस्सेस चाभिगच्छइ।। (द० ६ (२) २)

---

१ भग० आ०, १२९।
२ भग० आ०, १३०।
३ भग० आ०, १३१।

इसी तरह धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही मनुष्य श्लाघनीय शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति प्राप्त करता है। अन्त मे निःश्रेयस् (मोक्ष) भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है।

४. विनीत-अविनीत

१ अह चउदसहि ठाणेहि वट्टमाणो उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ।।
अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई।।
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं।।
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चई।। (उ० ११ : ६–६)

निम्न चौदह स्थानो मे वर्तन करने वाला सयमी अविनीत कहा जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। (१) जो बार-बार क्रोध करने वाला है, (२) जो क्रोध का प्रबन्ध करता है—उसे टिकाकर रखता है, (३) जो मित्रता करने वाले को छोडता है, (४) जो श्रुत-ज्ञान प्राप्त कर अभिमान करता है, (५) जो दोषी का तिरस्कार करता है, (६) जो मित्र के प्रति कुपित होता है, (७) जो सुप्रिय मित्र की भी एकात मे बुराई करता है, (८) जो असम्बद्ध बोलने वाला होता है, (६) जो द्रोही होता है, (१०) जो अहकारी होता है, (११) जो लोलुप होता है, (१२) जो अजितेन्द्रिय होता है, (१३) जो असविभागी होता है तथा (१४) जो अप्रतीतिकर होता है, वह अविनीत कहा जाता है।

२ अह पन्नरसहि ठाणेहि सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले।।
अप्प चाऽहिक्खिवई पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई सुयं लद्धुं मज्जई।।
न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई।।
कलहडमरवज्जए बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई।। (उ० ११ : १०-१३)

पन्द्रह स्थानो (कारणो) से व्यक्ति सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र होता है, (२) जो चपल नहीं होता, (३) जो मायावी नहीं होता, (४) जो कुतूहल नहीं करता,

(५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता, (६) जो क्रोध को टिकाकर नहीं रखता, (७) मित्रता करने वाले के साथ मित्र-भाव रखता है, (८) श्रुत का लाभ होने पर गर्व नहीं करता, (६) दोषी का तिरस्कार नहीं करता, (१०) मित्र पर कुपित नहीं होता, (११) अप्रिय मित्र की भी एकान्त मे बडाई करता है, (१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है, (१३) जो कुलीन होता है, (१४) जो लज्जाशील होता है, तथा (१५) जो प्रतिसलीन (इन्द्रिय और मन को गुप्त रखने वाला) होता है, वह बुद्ध पुरुष विनीत कह जाता है।

३ तहेव सुविणीयप्पा लोगसि नरनारिओ।
दीसति सुहमेहंता इड्ढि पत्ता महायसा।। (द० : ६ (२) . ६)

लोक मे जो पुरुष या स्त्री सविनीत होते है, वे ऋषि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखें जाते है।

४ जे य चडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा।। (द० . ६ (२) ३)

जो चण्ड, अज्ञ, स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ है, वह अविनीतात्मा ससारस्रोत मे वैसे ही प्रवहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत मे पडा हुआ काठ।

५ विवत्ती अविणीयस्स सपत्ती विणीयस्स य।
जस्सेय दुहओ नाय सिक्ख से अभिगच्छइ।। (द० : ६ (२) · २१)

अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है—ये दोनो जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।

६ नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाण सरण भूयाण जगई जहा।। (उ० . १ . ४५)

विनय के रूप को जानकर जो पुरुष नम्र हो जाता है, वह इस लोक मे कीर्ति प्राप्त करता है। जिस तरह पृथ्वी प्राणियो के लिए शरण होती है, उसी प्रकार वह धर्माचरण करने वालो के लिए आधार बन जाता है।

१. शील बनाम ज्ञान

१. सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहि णिदिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।। (शी० पा० २)

शील और ज्ञान इन दोनो मे प्रबुद्ध पुरुषों ने कोई विरोध नहीं कहा है। केवल इतना ही है कि शील के विना विषय ज्ञान का विनाश कर देते हैं।

२. णाणं णाऊणं णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा।। (शी० पा० ७)

ज्ञान को जानकर भी कई मनुष्य विषयादि भावो मे आसक्त होते हैं। वे विषयो में विमोहित मूढ मनुष्य चारों गतियो में भ्रमण करते हैं।

३. जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदि तवगुणजुत्ता ण संदेहो।। (शी० पा० ८)

जो ज्ञान को जानकर विषयो से विरक्त होते हैं, वे भावना सहित और तपोगुण से युक्त मनुष्य चार गति रूप संसार का छेदन करते हैं, इसमे जरा भी संदेह नहीं है।

४. जह कंचणं विशुद्ध धम्मइयं खंडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण।। (शी० पा० ९)

जैसे सुहागा और नमक के लेप से धमाया हुआ सोना विशुद्ध होता है, उसी प्रकार जीव ज्ञानरूपी विमल जल से प्रक्षालित होने पर विशुद्ध होता है।

५. णाणस्स णत्थि दोसो कप्पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति।। (शी० पा० १०)

कुछ मनुष्य ज्ञानगर्वित होकर विषयो मे आसक्त होते है। यह ज्ञान का दोष नहीं है, उन मन्दबुद्धि पुरुषो का दोष है।

६. णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाण जीवाणं चरित्तसुद्धाणं।। (शी० पा० ११)

सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आचरण से चारित्रशुद्धि को प्राप्त जीवो का परिनिर्वाण होगा।

७. सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होति।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए।। (शी० पा० १७)

जो भव्य प्राणी शील और गुणो से सम्पन्न होते है वे देवताओ के प्रिय होते हैं, पर जो अनेक श्रुतपारगामी होने पर भी दु शील होते है वे लोक मे तुच्छ गिने जाते हैं।

८. सीलं रक्खंताण दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरतचित्ताणं।। (शी० पा० १२)

जिनका चित्त विषयो से विरक्त है और जो शील की रक्षा करते हैं, उन दर्शन-विशुद्ध और चरित्र मे दृढ मनुष्यो को अवश्य ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

६. जइ विसयलोलएहि णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो नरयं।। (शी० पा० ३०)

यदि विषयलोलुप ज्ञानी द्वारा मोक्ष साध्य होता तो दशपूर्व का ज्ञानी सात्यकी-पुत्र रुद्र नरक मे क्यो गया ?

१०. जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो।
दसपुव्वियस्स य भावो ण कि पुण णिम्मलो जादो।। (शी० पा० ३१)

यदि प्रबुद्ध मनुष्यो ने शील के बिना ज्ञान से भावो की विशुद्धी कही होती तो दश-पूर्व के ज्ञाता रुद्र का भाव निर्मल क्यो नहीं हुआ ?

२. शील-महिमा

१ रूपसिरिगप्पिदाणं जुव्वणलावण्णकतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाण णिरत्थय माणुस जम्म।। (शी० पा० १५)

जो यौवन, लावण्य और काति से सुशोभित है, रूप और लक्ष्मी से गर्वित है, पर शील-गुण से रहित है उन पुरुषो का मनुष्य-जन्म निरर्थक है।

२ सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।
सील जेसु सुसील सुजीविदं माणुस तेसिं।। (शी० पा० १८)

जो प्राणियो मे सबसे हीन है, रूप से कुरूप हैं तथा वय से अत्यन्त पतित—गलित हैं, पर जिनमे सुन्दर शील है, उनका मनुष्य-जीवन सुजीवित है।

३ जीवदया दम सच्च अचोरिय बभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो।। (शी० पा० १६)

जीव-दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शील के परिवार हैं।

४. सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
शीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।। (शी० पा० २०)

शील ही विशुद्ध तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है, शील ही विषयो का शत्रु है और शील ही मोक्ष का सोपान है।

५. जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई।। (शी० पा० २१)

जो विषयलुब्ध होता है उसे विषय विष देते हैं। जो घोर विष स्थावर जंगम सर्व जीवो का विनाश करता है उससे दारुण विष विषयो का है।

६. वारि एक्कम्मि य जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे।। (शी० पा० २२)

विष की वेदना से हत जीव एक वार ही दूसरा जन्म पाता है अर्थात् एक जन्म मे ही मरता है, किन्तु विषयरूपी विष से हत मनुष्य वार-वार संसार-कांतार मे भटकते रहते हैं।

७. तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली खवति विसयं विसय व खलं।। (शी० पा० २४)

जैसे तुषो को उडाने से मनुष्य का कोई कोई द्रव्य नहीं जाता, वैसे ही विषयो के त्याग से मनुष्य को कोई हानि नहीं होती। तप से शीलवान् कुशल पुरुष विष रूपी विषयो को खल की तरह दूर करते हैं।

८ उदधीव रदणभरिदो तवविणयसीलदाणरयणाणं।
सोहेतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तर पत्तो।। (शी० पा० २८)

जैसे रत्नो से भरा हुआ समुद्र सुशोभित होता है वैसे ही तप, विनय, शील, दान आदि रूप रत्नो से भरा हुआ सुशील मनुष्य सुशोभित होता है। वह अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त होता है।

९. णाणं चरित्तशुद्ध लिंगग्गहणं च दसणविशुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ।। (शी० पा० ६)

चारित्र से पवित्र ज्ञान, दर्शन से पवित्र लिग ग्रहण और संयम सहित तप—ये थोडे भी हों, तो महाफल देनेवाले होते हैं।

३. कुछ शील

१ निसते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अंतिए सगा।
अट्ठजुत्ताणि सिकखेज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए।। (उ० १ : ८)

सदा शान्त रहे, वाचाल न हो, ज्ञानी पुरुषो के समीप रहकर, अर्थयुक्त आत्मार्थ साधक पदों को सीखे। निरर्थक बातो को छोडे।

२ अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंति सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गि, हास कीड च वज्जए।। (उ० १ : ६)

विवेकी पुरुष अनुशासन से कुपित न हो। क्षान्ति का सेवन करे तथा क्षुद्र जनो के साथ सगत, हास्य और क्रीडा का वर्जन करे।

३ मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो।। (उ० १ : १०)

क्रोधावेश मे न बोले। बहुत न बोले। काल के नियम से स्वाध्याय करे और उसके बाद अकेला ध्यान करे।

४. आहच्च चण्डालिय कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य।। (उ० १ . ११)

क्रोधवश सहसा अकृत्य कर उसे कभी भी न छिपावे। किया हो तो 'किया' कहे, नहीं किया हो तो 'नहीं किया' कहे।

५ मा गलियस्से व कसं, वयणमिच्छे पुणो-पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए।। (उ० १ : १२)

जैसे दुष्ट घोडा बार-बार चाबुक की अपेक्षा रखता है वैसे विनीत शिष्य बार-बार अनुशासन की अपेक्षा न रखे। जैसे विनीत घोडा चाबुक को देखकर ही सुमार्ग पर आ जाता है, उसी प्रकार विनयवान शिष्य गुरुजनो की दृष्टि आदि को देखकर ही दुष्ट मार्ग को छोड दे।

६. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोह असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं।। (उ० १ . १४)

बिना पूछे कुछ न बोले। पूछने पर झूठ न बोले। क्रोध को निष्फल बना दे तथा प्रिय और अप्रिय को समभाव से ग्रहण करे।

७ पडिणीय च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि।। (उ० १ . १७)

वचन से या कर्म से, प्रगट मे या प्रच्छन्न मे, ज्ञानी पुरुषो के प्रतिकूल आचरण कभी भी न करे।

८ धम्मज्जिय च ववहार, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई।। (उ० १ · ४२)

जो व्यवहार धर्म से अनुमोदित है और ज्ञानी पुरुषों ने जिसका सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करने वाला पुरुष कभी भी गर्हा—निन्दा को प्राप्त नही होता।

४. दु:शील की गति

१ जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एव दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई।। (उ० १ · ४)

जैसे सडे हुए कानो वाली कुतिया सब जगह से निकाली जाती है, उसी तरह दु शील, ज्ञानियो से प्रतिकूल चलने वाला और वाचाल मनुष्य सब जगह से निकाल दिया जाता है।

२. कणकुण्डग चइत्ताण, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एव सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए।। (उ० १ : ५)

जैसे चावलो की भूसी को छोड सूअर विष्ठा का भोजन करता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य शील को छोडकर दु शील मे रमण करता है।

३ सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो।। (उ० १ : ६)

कुतिया और सूअर के साथ उपमित दुराचारी के अभाव (दुर्दशा) को सुनकर अपनी आत्मा का हित चाहने वाला पुरुष अपनी आत्मा को विनय मे स्थापित करे।

४ तम्हा विणयमेव्सेज्जा। सीलं पडिलभे जओ।। (उ० १ : ७)

इसलिए विनय का आचरण करे जिससे शील की प्राप्ति हो।

१. चउण्हं खलु भासाणं परिसखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणय सिक्खे दो न भासेज्ज सव्वसो।। (द० ७ : १)

प्रज्ञावान् चारो भाषाओ को अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओ से व्यवहार करना सीखे और एकात मिथ्या और सत्यासत्य इन दो भाषाओ को सर्वथा न बोले।

२ जा य सच्चा अवत्तव्वा सव्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिऽणाइन्ना न तं भासेज्ज पन्नवं।। (द० ७ : २)

जो भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य हो, जो कुछ सत्य कुछ झूठ हो, जो भाषा मिथ्या हो तथा जो भाषा विचारशील पुरुषो द्वारा व्यवहार मे न लाई जाती हो—विवेकी पुरुष ऐसी भाषा न बोले।

३ असच्चमोस सच्चं च अणवज्जमकक्कस।
समुप्पेहमसंदिद्ध गिरं भासेज्ज पन्नव।। (द० ७ ३)

विवेकी पुरुष सोच-विचारकर पाप रहित, अकर्कश—प्रिय, हितकारी और स्पष्ट अर्थ वाली व्यवहार और सत्य भाषा बोले।

४ तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो।। (द० ७ : ११)

महान् भूतोपघातिनी (जीवो के दिलो को महान् दु खाने वाली) तथा कर्कश भाषा, सत्य होने पर भी विवेकी न बोले। ऐसी भाषा से पाप का बधन होता है।

५. तहेव काणं काणे त्ति पडग पडगे त्ति वा।
वाहिय वा वि रोगि त्ति तेण चोरे त्ति नो वए।। (द० ७ . १२)

विवेकी काने को 'काना' नपुसक', को 'नपुसक', रोगी को 'रोगी' और चोर को 'चोर' न कहे।

६. अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो त न भासेज्जा भास अहियगामिणिं।। (द० ८ . ८७)

जिससे अप्रीति उत्पन्न हो, दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा विवेकी पुरुष सर्वथा न बोले।

७ एएणन्नेण वट्ठेण परो जेणुवहम्मई।
आयारभावदोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं।। (द० ७ : १३)

आचार और भाव के दोषो को समझने वाला प्रज्ञावान् पुरुष उपर्युक्त या अन्य कोई भाषा जिससे कि दूसरे के हृदय को आघात पहुँते न बोले।

८. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्संतरेण वा।। (द० १ : २५)

विवेकी पुरुष अपने लिए, दूसरो के लिए, अपने और दूसरे दोनो के प्रयोजन के लिए पूछने पर पापकारी भाषा न बोले, न अर्थशून्य और मार्मिक बात कहे।

९. भासमाणो ण भासेज्जा णो य वम्फेज्ज मम्मयं।
माइट्ठाण विवज्जेज्जा अणुवीइ वियागरे।। (द० १, ९ : २५)

विवेकी पुरुष बातचीत कर रहे हों उनके बीच मे नहीं बोले, मर्मभेदी बात न कहे, माया भरे वचनो का परित्याग करे। जो बोले, सोचकर बोले।

१०. दिट्ठं मियं असंदिद्ध पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं।। (द० ८ : ४८)

आत्मार्थी पुरुष दृष्ट,, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त और परिचित अथवा अनुभूत वचन बोले। उसकी भाषा वाचालता-रहित और किसी को भी उद्विग्न करने वाली न हो।

११ मियं अदुट्ठ अणुवीइ भासए।
सयाण मज्झे लहई पससण।। (द० ७ : ५५ ग, घ)

मित और दोषरहित वाणी सोच-विचारकर बोलने वाला पुरुष सत्पुरुषो मे प्रशंसा को प्राप्त होता है।

१२ पेसुण्णहासकक्कस—परणिदप्पपससिय वयण।
परचित्ता सपरिहिद भासासमिदी वंदतस्स।। (नि० सा० : ६२)

पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिदा और आत्म-प्रशसा रूप वचन को छोडकर स्व-पर-हितकारी वचनो को बोलनेवाले पुरुष के भाषा समिति होती है।

: १० :

अनुस्रोत-प्रतिस्रोत

१. अणुसोयसुहोलोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं।
अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो।। (द० चू० २ ३)

लोगो को अनुस्रोत मे—असंयम मे सुख की प्रतीति होती है। सुविहित पुरुषो का संयम प्रतिस्रोत है। अनुस्रोत संसार है—ससार-समुद्र मे बहना है। प्रतिस्रोत उतार है—ससार-समुद्र से पार होना है।

२. अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं।। (द० चू० २ : २)

बहुत से मनुष्य अनुस्रोतगामी होते है, पर जिनका लक्ष्य किनारे पहुँचना है, वे प्रतिस्रोतगामी होते है। जो ससार-समुद्र से मुक्ति पाने की इच्छा करते हैं उन्हे प्रतिस्रोत (सयम) मे आत्मा को स्थित करना चाहिए।

३. णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागर तु भविया तरंति तिहि सण्णिपायेण।। (मू० ८९८)

ज्ञान निर्यापक है, ध्यान पवन है और चारित्र नौका है। इन तीनो के सयोग से भव्यजीव संसार-समुद्र को तैरते है।

४ णाण पयासओ सोधओ तवो सजमो य गुत्तियरो।
तिण्हंपि य सजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो।। (मू० ८९९)

ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप शुद्धि करने वाला है, चरित्र रक्षक है। इन तीनो के संयोग से जिनमत मे नियम से मोक्ष होता है।

५. णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवोजुदो।
कसायगारवुम्मुक्को ससार तरदे लहु।। (मू० ९९८)

जो ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न है, ध्यान, अध्ययन और तप से युक्त है तथा कषाय और गौरव से मुक्त है वह संसार-समुद्र को शीघ्र ही तैर जाता है।

६. मय-माय-कोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्ख।।
(मो० पा० ४५)

जो जीव मद, माया और क्रोध से रहित है, लोभ से दूर है और निर्मल स्वभाव से युक्त है, वह उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

७. विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो।। (मो० पा० ४६)

जो जीव विषय और कषाय से युक्त है, रौद्र परिणामी है तथा जिसका मन परमात्मा की भावना से रहित है, वह जीव जिन-मुद्रा से विमुख होने के कारण मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

८ जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।।(मो० पा० ४७)

जिनवर भगवान के द्वारा उपदिष्ट जिन-मुद्रा ही नियम से मोक्ष-सुख का कारण है। जिन्हे स्वप्न मे भी यह जिन-मुद्रा नहीं रुचती वे जीव ससाररूपी गहन वन मे पडे रहते हैं।

९ ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमया वतीता संतोसिणो णो पकरेंति पावं।।
(सू० १, १२ : १५)

मूर्ख जीव सावद्य अनुष्ठान (पाप कार्यो) द्वारा संचित कर्मो का क्षय नहीं कर सकते। धीर पुरुष सावद्यानुष्ठान से विरत होकर कर्मो का क्षय करते हैं। प्रज्ञावान् पुरुष लोभ-भाव से सम्पूर्ण विरहित हो, सतोष-भाव धारण कर पाप कर्म नहीं करते।

१० डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे ते आततो पासइ सव्वलोगे।
उवेहती लोगमिणं महतं बुद्धप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा।।
(सू० १, १२ : १८)

इस जगत् मे छोटे शरीरवाले भी प्राणी हैं और बडे शरीरवाले भी। सारे जगत् को—इन सब को—आत्मवत् देखना चाहिए। इस लोक के सर्व प्राणियो को महान् देखता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष प्रमत्तो मे अप्रमत्त होकर रहे।

११ ते णेव कुव्वति ण कारवेंति भूतभिसंकाए दुगुंछमाणा।
सदा जता विप्पणमंति धीरा विण्णत्ति-वीरा य भवंति एगे।।
(सू० १, १२ : १७)

पापो से घृणा करनेवाले पुरुष, प्राणियो के घात की शका से कोई पाप नहीं करते और न करवाते हैं। कई ज्ञानमात्र से वीर बनते हैं क्रिया से नहीं, परन्तु धीर पुरुष सदा यत्नपूर्वक सयम मे पराक्रम करते है।

१. रहस्य-भेद

१. एग जिए जिया पच पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण सव्वसत्तू जिणामह।। (उ० २३ : ३६)

एक को जीत चुकने से मैने पाच को जीत लिया, पाच को जीत लेने से मैने दस को जीत लिया, और दसो को जीतकर मै सभी शत्रुओ को जीत लेता हूँ।

२ एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इदियाणि य।
ते जिणित्तु जहानाय विहरामि अहं मुणी।। (उ० २३ . ३८)

न जीती हुई आत्मा एक दुर्जय शत्रु है। क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार कषाय मिलकर पॉच और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—ये पॉच इन्द्रियॉ मिलकर दस शत्रु हैं। इन्हे ठीक रूप से जीतकर, हे महामुने ! मै न्यायानुसार विहरता हूँ।

३ ते पासे सव्वसो छित्ता निहंतूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ विहरामि अहं मुणी।। (उ० २३ . ४१)

हे मुने ! ससारी प्राणियो के बॅधे हुए पाशो का सर्व प्रकार और उपायो से छेदन और हनन कर मै मुक्तपाश और लघुभूत होकर विहार करता हूँ।

४ रागद्दोसादओ तिव्वा नेहपासा भयकरा।
ते छिंदितु जहानाय विहरामि जहक्कम।। (उ० २३ ४३)

हे मुने ! राग-द्वेषादि और स्नेह—ये तीव्र और भयकर पाश है। उन्हे ठीक रूप से छेदकर मैं यथान्याय विहार करता हूँ।

५ त लय सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानाय मुक्को मि विसभक्खण।। (उ० २३ ४६)

मैने हृदय के अन्दर उत्पन्न विषलता को सर्व प्रकार से छेदन कर अच्छी तरह मूल सहित उखाड डाला है। इस तरह मै विष-फल के खाने से मुक्त हो यथान्याय विहार करता हूँ।

६. भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया।
तमुद्धरित्त जहानायं विहरामि महामुणी।। (उ० २३ : ४८)

भव-तृष्णा को लता कहा गया है, जो बडी ही भयंकर और भयकर फलों को देने वाली है। उसे यथाविधि उच्छेदकर हे महामुने ! मैं न्यायपूर्वक विहार करता हूँ।

७. महामेहप्पसूयाओ गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिचामि सययं देहं सित्ता नो व डहंति मे।। (उ० २३ : ५१)

महामेघ से प्रसूत उत्तम जल को लेकर मैं सतत् सिंचन करता रहता हूँ। इस तरह सिचन की हुई वे अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

८ कसाया अग्गिणो वुत्ता सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया संता भिन्ना हु न डहंति मे।। (उ० २३ : ५३)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इन्हें अग्नियाँ कहा गया है। श्रुत, शील, और तप शीतल जल है। श्रुतरूपी मेघ की जलधारा से निरन्तर आहत किये जाने के कारण छिन्न-भिन्न हुई ये अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

६ पधावंतं निगिण्हामि सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं ज पडिवज्जई।। (उ० २३ : ५६)

दुष्ट अश्व को मैने श्रुत-ज्ञान रूपी लगाम के द्वारा अच्छी तरह बाँध रखा है। उन्मार्ग की ओर दोडने पर मैं उसे रोक लेता हूँ। इससे मेरा अश्व उन्मार्ग मे नहीं जाता और ठीक मार्ग मे ही चलता रहता है।

१०. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठसो परिधावई।
तं सम्म निगिण्हामि धम्मसिक्खाए कंथगं।। (उ० २३ : ५८)

मन ही यह साहसिक, रौद्र ओर दुष्ट अश्व हे, जो चारो ओर दौडता है। मैं उसे धर्म की शिक्षा द्वारा कन्थक की तरह काबू मे कर लेता हूँ।

११ अत्थि एगो महादीवो वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जई।। (उ० २३ : ६६)

समुद्र के वीच एक विस्तृत महान् द्वीप है, जहाँ महान् उदक के प्रवाह की गति नहीं है।

१२ जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं।। (उ० २३ ६८)

जरा और मरणरूपी महा उदक के वेग से वहते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, आचार गति (आश्रय) और उत्तम शरण है।

१३. जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी।। (उ० २३ . ७१)

जो नौका छेद-युक्त होती है, वह पार पहुँचने वाली नहीं होती। जो नौका छेद-रहित होती है, वही पार पहुचने वाली होती है।

१४. सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरति महेसिणो।। (उ० २३ : ७३)

शरीर को नौका कहा गया है। जीव को नाविक कहा गया है। संसार को समुद्र कहा गया है। जीव-रूपी नाविक के द्वारा शरीर-रूपी नौका को खेकर महर्षि जन्म-मरण रूपी इस महा अर्णव को तैर जाते हैं।

१५. अत्थि एगं धुव ठाण लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा।। (उ० २३ . ८१)

लोकाग्र पर एक ऐसा दुरारोह ध्रुव स्थान है, जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं है।

१६. निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धि लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाह जं चरति महेसिणो।। (उ० २३ : ८३)

यह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र आदि नाम से प्रख्यात है। इस क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान को महार्षि पाते हैं।

१७. तं ठाण सासयंवास लोगग्गंमि दुरारुह।
जं संपत्ता न सोयति भवोहंतकारा मुणी।। (उ० २३ . ८४)

हे भव-परम्परा का अन्त करने वाले मुने ! यह स्थान आत्मा का शाश्वत वास है। यह लोक के अग्रभाग मे है। जन्म, जरा आदि से दुरारोह हे। इसे प्राप्त कर लेने पर किसी तरह का दु ख नहीं रह जाता और भव-परम्परा का अन्त हो जाता है।

२. तृष्णा-विजय

१ कसिण पि जो इम लोय पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया।।
(उ० ८ · १६)

धन-धान्य आदि से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाए, तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होता। इतनी दुष्पूर है यह आत्मा।

२. जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं।। (उ० ८ : १७)

जैसे-जेसे लाम होता हे, वैसे-वेसे लोभ वढता जाता हे। लाम से लोम वढता है। दो मासे सोने से होनेवाला कार्य करोड से भी पूरा नहीं हुआ।

३ सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्य लुद्धस्स ने तेहि केचि इच्छा उ आगासमा अणंतिया।।
(उ० ६ : ४८)

कदाचित् सोने और चॉदी के केलाश के समान असख्य पर्वत हो जाएँ, तो भी लोभी पुरुप को उनसे कुछ भी संतोष नहीं होता, कारण इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है।

४. पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स इइ विज्जा तवं चरे।। (उ० ६ : ४६)

चावल, जौ, सोना और पशु सहित यह परिपूर्ण पृथ्वी भी एक लोभी की तृष्णा को तृप्त करने में यथेष्ट नहीं है, यह समझकर सतोष रूपी तप कर।

५. संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेपि पोग्गला वहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती।। (मू० ७६)

संसारचक्रवाल में भ्रमण करते हुए मैंने सभी पुद्गलो का वहुत वार आहार किया और उन्हे वल आदि रूप मे परिणमन किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई।

६ तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहि।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं।। (मू० ८०)

जैसे तृण और काष्ठ से अग्नि तृप्त नहीं होती, और हजारो नदियो से भी लवण-समुद्र पूर्ण नहीं होता, उसी तरह यह जीव भी काम-भोगो से सन्तुष्ट नहीं होता।

७. इट्ठा-विओगं-दुक्खं होदि महड्ढीण विसय-तण्हादो।
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती।। (द्वा० अ० ५६)

विषयो की तृण्णा के कारण महर्द्धिक देवो को भी इष्ट-वियोग का दु:ख होता हे। जिनका सुख विषयाधीन है, उन्हे तृप्ति कैसे हो सकती है ?

८. पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णण्णाण महाजस! सायरसलिलाहु अहिययर।। (भा० पा० १८)

हे महायश के धारी! तुमने अनन्त जन्मो मे भिन्न-भिन्न माताओ के स्तनो का सागर के पानी से भी ज्यादा दूध पिया है।

९ गसियाइ पुगलाइ भवणोदरवत्तियाइ सव्वाइ।
पत्तोसि तो ण तित्ति पुणरूवं ताइं भुंजतो।। (भा० पा० २२)

हे जीव ! तूने इस लोक मे स्थित सभी पुद्गलो का भक्षण किया और उनको बार-बार भोगता हुआ भी तृप्त नही हुआ।

१०. तिहुयणसलिल सयल पीय तिण्हाए पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चितह भवमहणं।। (भ० पा० २३)

हे जीव ! तूने प्यास से दु खी होकर तीनो लोको का सारा जल पी लिया, फिर भी तेरी प्यास नही मिटी। अत· ससार का नाश करनेवाले रत्नत्रय का चितन कर।

३. काम-विजय

१ पक्खदे जलियं जोइ धूमकेउ दुरासयं।
नेच्छति वतय भोत्तुं कुले जाया अगधणे।। (उ० २२ : ४१ के बाद)

अगन्ध कुल मे उत्पन्न हुए सर्प जाज्वल्यमान, विकराल, धूमकेतु अग्नि मे प्रवेश कर मरना पसन्द करते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नहीं करते।

२ धिरत्थु ते जसोकामी ! जो त जीवियकारणा।
वतं इच्छसि आवेउ सेय ते मरणं भवे।। (उ० २२ ४२)

हे कामी ! तू भोगी जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है ! इससे तो तेरा मर जाना श्रेय है। धिक्कार है तुझे !

३. जइ त काहिसि भाव जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो अट्ठिअप्पा भविस्ससि।। (उ० २२ ४४)

अगर स्त्रियो को देखकर तू इस तरह प्रेम-राग किया करेगा, तो हवा से आहत हट[1] की तरह अस्थिरात्मा हो जायगा—चित्त-समाधि को खो बैठेगा।

४. समाए पेहाए परिव्वयतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नोवि अह पि तीसे इच्चेव ताओ विणएज्ज राग।।
(द० २ · ४)

यदि समभावपूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् यह मन बाहर निकल जाय, तो यह विचार करते हुए कि वह मेरी और न मैं ही उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।

१ वनस्पति विशेष

५. आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्ख।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए।।
(द० २ · ५)

आतप का सेवन कर—अपने-आपको धूप मे तपा। सुकुमारता का त्याग कर। विषय-वासना को दूर कर। निश्चय ही दु.ख दूर होगा। अनिष्ट विषयो के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न कर। इष्ट विषयो के प्रति राग-भाव का उच्छेद कर। ऐसा करने से तू (विषयाग्नि को शान्त कर) ससार मे सुखी होगा।

४. मन-विजय

१. ण च एदि विणिस्सरिदु मणहत्थी झाणवारिबंधणिदो।
बद्धो तह य पयडो विरायरज्जूहि धीरेहि।। (उ० ८ : ११)

जैसे बधनशाला मे रज्जुओ से बँधा हुआ मस्त हाथी वाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही धीर पुरुषो द्वारा वैराग्य रूपी रस्सियो से ध्यानरूपी वधनशाला मे बंधा हुआ प्रचड मन बाहर नहीं जा सकता।

२. भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।। (मू० ९८५)

जो भाव से (अतरग मे) विरत है, वास्तव मे वही विरत है। द्रव्यविरत (वाह्य मे विरत) को सुगति प्राप्त नहीं होती। इसलिए विषयरूपी वन मे क्रीडालपट मन रूपी हाथी को वश मे करना चाहिए।

३. तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदु दुद्दओ जहा अस्सो।
वीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं।। (भग० आ० १३६)

जैसे दु खद मार्ग मे गिरा देनेवाले अश्व को वश मे करना दुष्कर है और जैसे वीलण नामक मत्स्य को पकडना दुष्कर है, वैसे ही मन को वश मे करना भी अत्यन्त दुष्कर है।

४. जस्स य कदेण जीवा ससारमणतयं परिभमंति।
भीमासुहगदिबहुल दुक्खसहस्साणि पावता।। (भग० आ० १३७)

मन ऐसा है कि जिसकी चेष्टा से जीव सहस्रो दु खो को पाते हुए भयंकर एव अशुभ गति बहुल इस अनत ससार मे परिभ्रमण करते है।

५. णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउ।
णाण अकुसभूद मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स।। (भग० आ० ७६०)

ज्ञानोपयोग रहित मनुष्य के द्वारा चित्त का निग्रह करना सभव नहीं। उन्मत्त चित्तरूपी हाथी के लिए ज्ञान अकुश के समान है।

६ जह चडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि।
तिक्खंकुसेण धरिओ णरेण दिढसत्तिजुत्तेण।।
तह चडो मणहत्थी उद्दामो विषयरायमग्गम्मि।
णाणंकुसेण धरिओ रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व।।
(मूल० ८ १०६-११०)

जैसे बधन से छूटा हुआ नगर के राजमार्ग पर चलता हुआ प्रचंड वन हस्ती दृढ शक्ति युक्त मनुष्य द्वारा तीक्ष्ण अकुश से वश मे किया जाता है, उसी तरह प्रचड मन रूपी उद्दाम—स्वच्छद हाथी विषय रूपी राजमार्ग पर चलता हुआ ज्ञानरूपी अकुश से रोका और वश मे किया जाता है।

७. विज्जा जहा पिसाय सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदयपिसाय सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवस।।
(भग० आ० ७६१)

जैसे अच्छी तरह प्रयुक्त विद्या पिशाच को मनुष्य के वश मे ला देती है, वैसे ही अच्छी तरह प्रयुक्त ज्ञान मनरूपी पिशाच को मनुष्य के वश मे कर देता है।

८. आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी।।
(भग० आ० ७६३)

जैसे जगली हाथी उन्मत्त वरत्रा (हाथी को बॉधने की सॉकल) से वश मे कर लिया जाता है, वैसे ही मन रूपी हाथी ज्ञान रूपी वरत्रा से वश मे कर लिया जाता है।

९ वादुब्भामो व मणो परिधावइ अद्दिठदं तह समंता।
सिग्घ च जाइ दूरपि मणो परमाणुदव्व वा।। (भग० आ० १३४)

वेग से बहनेवाली वायु की तरह मन कहीं भी स्थिर नहीं रहता हुआ चारो ओर दौडता रहता है। परमाणु द्रव्य की तरह मन बडी शीघ्रता से अति दूर चला जाता है।

१०. अधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ।
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा।। (भग० आ० १३५)

मन अधे, वधिर और मूक मनुष्य की तरह होता है। उसे किसी वात मे लगाने पर वह शीघ्र ही वहॉ से हट जाता है। गिरि से निकली हुई सरिता के स्रोत की तरह मन की दिशा को मोड़ना दुष्कर होता है।

११ जह्मि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा।
णासति रोगदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स।। (भग० आ० १३८)

इस मन के निग्रह मात्र से ही ससार के कारणभूत राग, द्वेष, शीघ्र ही नाश को प्राप्त होते हैं।

१२ इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिट्ठवेदि य अकंपं।
सुहसकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं।। (भग० आ० १३६)

जो इस दुष्ट मन का रागादि से निवारण करता है, उसे अकपित रूप से शुभ सकल्प रूप प्रवृत्ति और स्वाध्याय मे लगाता है, उसके समाधि होती है।

१३. उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण।। (भग० आ० ७६२)

जैसे विधि से प्रयुक्त मत्र द्वारा कृष्ण सर्प उपशात होता है, उसी तरह सुप्रयुक्त ज्ञान के द्वारा मनरूपी कृष्ण सर्प शान्त होता है।

५. इन्द्रिय-विजय

१. चक्खू सोदं घाण जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहितो णिरोहियव्वा सया मुणिणा।। (मू० १६)

चक्षु, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन—इन पॉच इन्द्रियो को क्रमश अपने-अपने विषय—रूप, शब्द, गध, रस और स्पर्श से ज्ञानी पुरुष को सदा रोकना चाहिए।

२ एदे इंदियतुरया पयदीदोसेण चोइया संता।
उम्मग्गं णेंति रहं करेह मणपग्गहं वलियं।। (मू० ८७६)

ये इन्द्रियरूपी घोडे रागद्वेष द्वारा स्वाभाविक रूप से प्रेरित होकर आत्मारूपी रथ को कुमार्ग पर ले जाते हैं। इसलिए मनरूपी लगाम को मजबूती से पकडे रहो।

३. अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति।
विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा।। (भग० आ० १८३८)

असवृत मनवाले मनुष्य के द्वारा इन्द्रियरूपी सर्प वैसे ही वश मे नहीं किये जा सकते, जैसे विद्या, मत्र और औषधि से रहित मनुष्य के द्वारा आशीविष जाति के सर्प।

४. तह्मा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से।। (भग० आ० ७६५)

इसलिए इधर-उधर उत्पथगामी मनरूपी बंदर को जिनेन्द्र के उपदेश मे सदा के लिए लगा देना चाहिए, जिससे वह किसी दोष को उत्पन्न न करे।

५ सुमरणपुखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा।
मणधणुमुक्का इदियकडा विधति पुरिसमय।। (भग० आ० १३६६)

जिनके स्मरणरूपी पख लगे है, जिनमे चितारूपी वेग है, जिनकी रतिधारा विषयरूपी विष से लिप्त है और जो मनरूपी धनुष के द्वारा छोडे गये है, ऐसे इन्द्रियरूपी बाण मनुष्यरूपी मृग को बींध डालते है।

६ इदियदुद्दतस्सा णिग्घिप्पति दमणाणखलिणेहि।
उप्पहगामी णिग्घिप्पति हु खलिणेहिं जह तुरया।।
(भग० आ० १८३७)

इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोडो का दमन वैसे ही दम और ज्ञानरूपी लगाम से किया जाता है, जैसे उत्पथगामी घोडे लगाम से वश मे किये जाते है।

७ विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहि।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपह धण्णा ओदरिय गच्छंति।।
(भग० आ० १८६१)

विषयरूपी जगल मे इन्द्रियरूपी घोडो के द्वारा बहुत समय तक कुमार्ग मे भ्रमाये गए वे पुरुष धन्य हैं, जो इन घोडो से उतरकर जिनेन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण के मार्ग की ओर गमन करते है।

८ मण-इदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ। (द्वा० अ० ११२ ग, घ)

जो मन और इन्द्रियो को जीतता है, वह स्वरूप-परायण होता है।

६. कषाय-विजय

(१) कषाय-दोष

१ रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो वा।। (भग० आ० १३६०)

क्रोधग्रस्त मनुष्य नीलवर्ण हो जाता है। उसके चेहरे की प्रभा नष्ट हो जाती हे। वह अरतिरूप अग्नि से जलने लगता है। शीतकाल मे भी उसे प्यास लगने लगती हे तथा पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह वह कॉपने लगता हे।

२. जह कोइ तत्तलोह गहाय रुट्ठो पर हणामित्ति।
पुव्वदर सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो।।
तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु "कलकलेणेव।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्जा।।
(भग० आ० १३६२-६३)

जैसे कोई दूसरे पर रुष्ट मनुष्य अपने हाथ मे तप्त लोहे को लेकर उसे मारने का विचार करता है, तो पहले वह स्वय ही दग्ध होता है; दूसरा पुरुष दग्ध हो भी सकता है अथवा नहीं भी। वैसे ही क्रोध से क्रोधी पुरुष पहले स्वयं ही दग्ध होता है, फिर दूसरे को दु:खी कर सके या न भी कर सके।

३. णासेदूण कसाय अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो।।(भग० आ० १३६४)

जैसे अग्नि आधारभूत ईंधन को पहले जलाकर उसके पश्चात् स्वय भी नष्ट हो जाती है, वैसे ही क्रोध आधारभूत व्यक्ति—क्रोधी का पहले नाश कर उसके पश्चात् स्वय नाश को प्राप्त होता है।

४ कोधो सत्तुगुणकरो णियाणं अप्पणो य मण्णुकरो।
परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवस।।(भग० आ० १३६५)

क्रोध शत्रु का उपकार करनेवाला होता है। क्रोध क्रोधी और उसके बॉधवों के लिए शोकजनक होता है। क्रोध जिस मनुष्य मे बसता है, उसके पराभव का कारण होता है और अपने वश मे हुए व्यक्ति का नाश कर देता है।

५ ण गुणे पेच्छादि अववददि गुणे जपदि अजंपिदव्वं च।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि।।
(भग० आ० १३६६)

क्रोध आने पर मनुष्य दूसरो के गुणो को नहीं देखता, दूसरो के गुणो की निन्दा करने लगता है। क्रोध से मनुष्य नहीं कहने लायक बात कह डालता हे। क्रोध से मनुष्य रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारकीय जैसा हो जाता है।

६ जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिद खल पत्तं।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं।।
(भग० आ० १३६७)

जैसे खलिहान मे रखे गए किसान द्वारा वर्ष भर मे अर्जित अनाज को अग्नि की एक चिनगारी जला डालती है, वैसे ही क्रोधरूपी अग्नि सारे गुणो को जला देती है।

७ जध उग्गविसो उरगो दब्भतणकुरहदो पकुप्पतो।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो।। (भग० आ० १३६८)

जैसे उग्र विषवाला कोई सॉप डाभ के तृण से आहत होकर क्रोध करता हुआ उसे डॅसकर शीघ्र ही निर्विष हो जाता है, वैसे ही साधक पुरुष भी दूसरे पर क्रोध करता हुआ गुणो का त्याग कर नि सार हो जाता है।

८ पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो।
होदि य रोसणिमित्त जम्मसहस्सेसु य दुरूवो।।
(भग० आ० १३६६)

सुन्दर पुरुष का रूप जब वह क्रोधयुक्त होता है, तब नष्ट हो जाता है। वह मर्कट सदृश दिखाई देता है। क्रोध से उपार्जित पाप के कारण वह कोटि जन्मो मे कुरूप होता है।

६ सुठ्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण।।
(भग० आ० १३७०)

क्रोध से मनुष्य का अत्यन्त प्रिय मित्र भी मुहूर्त भर मे शत्रु हो जाता है। क्रोधी मनुष्य को जगत् प्रसिद्ध यश भी क्रोधवश किये गये अकार्य से नष्ट हो जाता है।

१० भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि।।
(भग० आ० १३६१)

क्रोध से मनुष्य की भौहे चढ जाती हैं, ललाट पर त्रिवली पड जाती हैं, ऑखे निश्चल, अत्यन्त लाल और रूखी हो जाती है और वह राक्षस की तरह मनुष्यो मे भयकर मनुष्य बन जाता है।

११ हिस अलिय चोज्ज आचरदि जणस्स रोसदोसेण।
तो ते सव्वे हिसालियचोज्जसमुब्भवा दोसा।।
(भग० आ० १३७३)

क्रोधी क्रोधवश हिसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, अतएव अनेक जन्मो मे उसकी भी हिसा होती है, उसके विषय मे भी असत्य बोला जाता है, लोग उसका धन चुराकर ले जाते है। क्रोध से अनेक भवो मे ऐसे दु ख भोगने पडते है।

१२ माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि।
पावदि माणी णियद इहपरलोए य अवमाण।।
(भग० आ० १३७७)

अभिमानी सबका द्वेषपात्र हो जाता है। मानी मनुष्य इहलोक और परलोक मे कलह, भय, वैर, दु ख और अपमान को अवश्य ही प्राप्त होता है।

१३ होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण।।
(भग० आ० १३८३)

माया-दोष से मनुष्य द्वेष का पात्र होता है तथा अविश्वसनीय हो जाता है। स्वजनो के भी अपमान का पात्र होता है। माया-दोष के कारण बाधव भी शीघ्र ही उसके शत्रु हो जाते है।

१४. मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी।
णासदि मायादोसा विसजुददुद्धव सामण्णं।। (भग० आ० १३८५)

माया से मैत्री का नाश होता है, जिससे इहलौकिक कार्य की हानि होती है। माया-दोष श्रामण्य का वैसे ही नाश कर देती है, जैसे विषयुक्त दूध प्राणो का नाश करता है।

१५ कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति।।
(भग० आ० १३८७)

जहॉ माया होती है, वहॉ क्रोध, मान और लोभ भी उपस्थित रहते है। माया मे क्रोध, मद और लोभ से उत्पन्न सभी दोष रहते है।

१६ लोभेणासाघत्तो पावइ दोसे बहु कुणदि पाव।
णिए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि।। (भग० आ० १३८६)

लोभ से आशाग्रस्त होकर मनुष्य अनेक दोषो को प्राप्त होता है और पाप करता है। लोभाधीन मनुष्य न अपने कुटुम्ब की परवाह करता है और न अपनी।

१७ लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदत्थ किं वच्च।
लगिदमउडादिसगस्स वि हु ण पाव अलोहस्स।।
(भग० आ० १३९०)

एक तृण मे भी उत्पन्न लोभ पाप उत्पन्न करता है, तब अन्य वस्तुओ के लोभ से पाप उत्पन्न हो, इसका तो कहना ही क्या ? जो लोभी नहीं है, उसके सिर पर मुकुट भी धर दिया जाय, तो उसको पाप नहीं होता।

१८ तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स।
सतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाण।।
(भग० आ० १३६१)

लोभग्रस्त मनुष्य के चित्त की तृप्ति तीनो लोको के प्राप्त होने पर भी नही होती। किन्तु लोभरहित सन्तोषी मनुष्य दरिद्र होने पर भी निर्वाण-सुख को प्राप्त करता है।

(२) कषाय-विजय-मार्ग

१६ कोह माण च माय च लोभ च पापवड्ढण।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छतो हियमप्पणो।। (द० ८ ३६)

क्रोध, मान माया और लोभ—ये चारो दुर्गुण पाप की वृद्धि करने वाले है, जो अपनी आत्मा की भलाई चाहे, वह इन दोषो को शीघ्र छोडे।

२० कोहो पीइ पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो।। (द० ८ ३७)

क्रोध पारस्परिक प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करनेवाला है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सर्वगुणो का नाश करनेवाला है।

२१ उवसमेण हणे कोह माण मद्दवया जिणे।
माय चज्जवभावेण लोभ सतोसओ जिणे।।[1] (द० ८ . ३८)

क्रोध का हनन शान्ति से करे, मान को मार्दव से जीते, माया को ऋजुभाव से और लोभ को सन्तोष से जीते।

२२ कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि ए ए कसिणा कसाया सिचति मूलाइ पुणब्भवस्स।।
(द० ८ ३६)

अनिगृहीत क्रोध और मान तथा बढते हुए माया और लोभ—ये चारो सक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जडो को सींचते है (उन्हे कभी सूखने नहीं देते अर्थात् पुन-पुन जन्म-मरण के कारण हैं)।

२३ अहे वयइ कोहेण माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिन्घाओ लोभाओ दुहओ भय।। (द० ६ ५४)

---

१ नि० सा० ११५

कोह खमया माण समद्दवेणज्जवेण माय च।
सतोसेण य लोह जयदि ण खुए चउविहकसाए।।

क्रोध से मनुष्य अध की ओर जाता है, मान से अधोगति होती है, माया से सद्गति का विनाश होता है और लोभ से दोनो प्रकार का—इहलौकिक और पारलौकिक—भय होता है।

२४ कोहं च माण च तहेव मायं चउत्थं अज्झत्तदोसा।
रक्खेज्ज कोह विणएज्ज माणं मायं न सेवे पयेज्ज लोह।।
(सू० १, ६ . २६)
(उ० ४ . १२)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये आत्मस्थ-दोष है। मुमुक्षु क्रोध का वर्जन करे, मान का दमन करे, माया का सेवन न करे और लोभ को त्याग दे।

२५. कोह माणं निगिणिहत्ता माय लोभ च सव्वसो।
इदियाइं वसे काउ अप्पाणं उवसंहरे।।
(उ० २२ ४५ के बाद)

क्रोध, मान, माया और लोभ का सर्व प्रकार से निग्रह करो। इन्द्रियो को वश मे करो। आत्मा को अनाचार से हटाओ।

२६. होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पाव इदरो जधुम्मत्तो।।
(भग० आ० १३३१)

कषाय से उत्मत्त मनुष्य ही वास्तव मे उन्मत्त होता है, पित्त से उन्मत्त मनुष्य उस प्रकार उन्मत्त नहीं होता। पित्त से उन्मत्त मनुष्य वैसा पाप नहीं करता, जैसा कषाय से उन्मत्त मनुष्य।

२७ णिच्च पि अमज्झत्थे तिकालविसयाणुसरणपरिहत्थे।
सजमरज्जूहि जदी बंधति कसायमक्कडए।।
(भग० आ० १४०४)

नित्य ही चचल रहनेवाले और तीनो ही कालो मे विषयो के अनुसरण करने मे पटु कषायरूपी बन्दरो को सयमी पुरुष सयमरूपी रस्सियो से बॉध लेते है।

२८ ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहि।। (भा० पा० १५६)

वे ही पुरुष धीर वीर है, जिन्होने चमकते हुए क्षमा और जितेन्द्रियतारूपी खड्ग से दुर्जय, प्रबल और बल से उद्दण्ड कषायरूपी योद्धाओ को जीत लिया है।

२६ रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होति आसवा रुद्धा।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि।। (मू० ७३६)

कषायो को अवरुद्ध करने से मूल से ही सभी आस्रव अवरुद्ध हो जाते हैं। जैसे छिद्र को रोक देने से नाव पानी मे नहीं डूब सकती, वैसे ही कषाय को रोक देने पर दुर्गति नहीं होती।

७. इद्रिय-कषाय-विजय

१. णस्सदि सगपि बहुगंपि णाणमिंदियकसायसम्मिस्स।
विससम्मिसिद्दुट्ठ णस्सदि जध सक्कराकढिद।।
(द० ८ . ३६)

इन्द्रिय-विषय और कषाय से मिश्रित बहुत सारा ज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार चीनी सहित उबाला हुआ विषमिश्रित दूध।

२. इंदियकसायदुद्दतस्सा पाडेति दोसविसमेसु।
दु खावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदेखलिया हु।। (भग० आ० १३६५)

इन्द्रिय और कषायरूपी दुर्दान्त घोडे, जिनकी वैराग्यरूपी लगाम ढीली कर दी गइ है, मनुष्यो को निश्चय ही दु.ख देनेवाले दोषरूप विषम स्थानो मे गिरा देते हैं।

३ इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति।। (भग० आ० १३६६)

इन्द्रिय और कषायरूपी दुर्दान्त घोडे जब वैराग्यरूपी लगाम से वश मे किये जाकर ध्यानरूपी कोडे से डराये जाते है, तब वे दोषरूप विषम स्थानो मे मनुष्य को नहीं गिराते।

४. इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा।
पब्भट्ठझाणसुक्खा सजमजीव पविजहंति।। (भग० आ० १३६७)

इन्द्रिय और कषायरूपी सॉपो से डॅसे जाकर जो तीव्र वेदना से पीडित होते हुए ध्यानरूपी आनन्द से भ्रष्ट हो गये है, ऐसे मनुष्य अपने सयमरूपी जीव का परित्याग कर देते है।

५. इंदियकसायचोरा सुभावणासकलाहि वज्झति।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह सकलाबद्धा।। (भग० आ० १४०६)

यदि इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभ भावनारूपी सॉकल से बॉध दिए जाएँ, तो वे सॉकलो से बॅधे हुए चोरो की तरह विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

६ इदियकसायवग्घा सजमणरघादणे अदिपसत्ता।
वेरग्गलोहदढपंजरेहि सक्का हु णियमेदुं।। (भग० आ० १४०७)

इन्द्रिय और कषायरूपी सिह, जो सयमरूपी मनुष्य का घात करने मे अत्यन्त आसक्त है, वैराग्यरूपी लोहे के दृढ पिजरो से ही वश मे किया जा सकता है।

७. इदियकसायहत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण।
विणयवरत्ताबद्धा सक्का अवसा वसे कादुं।। (भग० आ० १४०८)

शीघ्र अधीन न होनेवाले इन्द्रिय और कषायरूपी हाथी किसी उपाय से व्रतरूपी घेरे मे लाये जाकर विनयरूपी वरत्रा से बॉधे जाने पर ही वश मे किये जा सकते है।

८. इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज।
णाण्ंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं।।(भग० आ० १४१०)

जब किसी के वश मे नही आनेवाले इन्द्रिय और कषायरूपी हाथी दु शीलरूपी वन मे प्रवेश करने की इच्छा करते हैं, तब उनको ज्ञानरूपी अकुश से ही वश मे किया जा सकता है।

९. इदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहि णिधिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया।। (मू० ७४०)

इनिद्रय और कषायरूपी दोष तप ज्ञान और विनय से निग्रह किये जा सकते हैं, जैसे उत्पथगामी घोडे लगाम से।

१०. जइ पंचिदियदमओ होज्ज जणो रूसिदव्वय णियत्तो।
तो कदरेण कयंतो रूसिज्ज जए मणूयाणं।। (मू० ८६८)

यदि मनुष्य पॉचो इन्द्रियो को दमन करने मे लीन हो और क्रोधादि से निवृत्त हो, तो फिर इस जगत् मे कौन-सा कारण है, जिससे यमराज मनुष्यो से गुस्सा कर सकता है ?

१. बालवीर्य : पंडितवीर्य

१ दुहा वेयं सुयक्खाय वीरियं ति पवुच्चई।
किण्णु वीरस्स वीरित ? केण वीरो त्ति वुच्चई ? (सू० १, ८ : १)

वह जो वीर्य कहलाता है, दो प्रकार का कहा गया है। वीर पुरुष का वीर्य क्या है ? किस कारण वह वीर कहा जाता है ?

२ कम्ममेव पवेदेति अकम्मं वा वि सुव्वया।
एतेहि दोहि ठाणेहि जेहि दीसति मच्चिया।। (सू० १, ८ : २)

सुव्रत सकर्म वीर्य और अकर्म वीर्य—इस तरह दो प्रकार का वीर्य कहते हैं। ये दो स्थान है, जिनमे मृत्युलोक के सर्व प्राणी देखे जाते हैं।

३. पमायं कम्ममाहसु अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वा वि बाल पंडियमेव वा।। (सू १, ८ : ३)

ज्ञानियो ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है। अत प्रमाद के होने से बाल वीर्य और अप्रमाद के होने से पण्डित वीर्य होता है।

४. सत्थमेगे सुसिक्खंति अतिवाताय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति पाणभूयविहेडिणो।। (सू १, ८ : ४)

कुछ लोग प्राणियो को मारने के लिए शस्त्र-विद्या सीखते है और कुछ प्राण और भूतों के घातक मत्रो की आराधना करते है।

५. माइणो कट्टु मायाओ कामभोगे समारभे।
हंता छेत्ता पगतित्ता आय-सायाणुगामिणो।। (सू १, ८ : ५)

मायावी पुरुष माया कर मन, वचन और काय से कामभोगो का सेवन करते हैं। जो अपने ही सुख के लिप्सु है, वे प्राणियो का हनन-छेदन और कर्तन करनेवाले होते है।

६. मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो।
आरतो परतो वा वि दुहा वि य असजता।। (सू १, ८ . ६)

असयमी पुरुष मन, वचन और काया से अथवा मन से ही इस लोक ओर परलोक—दोनो के लिए तथा करने ओर कराने रूप—दोनो प्रकार के जीवो की हिसा करते हैं।

७. वेराइं कुव्वती वेरी ततो वेरेहि रज्जती।
पावोवगा य आरंभा दुक्खफासा य अंतसो।। (सू १, ८ : ७)

वैरी—जीव-हिसा करानेवाला पुरुप—वैर करता है। इससे दूसरो के वेर का भागी होता है तव पुन वैर करता है। इस तरह वेर से वैर बँधता जाता है। सावद्य अनुष्ठान रूप आरम्भ (हिसा-कार्य) फल देने के समय दु खकारक होते हैं।

८. संपरायं णियच्छंति अत्तदुक्कडकारिणो।
रोगदोसस्सिया बाला पावं कुव्वंति ते बहुं।। (सू १, ८ : ८)

मूर्ख-जीव राग-द्वेष के आश्रित हो अनेक पाप-कर्म करते हैं। जो इस तरह स्वयं दुष्कृत करते हें, वे साम्परायिक कर्म का वन्धन करते हैं।

९. एतं सकम्मविरियं बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो अकम्मविरियं पंडियाणं सुणेह मे।। (सू १, ८ : ९)

यह वाल जीवो का सकर्म वीर्य कहा है। अव पण्डितो का अकर्म वीर्य मुझसे सुनो।

१०. णेयाउयं सुयक्खातं उवादाय समीहते।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं असुहत्तं तहा तहा।। (सू १, ८ : ११)

वालवीर्य पुन-पुन दु खावास है। प्राणी वालवीर्य का जेसे-जैसे उपयोग करता है, वैसे-वेसे अशुभ होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप मार्ग मोक्ष की ओर ले जानेवाला कहा गया है। उसे ग्रहण कर पंडित मोक्ष के लिए उद्योग करता है।

११. दविए बंधणुम्मुक्के सव्वतो छिण्णबंधणे।
पणोल्ल पावगं कम्मं सल्लं कंतति अंतसो।। (सू १, ८ : १०)

जो राग-द्वेष से रहित है, जो कषायरूपी वंधन से मुक्त है, जो सर्वत., स्नेह-वधनो का छेदन कर चुका, वह पाप कर्मों को रोक, अपनी आत्मा मे चुभे शल्य को समूल उखाड डालता. है।

१२. जं किंचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरा खिप्पं सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए।। (सू १, ८ : १५)

पंडित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयु का क्षयकाल जाने तो उसके पहले ही शीघ्र संलेखना-रूप शिक्षा को ग्रहण करे।

१३. जहा कुम्मे सअगाई सए देहे समाहरे।
एवं पावेहि अप्पाणं अज्झप्पेण समाहरे।। (सू १, ८ १६)

जैसे कछुवा अपने अगो को अपनी देह मे समाहित कर लेता है वैसे ही मेधावी पुरुष आध्यात्मिक भावना द्वारा अपनी आत्मा को पापो से सवृत्त कर ले।

१४. साहरे हत्थपाए य मण सव्विदियाणि य।
पावगं च परीणामं भासादोसं च पावगं।। (सू १, ८ : १७)

विवेकी पुरुष अपने हाथ, पॉव, मन और सर्व इद्रियो को नियन्त्रण मे रखे। पाप पूर्ण आत्म-परिणाम और भाषा के दोषो को छोडे।

१५ पाणे य णाइवाएज्जा अदिण्ण पि य णातिए।
सातियं ण मुस बूया एस धम्मे वुसीमओ।। (सू १, ८ . २०)

प्रियप्राण प्राणियो का हनन न करे, बिना दी हुई कोई भी चीज न ले, कपटपूर्ण झूठ न बोले। आत्म-जयी वीर पुरुष का यही धर्म है।

१६ अतिक्कमति वायाए मणसा वि ण पत्थए।
सव्वओ संवुडे दते आयाण सुसमाहरे।। (सू १, ८ . २१)

सच्चा वीर मन, वचन और काया से किसी प्राणी को पीडा पहुॅचाना न चाहे। बाहर और भीतर सब ओर से सवृत और दान्त पुरुष मोक्ष देनेवाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी वीरता को अच्छी तरह ग्रहण करे।

१७. कडं च कज्जमाण च आगमेस्स च पावग।
सव्वं तं णाणुजाणंति आयगुत्ता जिइदिया।। (सू १, ८ : २२)

आत्मगुप्त जितेन्द्रिय पुरुष किसी के द्वारा किये गए तथा किये जाते हुए और भविष्य मे किये जाने वाले पापो का अनुमोदन नहीं करते।

१८ झाणजोगं समाहट्टु काय वोसेज्ज सव्वसो।
तितिक्ख परमं णच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।।
(सू १, ८ २७)

पडित पुरुष ध्यानयोग को ग्रहण कर, सर्व प्रकार से अकुशल योग मे प्रवृत्त शरीर का व्युत्सर्ग करे—बुरे व्यापारो से हटावे। तितिक्षा को परम-प्रधान समझकर शरीरपात पर्यन्त सयम का पालन करता हुआ रहे।

१६. अप्पपिडासि पाणासि अप्प भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिणिव्वुडे दते वीतगेही सया जए।। (सू १, ८ २६)

सुव्रती पुरुष, अल्प खाये, अल्प पीवे, अल्प बोले। वह क्षमावान हो, लोभादि से निवृत्त हो, जितेन्द्रिय हो, गृद्धि-रहित हो तथा सदाचार मे सदा यत्नवान् हो।

१०. अणु माणं च मायं च तं पण्णिाय पंडिए।
आयट्ठ सुयादाय एव वीरस्स वीरियं।। (सू १, ८ : १८)

पडित पुरुष बुरे फल को जान अणुमात्र भी माया और मान का त्याग करे। मोक्षार्थ को—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी मुक्ति-मार्ग को—ग्रहण कर धैर्यपूर्वक क्रोधादि विकारो को जीतने की साधना करे। यही वीर पुरुष का अकर्म वीर्य है—उसका वास्तविक पराक्रम है।

२१ जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा ऽसम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो।। (सू १, ८ : २३)

जो अवुद्ध हैं—परमार्थ को नहीं जानते और सम्यग्दर्शन से रहित हैं, ऐसे संसार मे पूजे जानेवाले वीर पुरुषो का सांसारिक पराक्रम अशुद्ध होता है और वह संसार-वृद्धि मे सर्वश सफल होता है।

२२. जे उ बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो।। (सू १, ८ : २४)

जो वुद्ध हें—परमार्थ को जाननेवाले हैं और सम्यग्दर्शन के सहित हैं, उन महाभाग वीरो का आध्यात्मिक पराक्रम शुद्ध होता है और वह संसार वृद्धि मे सर्वशः निष्फल होता है।

२३. बालस्स पस्स बालत्तं अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे नरए उववज्जई।। (उ० ७ : २८)

हे मनुष्य! तू बाल जीव की मूर्खता को देख। वह अधर्म को ग्रहण कर तथा धर्म को छोड अधर्मिष्ठ हो नरक मे उत्पन्न होता है।

२४. धीरस्स पस्स धीरत्तं सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे देवेसु उववज्जई।। (उ० ७ : २९)

हे मनुष्य! तू धीर पुरुष की धीरता को देख। वह सब धर्मो का पालन कर, अधर्म को छोड धर्मिष्ठ हो देवों में उत्पन्न होता है।

२५. तुलियाण बालभावं अबालं चेव पण्डिए।
चइऊण बालभावं अबालं सेवए मुणि।। (उ० ७ : ३०)

पंडित मुनि बाल-भाव और अवाल-भाव की तुलना कर बाल-भाव को छोडकर अवाल-भाव का सेवन करता है।

२. ज्ञानी : अज्ञानी

१ णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स।
जिणदिट्ठमोक्खग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि।।

(भग० आ० ७६७)

विशुद्ध लेश्या वाले जिस साधक के हृदय मे ज्ञान का प्रदीप जल रहा है उसके लिए जिन भगवान के द्वारा दिखलाये गए मुक्ति-मार्ग मे विनाश का भय नहीं है।

२ सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण हू अण्णणी णाणी एत्तो हु विवरीओ।। (मो० पा० ५४)

जो इष्ट वस्तु के सयोग होने पर उस पर-द्रव्य मे रागवश प्रीति करता है वह उस राग के कारण अज्ञानी होता है। पर-द्रव्य के विषय मे इससे विपरीत भाव रखने वाला ज्ञानी होता है।

३ उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण[1]।। (मो० पा० : ५३)

अज्ञानी उग्र तप से जितने कर्म बहुत भवो मे क्षय करता है, तीन गुप्ति से गुप्त ज्ञानी उतने ही कर्म अन्तरमुहूर्तमात्र मे क्षय करता है।

४ जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हूवि चरदि तत्थेव।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू विमुच्चदि सो।।(मूल० ५ १५१)

जहॉ बाल—अज्ञानी विचरण करता है, वहीं त्यागी भी विचरण करता है परन्तु बाल—अज्ञानी बधन को प्राप्त होता है और त्यागी कर्मो से मुक्त होता है।

५ जहा खरो चदणभारवाही भारस्स भागी णहु चंदणस्स।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, नाणस्सभागी ण हु सुग्गईए।।

(वि० आ० भा० ११५८)

जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल बोझ का भागी होता है, चंदन का अधिकारी नहीं, वैसे ही चरित्र से हीन ज्ञानी केवल ज्ञान का बोझा ढोता है, सुगति का अधिकारी नहीं होता।

---

१ प्रव० ३ ३८
ज अण्णाणी कम्म खवेइ भवसयसहस्सकोडीहि।
त णाणी तिहिगुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण।।

१. तृष्णा और दुःख

१. सद्दाणुगासाणुयए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तहि ते परियावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।
(उ० ३२ : ४०)

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव की तृष्णा से उनके पीछे चलनेवाला अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ को प्रधान कर नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवो की हिसा करता हैं। वह क्लिष्ट जीव उन्हे कई प्रकार से परिताप देता और पीडा पहुँचाता है।

२. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए वियोगे य कहि सुह से संभोगकाले य अतित्तिलामे ?।।
(उ० ३२ : ४१)

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भावो के प्रति अनुराग और मूर्च्छा के कारण उनके उत्पादन, रक्षण और प्रबध मे (क्लेश और चिता होती है)। विनाश और वियोग मे (शोक होता है)। सभोग-काल मे भी तृप्ति-लाभ न होने से (खेद होता है)। ऐसी स्थिति मे मनुष्य को विषयो मे सुख कहाँ से हो सकता है।

३ सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्त।।
(उ० ३२ · ४२)

शब्दादि विषयो मे अतृप्त और परिग्रह मे आसक्त जीव कभी सतोष को प्राप्त नहीं होता है। इस असंतोष-दोष के कारण दु.खी हो लोभवश दूसरो की चीजो को बिना दिए लेने लगता है (चोरी करने लगता है)।

४ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।
(उ० ३२ : ४३)

तृष्णा से अविभूत, चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त और शब्दादि विषयो और परिग्रह मे अतृप्त पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषा की वृद्धि करता है, तथापि वह दु ख से मुक्त नहीं हो पाता।

५. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरते।
एव अदत्ताणि समाययतो सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।
(उ० ३२ · ४४)

मृषावाद के पहले और पीछे तथा मृषावाद करते समय वह दुरंत दुष्ट कर्म करने वाला पुरुष अवश्य दु खी होता है। चोरी मे प्रवृत्त और शब्दादि मे अतृप्त हुई आत्मा दु ख को प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता।

६ सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एव कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख।।
(उ० ३२ : ४५)

शब्दादि विषयो मे अनुरक्त पुरुष को इस परिस्थिति मे कदाचित् किंचित् भी सुख कैसे हो सकता है ? जिनको प्राप्त करने के लिए दु ख उठाया उन्हीं शब्दादि विषयो के उपभोगकाल मे भी वह क्लेश और दु ख को ही प्राप्त होता है।

२. विषय और विनाश

१ सद्दस्स सोयं गहणं वयति सोयस्स सद्दं गहण वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ ३६)

जो शब्द को ग्रहण करता है, उसे श्रोत्र (कान) कहा गया है। जो श्रोत्र का ग्रहण (विषय) है, उसे शब्द कहा गया है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। जो शब्द द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।

२. सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालिय पावइ से विणास।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं।।
(उ० ३२ ३७)

जिस तरह शब्द मे मुग्ध बना रागातुर हिरण अतृप्त ही मृत्यु का ग्रास बनता है, उसी तरह शब्द के विषय मे तीव्र गृद्धि रखनेवाला पुरुष अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

३. एमेव सद्दम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ४६)

इसी तरह शब्द के विषय मे द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दु.ख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे उसे विपाककाल मे पुन दु ख होता है।

४. रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : २३)

जो रूप को ग्रहण करता है, उसे चक्षु कहा गया है। चक्षु के ग्राह्य विषय को रूप कहा गया है। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो रूप द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

५. रूवेसु जो गिद्धिमवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे आलोयलोले समुवेइ मच्चुं।।
(उ० ३२ : २४)

जिस तरह रागातुर पतंग आलोक मे मोहित हो अतृप्त अवस्थ में मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी तरह जो रूप में तीव्र गृद्धि को प्राप्त होता है, वह मनुष्य अकाल मे ही व्रिनाश को प्राप्त होता है।

६. एमेव रूवम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ३३)

इसी तरह रूप के विषय में द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दु ख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे उसे विपाककाल मे पुन. दुःख होता है।

७. गंधस्स घाणं गहणं वयंति घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ .४६)

जो गन्ध को ग्रहण करता है, उसे घ्राण (नाक) कहते हैं। जो नाक का ग्राह्य विषय है, उसे गन्ध कहते हैं। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो गंध द्वेष का हेतु होता हे, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

८. गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे सप्पे विलाओ विव निक्खमंते।।
(उ० ३२ : ५०)

जिस तरह रागातुर सर्प औषधि की गंध मे गृद्ध हो बिल से निकलता हुआ विनाश को प्राप्त होता है, उसी तरह गध मे तीव्र गृद्धि को प्राप्त मनुष्य अकाल मे ही विनाश को प्राप्त करता है।

९. एमेव गधम्मि गओ पओस उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चित्ताइ कम्म जं से पुणी होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ . ५६)

इसी तरह गध के विषय मे द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दु ख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मो का सचय करता है, जिससे उसे विपाक-काल मे पुन बडा दु ख होता है।

१०. रसस्स जिब्भं गहणं वयंति जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ . ६२)

जो रस को ग्रहण करती है, उसे जिह्वा का ग्राह्य विषय रस कहा गया है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो रस द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

११. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व अकालियं पावइ से विणासं।
रागउरे बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे।।
(उ० ३२ : ६३)

जिस तरह रागातुर मच्छ आमिष खाने की गृद्धि के वश कॉटे से बिधा जाकर मरण को प्राप्त होता है, उसी तरह जो मनुष्य रस मे तीव्र गृद्धि को प्राप्त होता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त करता है।

१२. एमेव रसम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं ज से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ ७२)

इसी तरह शब्द के विषय मे द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दु ख-समूह की परम्पराओ को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मो का सचय करता है, जिससे विपाक-काल मे उसे पुन दु ख होता है।

१३ फासस्स कायं गहण वयति कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : ७५)

जो स्पर्श को ग्रहण करता है, उसे काय कहते हैं। जो काय का ग्राह्य विषय है, उसे स्पर्श कहा है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, वह मनोज्ञ कहा जाता है। जो स्पर्श द्वेष का हेतु होता है, वह अमनोज्ञ कहा जाता है।

१४ फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणास।
रागाउरे सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने।।
(उ० ३२ . ७६)

जिस तरह जगल के शीतल जलाशय मे निमग्न रागातुर महिष ग्राह द्वारा पकडा जाकर विनाश को प्राप्त होता है, उसी तरह स्पर्श के विषय मे तीव्र गृद्धि को प्राप्त मनुष्य अकाल मे ही विनाश को प्राप्त करता है।

१५ एमेव फासम्मि गओ पओस उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो व चिणाइ कम्मं ज से पुणो होइ दुह विवागे।।
(उ० ३२ . ८५)

इसी तरह शब्द के विषय मे द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दु.ख-समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मो का सचय करता है, जिससे विपाक-काल मे उसे पुन बडा दु ख होता है।

१६ भावस्स मणं गहण वयंति मणस्स भाव गहणं वयति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ ८८)

जो भाव को ग्रहण करता है, उसे मन कहते हैं। मन का ग्राह्य विषय भाव कहा जाता है। जो भाव राग का हेतु होता है, वह मनोज्ञ कहा जाता है। जो भाव द्वेष का हेतु होता है, वह अमनोज्ञ कहा जाता है।

१७ भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे करेणुमग्गावहिए व नागे।।
(उ० ३२ ८६)

जिस तरह कामभाव मे गृद्ध और रागातुर हाथी हथिनी के द्वारा मार्ग-भ्रष्ट होकर मारा जाता है, उसी तरह भाव के विषय मे तीव्र गृद्धि प्राप्त मनुष्य अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

१८. एमेव भावम्मि गओ पओस उवेइ दुक्खोहपरपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं ज से पुणो होइ दुह विवागे।।
(उ० ३२ ६८)

इसी तरह भाव के विषय मे द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दु ख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। प्रदुष्ट चित्त द्वारा वह कर्मो का सचय करता है, जिससे उसे विपाक-काल मे पुन बडा दु ख होता है।

३. संसार-परम्परा : मोक्ष-साधना

१ जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभव जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हं मोहं च तण्हाययणं वयंति।।
(उ० ३२ : ६)

जैसे बलाका अडे से उत्पन्न होती है और अंडा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है और मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा कही गयी है।

२. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्ख च जाईमरण वयति।।
(उ० ३२ · ७)

राग और द्वेष—ये दोनो कर्मो के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न कहा गया है। कर्म जन्म और मरण का मूल है और जन्म-मरण को दु ख का मूल कहा गया है।

३. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइ।।
(उ० ३२ · ८)

उसका दु ख नष्ट हो गया, जिसके मोह नहीं होता। उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नहीं होती। उसकी तृष्णा नष्ट हो गई जिसके लोभ नहीं होता। उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिचन है।

४ नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।
(उ० ३२ : २)

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग और द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से जीव एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

५. तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगतनिसेवणा य सुत्तत्थसंचितणया धिई य।।
(उ० ३२ . ३)

गुरु और वृद्ध सतो की सेवा, अज्ञानी जनो (के सग) का दूर से ही वर्जन, एकाग्र चित्त से स्वाध्याय, एकान्तवास, सूत्र और अर्थ का भली प्रकार चिन्तन तथा धृति—यह ही एकान्तिक सुखमय मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग है।

४. राग-द्वेष-मोह क्षय-विधि

१. रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं।।
(उ० ३२ : ६)

राग, द्वेष और मोह को समूल उखाड डालने की कामना रखनेवाले पुरुष को जिन-जिन उपायो का आश्रय लेना चाहिए, उन्हे मैं यथाक्रम कहूँगा।

२. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुम जहा साउफल व पक्खी।।
(उ० ३२ : १०)

घी, दूध आदि रसो का बहुत मात्रा मे सेवन नहीं करना चाहिए। रस पदार्थ प्राय मनुष्यो के लिए उद्दीपक होते हैं। जिस तरह पक्षी स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर दौडे चले जाते है, उसी तरह से दीप्त वीर्यवान पुरुष की ओर काम-वासनाएँ दोडी चली आती हैं।

३ जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई।।
(उ० ३२ : ११)

जिस तरह प्रचुर काष्ठ से भरे हुए वन मे अग्नि लग जाय और साथ ही पवन चलती हो तो दावाग्नि नहीं बुझती, उसी तरह से अति मात्रा मे आहार करनेवाले मनुष्य की इन्द्रियाग्नि शान्त नहीं होती। किसी भी ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन—अति आहार हितकर नहीं है।

४ विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहि।।
(उ० ३२ : १२)

जो एकान्त शय्यासन के सेवी है, अल्पाहारी हैं और जितेन्द्रिय हैं, उनके चित्त को विषयरूपी शत्रु वैसे ही आक्रात नहीं कर सकता जैसे औषधि से परजित व्याधि शरीर को। (औषधि से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है, वैसे ही इस नियम के पालन से विषयरूपी शत्रु पराजित हो जाता है)।

५ जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो।।
(उ० ३२ : १३)

जैसे बिल्लियो के वास के समीप मे चूहे का रहना प्रशस्त नहीं, उसी तरह से जिस मकान मे स्त्रियो का वास हो, उस स्थान मे ब्रह्मचारी के रहने मे क्षेम-कुशल नहीं।

६. अदसण चेव अपत्थण च अचितण चेव अकित्तण च।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं हिय सया बम्भवए रयाण।।
(उ० ३२ . १५)

स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मजुल भाषण, अग-विन्यास और कटाक्ष आदि को न देखना चाहिए। उनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उनका मन मे चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनका कीर्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य मे रत पुरुष के लिए ये नियम सदा हितकारी और आर्य ध्यान (उत्तम समाधि) प्राप्त करने मे सहायक हैं।

७. मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ।।
(उ० ३२ : १७)

जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, ससार-भीरु है, धर्म मे स्थित है, उसके लिए मूर्ख के मन को हरनेवाली स्त्रियो की आसक्ति को पार पाने से अधिक दुष्कर कार्य इस लोक मे दूसरा नहीं है।

८. एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गगासमाणा।।
(उ० ३२ : १८)

इस आसक्ति का पार पा लेने पर शेष आसक्तियो का पार पाना उसी प्राकर सरल हो जाता है जिस प्रकार महासागर तैर लेने पर गगा के समान नदियो को तैरना।

६ कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सऽन्तग गच्छइ वीयरागो।।
(उ० ३२ · १६)

देवो सहित सर्व लोक मे जो सब कायिक और मानसिक दु ख हैं, वे सब कामभोगो की आसक्ति से ही उत्पन्न है। वीतराग पुरुष ही उन सबका अत ला सकता है।

१०. जहा य किपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे।।
(उ० ३२ . २०)

जिस तरह किम्पाक फल खाते समय रस और वर्ण मे मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अत करते हैं, उसी तरह से भोगने मे मनोहर काम-भोग विपाक-काल (फल देने की अवस्था) मे विनाश के (अधोगति) के कारण होते है।

: १४ :

दृष्टान्त

१. एलक

१. जहाएसं समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा पोसेज्जा वि सयंगणे।।
तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे आएस परिकंखए।।
जाव न एइ आएसे ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तमि आएसे सीसं छेत्तूण भुज्जई।।
जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए।
एवं बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउयं।। (उ० ७ : १-४)

जैसे कोई अतिथि के उद्देश्य से एलक (मेमने) का पोषण करता है, उसे चावल और जौ खिलाता है, अपने ऑगन मे ही उसे रखता और उसका पालन करता है और जैसे इस तरह पोसा हुआ वह एलक पुष्ट, परिवृद्ध, जातमेद, महाउदर और तृप्त तथा विपुल देहवाला होने पर अतिथि की प्रतीक्षामात्र के लिए होता है।

इस तरह जैसे वह एलक निश्चय रूप मे अतिथि के लिए ही पोसा जाता है—जब तक अतिथि नहीं आता, तब तक ही बेचारा जीता है और अतिथि के आने पर उसका सिर छेद कर खा लिया जाता है, उसी प्रकार अधर्मिष्ठ दुराचारी मूर्ख मनुष्य मानो कर्मो की अपेक्षा नरकायु के लिए पुष्ट होता है और उसकी इच्छा करता है।

२ हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे माई कण्हुहरे सढे।।
इत्थीविसयगिद्धे य महारंभपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे।।
अयकक्करभोई य तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउय नरए कंखे जहाएसं व एलए।। (उ० ७ : ५-७)

जो मूर्ख है, हिंसक है, झूठ बोलनेवाला है, मार्ग मे लूटनेवाला है, ग्रथिच्छेदक है, चोर है, मायी है ओर किसको हरण करूँ—ऐसे विचारवाला शठ है, जो स्त्री और

विषयो मे गृद्ध है, जो महारम्भी और महापरिग्रही है, जो सुरा और मास का खान-पान करनेवाला है, बलवान होकर दूसरे को दमन करनेवाला है और जो बकरे की तरह कर्कर शब्छ करते हुए मास को खानेवाला है—ऐसा बडे पेट और उपचित रक्तवाला मूर्ख ठीक तरह नरकायु की आकाक्षा करता है, जिस तरह पोसा हुआ एलक अतिथि की।

३. आसण सयणं जाण वित्तं कामे य भुजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा बहुं संचिणिया रयं।।
तओ कम्मगुरू जन्तू पच्चुप्पनपरायणे।
अय व्व आगयाएसे मरणतंमि सोयई।।
तओ आउपरिक्खीणे चुया देहा विहिसगा।
आसुरियं दिसं बाला गच्छंति अवसा तमं।। (उ० ७ · ८-१०)

आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगो को भोगकर मूर्ख बहुत कर्म-रज को सचित कर कर्मगुरु—कर्मो से भारी बन जाता है। ऐसा कर्मगुरु—कर्मो से भारी बना हुआ और केवल वर्तमान को ही देखनेवाला प्राणी कष्ट से प्राप्त धन को यहीं छोडकर जाता हुआ मरणान्त काल मे उसी प्रकार सोच करता है, जिस तरह पुष्ट एलक अतिथि के आने पर। (अतिथि के पहुँचने पर जैसे एलक शिर से छेदा जाकर खाया जाता है) उसी तरह आयुष्य के क्षीण होने पर नाना प्रकार की हिसा करनेवाले मूर्ख, देह को छोड परवश बन, अन्धकारयुक्त नरक गति की ओर जाते हैं।

२. गली-गर्दभ

१ वहणे वहमाणस्स कंतार अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स ससारो अइवत्तई।। (उ० २७ २)

वाहन मे जोडे हुए विनीत वृषभ आदि को चलाता हुआ पुरुष अरण्य को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग-यान (सयम-रथ) मे जोडे हुए सुशिष्यो को चलाता हुआ आचार्य इस ससार को सुखपूर्वक पार करता है।

२. खलुके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहि च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई।। (उ० २७ ३)

जो वाहन मे दुष्ट वृषभो को जोतता है, वह उनको मारते-मारते क्लेश को प्राप्त होता है। वह असमाधि का अनुभव करता है। उसका तोत्रक (आर) तक टूट जाता है।

३ एग डसइ पुच्छमि एग विंधइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं एगो उप्पहपट्ठिओ।। (उ० २७ : ४)

वह एक की पूँछ को काट देता है और दूसरे को वार-वार आरे से वींधता है। (तो भी) एक जुए को तोड डालता है, तो दूसरा उन्मार्ग की ओर दौडने लगता है।

४. एगो पडइ पासेणं निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दइ उप्फिडई सढे बालगवी वए।। (उ० २७ : ५)

एक एक पार्श्व से जमीन पर गिर पडता है, वैठ जाता है, सो जाता है तो दूसरा शठ कूदता है, उछलता है और तरुण गाय के पीछे दौडता है।

५. माई मुद्धेण पडइ कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई वेगेण य पहावई।। (उ० २७ : ६)

एक वृषभ माया कर मस्तक से गिर पडता है, तो दूसरा क्रोध-युक्त होकर उल्टा चलता है। एक मृतक की तरह पड जाता है तो दूसरा जोर से दौडने लगता है।

६. छिन्नाले छिंदइ सेल्लि दुद्दंतो भंजए जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता उज्जहित्ता पलायए।। (उ० २७ : ७)

छिन्नाल वृषभ रास का छेदन कर देता है, दुर्दान्त जुए को तोड डालता है और सो-सो कर वाहन को छोडकर भाग जाता है।

७. खलुंका जारिसा जोज्जा दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जंति धिइदुब्बला।। (उ० २७ : ८)

यान मे दुष्ट वृषभो को जोतने पर जो हाल होता है, वही हाल धर्म-यान मे दु.शिष्यो को जोडने से होता है।[1] दुर्बल धृति वाले शिष्य, जैसे दुष्ट वृषभ यान को तोड डालता है, उसी तरह धर्म-यान को भग्न कर डालते हैं।

८ अह सारही विचिंतेइ खलुंकेहि समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहि अप्पा मे अवसीयई।।
जारिसा मम सीसाउ तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं दढं परिगिण्हइ तवं।। (उ० २७ : १५-१६)

उन दुष्ट वृषभो द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथी जैसे सोचता है कि इन दुष्ट वृषभो से मुझे क्या प्रयोजन जिनके ससर्ग से मेरी आत्मा विषाद को प्राप्त होती है, उसी तरह धर्माचार्य सोचते है—जैसे ये मेरे दुर्बल दुष्ट शिष्य है वैसे ही गली-गर्दभ होते हैं इनको छोडकर मै तप को ग्रहण करता हूँ।

---

१ इस उपमा के विस्तार के लिए दिखिये—उ० २७ ६-१४।

६. रमए पण्डिए सास हयं भद्द व वाहए।
बाल सम्मइ सासंतो गलियस्स व वाहए।। (उ० १ · ३७)

पण्डितो को शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है, जिस प्रकार भद्र घोडे का शासन करनेवाला वाहक। मूर्ख शिष्यो को शिक्षा करता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है, जिस प्रकार गलि-अश्व का वाहक।

३. दिग्मूढ़

(१) मृग

१ जविणो मिगा जहा सता परिताणेण तज्जिया।
असंकियाइ संकति, संकियाइं असकिणो।।
परिताणियाणि संकता पासियाणि असंकिणो।
अण्णाणभयसविग्गा संपलिंति तहि तहि।।
अह तं पवेज्ज वज्झं अहे वज्झस्स वा वए।
मुच्चेज्ज पययासाओ त तु मदोण देहई।।
(सू० १, १(२) . ६-८)

जैसे सुरक्षित स्थान से भटके हुए चचल मृग, शका के स्थान मे शका नहीं करते अैर अशका के स्थान मे शका करते है और इस तरह सुरक्षित स्थान मे शका करते हुए और पाशस्थान मे शका न करते हुए वे अज्ञानी और भय-सत्रस्त जीव उन-उन पाशयुक्त स्थानो मे फॅस जाते है। यदि मृग उस बन्धन को फॉदकर चले आऍ या उसके नीचे से निकल जाऍ तो पैर के बनधन से मुक्त हो सकते है। पर वे मूर्ख यह नहीं देखते।

२. अहियप्पाऽहियप्पण्णाणे विसमतेणुवागए।
से बद्धे पयपासाइ तत्थ धायं णियच्छइ।।
धम्मपण्णवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं ण संकंति अवियत्ता अकोविया।।
सव्वप्पगं विउक्कस्स सव्वं णूम विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे एयमट्ठ मिगे चुए।।
जे एयं णाभिजाणंति मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते घायमेसतऽणंतसो।।
(सू० १, १(२) . ६, ११-१३)

जिस तरह हिताहित के विवेक से शून्य मृग, विषमान्त मे पहुँच, पद-बन्धन के द्वारा बद्ध होकर वहीं मर जाता है और इस तरह अपना बडे-से-बडा अहित करता है, उसी तरह से विवेक शून्य अज्ञानी मूढ धर्म-स्थान मे शका करते है और आरम्भ मे शका नहीं करते। लोभ, मान, माया और क्रोध को छोड मनुष्य कार्माश रहित—मुक्त होता है, पर अज्ञानी मनुष्य मूर्ख मृग की तरह इस बात को छोड देता है। जो बन्धन-मुक्ति के उपाय को नहीं जानते वे मिथ्यादृष्टि अनार्य उसी तरह अनन्त बार घात को प्राप्त करते हैं, जिस तरह वह पाशबद्ध मृग।

३. अमणुण्णसमुप्पायं दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणता किह णाहिति संवरं।। (सू० १,१ (३) : १०)

अशुभ अनुष्ठान करने से दु ख की उत्पत्ति होती है। जो लोग दु ख की उत्पत्ति का कारण नहीं जानते हैं, वे सवर—दु ख-नाश के उपाय को कैसे जान सकते है ?

(२) अंधानुसरण

४ वणे मूढे जहा जंतू मूढणेयाणुगामिए।
दो वि एए अकोविया तिव्वं सोयं णियच्छई।।
अंधो अध पह णेतो दूरमद्धाण गच्छई।
आवज्जे उप्पह जतू अदुवा पंथाणुगामिए।।
एवमेगे णियागट्ठी धम्ममाराहगा वयं।
अदुआ अहम्ममावज्जे ण ते सव्वज्जुयं वए।।
(सू० १, १ (२) : १८-२०)

जैसे वन मे भूला हुआ कोई दिग्मूढ जीव दूसरे दिग्मूढ जीव का अनुसरण कर ठीक रास्ते पर नहीं आता और रास्ते को नहीं जानने से दोनो ही तीव्र शोक को प्राप्त होते हैं।

जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को मार्ग दिखाता हुआ दूर निकल जाता है या उत्पथ में चला जाता है या उल्टे पथ पर चला जाता है, उसी तरह से कई मुक्ति की कामना रखने वाले समझते हैं कि हम धर्म की आराधना कर रहे हैं परन्तु मिथ्या धर्म पर चलने से सर्वथा ऋजु मार्ग को नहीं पाते।

५. एवमेगे वियक्काहि णो अण्णं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहि अयमजू हि दुम्मई।।
एवं तक्काए साहेंता धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्ख ते णातिवट्टति सउणि पंजरं जहा।।
(सू० १, १ (२) : २१-२२)

कई ऐसे है जो केवल कुतर्क ही किया करते है और दूसरे सच्चे हो तो भी उनकी पुर्युपासना नहीं करते। दुर्मति अपनी तर्क से ही सोचते रहते है कि उनका मार्ग ही सरल है। इस प्रकार अपने पक्ष मे तर्क करते हुए तथा धर्माधर्म को नहीं जानते हुए ऐसे लोग पिजरे मे बँधते हुए पक्षी की तरह दु ख का अन्त नही कर सकते।

६ सय सय पसंसता गरहंता परं वय।
जे उ तत्थ विउस्सति संसार ते विउस्सिया।। (सू० १, १ (२) : २३)

अपने-अपने मत की प्रशसा करने मे और दूसरो के मत की निन्दा करने मे ही जो पाडित्य दिखाते है, वे ससार मे बँधे रहते हैं।

(३) फूटी नाव

७. जहा आसाविणि णाव जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं अंतराले विसीयई।।
एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकखी ते संसार अणुपरियट्टति।।
(सू० १, १ (२) : ३१-३२)

जिस तरह छेदवाली फूटी नाव मे बैठकर पार जाने की इच्छा करनेवाला जन्मान्ध पुरुष पार नहीं जा सकता और बीच मे ही डूबता है, इसी तरह से कई अनार्य और मिथ्या-दृष्टि श्रमण ससार से पार पाने की आकाक्षा रखते हुए भी ससार मे ही गोते खाया करते है।

४. हार-जीत

(१) काकिणी

१ जहा कागिणिए हेउं सहस्स हारए नरो।
अपत्थ अम्बग भोच्चा राया रज्ज तु हारए।।
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अतिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो आउ कामा य दिव्विया।।
अणेगावासानउया जा सा पन्नवओ ठिई।
जाणि जीयति दुम्मेहा ऊणे वास सयाउए।। (सू० ७ . ११-१३)

जैसे एक काकिणी के लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहर को हार जाता है और जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा राज्य खो बैठता है, उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानवीय भोगो के लिए उत्तम सुखो—देव-सुखो को खो देता है।

मनुष्यो के कामभोग सहस्रगुण करने पर भी आयु और भोग की दृष्टि से देवताओ के कामभोग ही उनसे दिव्य होते हैं। मनुष्यो के काम देवताओ के कामो के सामने वैसे ही हैं, जैसे सहस्र मोहर के सामने काकिणी और राज्य के सामने आम। प्रज्ञावान की देवलोक मे जो अनेक वर्षनयुत्त की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि जीव सौ वर्ष से भी न्यून आयु मे विषय-भोगो के वशीभूत होकर हार देता है।

२. कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धंमि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेम न संविदे ?।। (सू० ७ : २४)

इस सीमित आयु मे कामभोग कुश के अग्र भाग के समान स्वल्प है। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योगक्षेम को नहीं समझते ?

(२) तीन वणिक्

३. जहा य तिन्नि वणिया मूल घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ।।
एगो मूल पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा एव धम्मे वियाणह।। (सू० ७ : १४-१५)

तीन वणिक् मूल पूँजी को लेकर घर से निकले। उनमे से एक लाभ उठाता है, दूसरा मूल को लेकर आता है और तीसरा मूल पूँजी को भी खोकर आता है। जैसे व्यवहार मे यह उपमा है, वैसे ही धर्म के विषय मे भी जानो।

४ माणुसत्त भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुव।। (सू० ७ · १६)

मनुष्य जीवन मूलधन है। देवगति लाभ-स्वरूप है। मूलधन के नाश से जीवो को निश्चय ही हार स्वरूप नरक और तिर्यञ्च गति मिलती है।

५. दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च ज जिए लोलयासढे।।
तओ जिए सइं होइ दुविहं दोग्गइ गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा अद्धाए सुइरादवि।। (सू० ७ · १७-१८)

धूर्त और लोलुप अज्ञानी जीव की, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यञ्ज ये दो गतियॉ होती है, जो कष्टमूलक ओर वधमूलक हैं।

नरक और तिर्यञ्च इन दो प्रकार की दुर्गतियो मे गया हुआ जीव सदा ही हारा हुआ होता है क्योकि इन उन्मार्गो से निकलकर विशाल पथ पर आना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

६ एव जिय सपेहाए तुलिया बाल च पडिय।
मूलियं ते पवेसति माणुस जोणिमेति जे।।
वेमायाहि सिक्खहिं जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेति माणुसं जोणिं कम्मसच्चाहु पाणिणो।। (सू० ७ : १९-२०)

इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल और पण्डित भाव को तोलकर जो मानुषी योनि मे आते हैं, वे मूल के साथ प्रवेश करते हैं।

जो नर कम-अधिक शिक्षाओ द्वारा गृहवास मे भी सुव्रती हैं, वे मानवीय योनि को प्राप्त करते हैं। प्राणी के कृत्य हमेशा सत्य होते हैं। उनका फल मिलता ही है।

७. जहा कुसग्गे उदग समुद्देण समं मिणे।
एव माणुस्सगा कामा देवकामाण अंतिए।।
जेसिं तु विउला सिक्खा मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवता सविसेसा अद्दीणा जंति देवयं।। (सू० ७ : २३, २१)

जैसे कुश के अग्रभाग पर रहा हुआ जल-बिन्दु समुद्र की तुलना मे नगण्य होता है, उसी तरह मनुष्य के कामभोग देवो के कामभोगों के सामने नगण्य होते हैं। जिन जीवो की शिक्षाएँ विपुल हैं, वे मूल पूँजी को अतिक्रान्त कर जाते हैं। जो विशेष रूप से शील और सदाचार से युक्त होते हैं, वे पराक्रमी पुरुष लाभ रूप देवगति को प्राप्त करते हैं।

८. एवमद्दीणवं भिक्खुं अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं जिच्चमाणे न संविदे ?।। (उ० ७ २२)

इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ (के गुणो) को जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोयेगा ? वह कषाय से पराजित होता हुआ क्या यंह नहीं जानता कि 'मैं पराजित हो रहा हूँ ?' यह जानते हुए उसे परजित नहीं होना चाहिए।

(३) जुआरी

६ कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहि दीव्वयं।
कडमेव गहाय णो कलिं णो तेयं णो चेव दावरं।।
एवं लोगम्मि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
त गिण्ह हियं ति उत्तमं कडमिव सेसऽवहाय पडिए।।
(सू० १ (२) २. २३-२४)

निपुण जुआरी 'कृत' नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, 'कलि', 'द्वापर' और 'त्रेता' को नहीं और पराजित नहीं होता, वैसे ही पण्डित इस लोक मे जगत्राता सर्वज्ञो ने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है, उसे ही अपने हित के लिए ग्रहण करे। पण्डित इन्द्रिय-विषयो को छोड दे, जैसे कुशल जुआरी 'कृत' के सिवा अन्य स्थानो को छोडता है।

: १५ :

समाधि

१. चतुः समाधि

१ विणए सुए अ तवे आयारे निच्चं पंडिया।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया।। (द० ६ (४) : १)

जो जितेन्द्रिय होते है वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार मे लीन किए रहते हैं।

२. पेहेइ हियाणुसासणं सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माणमएण मज्जइ विणयसमाही आयट्ठिए।।
(द० ६ (४) : २)

मोक्षार्थी हितानुशासन की अभिलाषा करता है—एसे सुनना चाहता है, शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है, अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है और मैं विनय-समाधि मे कुशल हू—इस प्रकार गर्व के उन्माद से उन्मत्त नहीं होता।

३. नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ ठावयई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए।। (द० ६ (४) : ३)

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, मनुष्य धर्म मे स्थित होता है ओर दूसरों को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि मे रत हो जाता है।

४. विविहगुणतवोरए य निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए।।
(द० ६ (४) : ४)

सदा विविध गुण वाले तप मे रत रहने वाला मुमुक्षु पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है। वह तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है, और तप-समाधि मे सदा युक्त हो जाता है।

५. जिणवयणरए अतिंतिणे पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे भवइ य दंते भावसंधए।। (द० ६ (४) ५)

जो जिन-वचनो मे रत होता है, जो बकवास नही करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है, जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा सवृत्त होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६ अभिगम चउरो समाहिओ सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावह पुणो कुव्वइ सो पयखेममप्पणो।।
(द० ६ (४) . ६)

जो समाधियो को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्षस्थान को प्राप्त करता है।

७ जाइमरणाओ मुच्चई इत्थथ च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए।।
(द० ६ (४) . ७)

वह जन्म-मरण से मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओ को पूर्णत त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला महर्द्धिक देव।

२. स्वाध्याय

१. सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एव ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तह पमाददोसेण[१]।। (मू० ६७१)

जैसे प्रमाददोष से कूडे मे गिरी हुई सूत्र सहित सूई गुम नही होती (खोजने पर मिल जाती है), उसी तरह शास्त्र-स्वाध्याय से युक्त पुरुष प्रमाददोष से स्खलित होने पर भी नष्ट नहीं डोता (जागृत होते ही आत्म-स्वरूप को पा लेता है)।

२ पूजादिसु णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्म-मल-सोहणट्ठं सुय-लाहो सुह-यरो तस्स।। (द्वा०अ० ४६२)

जो अपनी पूजा आदि की कामना से निरपेक्ष रह कर्म रूपी मैल का नाश करने के लिए भक्तिपूर्वक जिन-शास्त्र का अध्ययन करता है उसके सुखकारी श्रुत का लाभ होता है।

---

१ उत्त० २९ ५९

जहा सुई ससुत्ता पडिवावि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते ससारे न विणस्सइ।।

३ जो जिए-सत्थं सेवदि पंडिय-माणी फलं समीहतो।
साहम्मिय-पडिकूलो सत्थं पि विस हवे तस्स।।(द्वा० अ० ४६३)

जो अपनी पूजा, सत्कार आदि फल की कामना करता हुआ जिन-शास्त्र पढता है, साधर्मी के प्रतिकूल आचरण करता है वह पण्डित न होने पर भी अपने को पण्डित मानने वाला है। उसके लिए वह शास्त्र का अध्ययन विषरूप परिणमन करता है।

४. जो जुद्ध-काम-सत्थं रायदोसेहि परिणदो पढइ।
लोयावंचण-हेदुं सज्झाओ णिप्फलो तस्स।। (द्वा० अ० ४६४)

राग-द्वेष के परिणाम से जो मनुष्य लोगो को ठगने के लिए युद्धशास्त्र और काम-शास्त्र को पढता है, उसका स्वाध्याय निष्फल है।

५. जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणग-रूव-सरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं।।(द्वा० अ० ४६५)

जो पुरुष अपनी आत्मा को अशुचि शरीर से तत्त्वत भिन्न ज्ञायक-स्वरूप जानता है वह सब शास्त्रो को जानता है।

६. जो णवि जाणदि अप्पं णाण-सरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं आगम-पाठं कुणंतो वि।।(द्वा० अ० ४६६)

जो अपनी आत्मा को ज्ञान स्वरूप और शरीर से भिन्न नहीं जानता वह आगम का पाठ करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।

७. सज्झायं कुव्वतो पंचेदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू[१]।। (मू० ४१०)

जो पुरुष स्वाध्याय करता है, वह पॉचो इन्द्रियो से सवृत, तीन गुप्तियो से गुप्त तथा एकाग्रचित्त हो विनय से समाहित होता है।

८. विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।। (मू० २८६)

विनय से अध्ययन किया हुआ श्रुत किसी समय प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो अन्य जनम मे स्मरण हो जाता है और क्रमश केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

९. आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो य सवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च।। (भग० आ० १००)

---

१ मू० ६६६, भग० आ० १०४।

स्वाध्याय से आत्महित का ज्ञान, बुरे भावो का सवरण, नित्य नया सवेग, चारित्र मे निश्चलता, तप, उत्तम भाव और परोपदेशकता—ये गुण उत्पन्न होते है।

१०. बारसविहम्मि य तवे सब्भतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं।।[१]
(भग० आ० १०७)

कुशल पुरुष द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्य भेद वाले बारह प्रकार के तपो मे स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तपकर्म न तो है और न होगा।

११ इहलोगपारत्तहिय जेणं गच्छइ सोग्गइ।
बहुस्सुय पज्जुवासेज्जा पुच्छेज्जत्थ विणिच्छय।। (द० ८ . ४३)

जिनके द्वारा इहलोक और परलोक मे हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य बहुश्रुत की पर्युपासना करे और अर्थ विनिश्चय के लिए प्रश्न करे।

१२. सुत्तत्थं जिणभणिय जीवाजीवादिबहुविह अत्थं।
हेयहियं च तहा जो जाणइ सो हु सुद्दिट्ठी।। (सू० पा० ५)

जो मनुष्य जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए सूत्र मे वर्णित जीव आदि अनेक पदार्थो को तथा हेय और उपादेय को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

१३ जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयण अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाणं।।[२] (द० पा० १७)

यह जिनवचन औषधिरूप है। विषय सुखो का विरेचन करने वाला है। अमृत के समान है। जरा-मरण रूपी व्याधि का हरण करने वाला और सर्व दु खो का क्षय करने वाला है।

१४ बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि।
मरिहिति ते वराया जिणवयण जे न जाणति।।(उ० ३६ . २६१)

जो प्राणी जिन-वचनो से परिचित नहीं है, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेगे।

१५ जिणवयणणिच्छिदमदी अवि मरण अब्भुवेति सप्पुरिसा।
ण य इच्छति अकिरिय जिणवयणवदिक्कमं कादुं।। (मू० ८४२)

जिनकी बुद्धि जिन-वचनो से निश्चित है ऐसे सत्पुरुष मरण की इच्छा कर लेते हैं परन्तु जिन-वचन का उल्लघन कर कभी भी बुरा काम नहीं करना चाहते।

१ मू० ४०६।

२ मू० ६५, ८४१।

३. तप

१ बारस-भेओ भणिओ णिज्जर-हेऊ तवो समासेण।
तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा।। (द्वा० अ० ४३८)

कर्म-निर्जरा का हेतु तप संक्षेप मे बारह प्रकार का कहा गया है। उसके भेद जो अब कहे जायेगे, उन्हे जानना चाहिए।

२ जो मण-इंदिय-विजई इह-भव-परलोय-सोक्ख-णिखेक्खो।
अप्पाणे विय णिवसइ सज्झाय-परायणो होदि।।
(द्वा० अ० ४४०)

जो मन और इन्द्रियो को जीतने वाला है, इहलोक और परलोक के विषय सुखो की अपेक्षा-रहित है, जो आत्म-स्वरूप मे वास करता है तथा स्वाध्याय मे तत्पर हे, उसके अनशन तप होता है।

३. कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए।
एग-दिणादि-पमाणं तस्स तवं अणसणं होदि।। (द्वा० अ० ४४१)

एक दिन आदि की मर्यादा से कर्मो की निर्जरा के लिए क्रीडा की तरह आहार को छोडता है, उसके अनशन तप होता है।

४. बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं ततो ऊणियगहण उमोदरियं।। (मू० ३५०)

पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस कवल—ग्रास प्रमाण होता है। उनमे से एक कवल आदि का कम करना अवमौदर्य तप है।

५. धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि।
ण य इदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्ती।। (मू० ३५१)

धर्म, आवश्यक, योग, ज्ञानादि मे अवमौदर्य तप की वृत्ति उपकार करती है और इन्द्रियो को स्वेच्छाचारी नहीं होने देती।

६ गोयरपमाण दायगभायणणाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स वुत्तिपरिसंखा।। (मू० ३५५)

गृहो का प्रमाण तथा दाता, पात्र, भोजन आदि के अनेक तरह के विकल्प कर अशन आदि का ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्या[1] तप है।

---

१ इस तप का नाम भिक्षाचर्या भी है और वृत्तिसक्षेप भी।

७ खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं।।[१] (उ० ३० : २६)

दूध, दही, घृत आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसो के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है।

८. संसार-दुक्ख-तड्ढो विस-समयं-विसयं विचिंतमाणो जो।
णीरस-भोज्ज भुजइ रस-चाओ तस्स सुविसुद्धो।। (द्वा० अ० ४४६)

जो ससार के दु ख से तप्त होकर विषयो को विष के समान सोचता हुआ नीरस भोजन करता है, उसके निर्मल रस-त्याग तप होता है।

९ ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति कायकिलेसं तमाहियं।।[२] (उ० ३० : २७)

आत्मा के लिए सुखावह वीरासन आदि उत्कट आसनो का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहा जाता है।

१० दुस्सह-उवसग्ग-जई आतावण-सीय-वाया-खिण्णो वि।
जो णवि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स।।
(द्वा० अ० ४५०)

जो दु.सह उपसर्गों को जीतने वाला होता है, आतप, शीत और वात-पीडित होकर भी चित्त मे खेद नहीं करता, उसके कायक्लेश तप होता है।

११. एगतमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं।। (उ० ३० : २८)

एकान्त, अनापात (जहॉ कोई आता-जाता न हो) और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त शयनासन (सलीनता) तप है।

१२ जो राय-दोस-हेदू आसण-सिज्जादियं परिच्चयइ।
अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो।। (द्वा० अ० ४४७)

जो रागद्वेष के हेतु आसन, शय्या आदि का परित्याग करता है तथा सदा अपने आत्मस्वरूप मे रहता है, उसके उत्कृष्ट विविक्त शय्यासन तप होता है।

१३ पूजादिसु णि रवेक्खो ससार-सरीर-भोग-णिव्विण्णो।
अब्भंतर-तव-कुसलो उवसम-सीलो महासंतो।।
(द्वा० अ० ४४८)

---

१ मिलावे मू० ३५२।

२ मिलावे मू० ३५६।

जो पूजा आदि मे निरपेक्ष है, ससार, शरीर और भोगो से विरक्त है, अभ्यंतर तपो मे कुशल है, उपशमशील है तथा महापराक्रमी है और एकान्तवास करता है, उसके विविक्त शय्यासन तप होता है।

१४. सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते।। (मू० ३५८)

वही बाह्य तप है, जिससे कि चित्त मे दुष्कृत उत्पन्न न हो, जिससे श्रद्धा उत्पन्न हो और जिससे योगो (मूल गुणो) मे कमी न हो।

१५ णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य।।
देहस्स लाघवं णेहलूहणं उवसमो तहा परमो।
जवणहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा।।
(भग० आ० २४१, २४४)

निद्रा-जय, ध्यान का दृढ होना, मुक्ति (त्याग), दर्प का नाश, स्वाध्याय-योग मे निर्विघ्नता और सुख-दु.ख मे समता तथा शरीर का हल्कापन, स्नेह का नाश, परम उपशम, यात्रामात्र आहार और संतोष—ये सब तप द्वारा सभव गुण हैं।

१६. एसो दु बाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो।
अब्भतरजणणादं वोच्छं अब्भंतरं वि तवं।। (मू० ३५६)

यह छह प्रकार का बाह्य तप है जो बाह्यजनों को भी प्रगट है जो अत्यन्त घोर है। और जो आगम मे प्रवेश करनेवाले ज्ञानी जनो को ज्ञात है वह आभ्यतर तप है।

१७. पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपाव।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्त दसविहं तु।। (मू० ३६१)

व्रत मे लगे हुए दोषो को प्राप्त हुआ पुरुष जिससे पूर्व किये हुए पापो से निर्दोष हो जाता है, वह प्रायश्चित्त तप है। उसके आलोचन आदि दस भेद है।

१८. अह कह वि पमादेण व दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि।
णिद्दोस-साहु-मूले दस-दोस-विवज्जिदो-होदुं।।
(द्वा० अ० ४५२)

यदि किसी भी प्रमाद से अपने चारित्र मे दोष आया हो तो आत्मार्थी उसको निर्दोष साधु के पास दस दोषो से रहित होकर प्रगट करे।

१६. जं किं पि तेण दिण्णं त सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए सकदि किं थोवं किं पि बहुवं वा।।
(द्वा० अ० ४५३)

दोषो की आलोचना करने पर आचार्य ने जो कुछ प्रायश्चित्त दिया हो आत्मार्थी उस सबको श्रद्धापूर्वक करता है और हृदय मे ऐसी शका नहीं करता है कि प्रायश्चित्त दिया वह थोडा है या बहुत है।

२०. पुणरवि काउं णेच्छदि तं दोसं जइ वि जाइ सय-खडं।
एवं णिच्चय-सहिदो पायच्छित्तं तवो होदि।।
(द्वा० अ० ४५४)

अपने सौ खंड भी हो जायॅ तो भी लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त ले लेने के बाद उसे पुन नहीं करना चाहता। इस प्रकार के निश्चय वाले पुरुष के प्रायश्चित्त नामक तप होता है।

२१ अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस विगाहिओ।। (उ० ३० ३२)

खडे होना, हाथ जोडना, आसन देना तथा गुरुजनो की भक्ति और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

२२. दंसणणाणे विणओ चरित्ततव ओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पचमगइणायगो भणिओ।। (मू० ३६४)

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय, उपचारविनय—इस तरह विनय के पॉच भेद हैं। यह विनय मोक्ष गति को प्राप्त करानेवाला कहा गया है।

२३. दंसण-णाण-चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
बारस-भेदे वि तवे सो च्चिय विणओ हवे तेसिं।। (द्वा० अ० ४५७)

दर्शन मे, ज्ञान मे, चारित्र मे और बारह प्रकार के तप मे जो अति विशुद्ध परिणाम होता है वही उनका विनय है।

२४. रयण-त्तय-जुत्ताणं अणुकूल जो चरेदि भत्तीए।
भिच्चो जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ।। (द्वा० अ० ४५८)

रत्नत्रय के धारक पुरुषो के प्रति शिष्य जो भक्तिपूर्वक अनुकूल आचरण करता है जैसे भृत्य राजा के प्रति,, वह उपचार विनय है।

२५ आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं।। (उ० ३० : ३३)

आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्त्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्त्य कहा जाता है।

२६ जो उवयरदि जदीण उवसग्ग-जराइ-कायाणं।
पूजादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स।। (द्वा० अ० ४५६)

जो अपनी पूजा आदि की अपेक्षा न रखता हुआ उपसर्ग तथा वृद्धावस्था आदि से क्षीणकाय यतियो का उपचार करता है उसके वैयावृत्त्य तप होता है।

२७. जो वावरइ सरूवे सम-दम-भावम्मि सुद्ध-उवजुत्तो।
लोय-ववहार-विरदो वेयावच्चं परं तस्स।। (द्वा० अ० ४६०)

जो लोक-व्यवहार से विरक्त होकर शम-दम-भावरूप अपने आत्मस्वरूप मे शुद्धोपयोगमय प्रवृत्ति करता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्त्य होता है।

२८ वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे।।[1] (उ० ३० : ३४)

स्वाध्याय पॉच प्रकार का होता है—वाचना (अध्यापन), पृच्छना (अर्थ को दूसरो से पूछना), परिवर्तना (पाठ करना), अनुप्रेक्षा (अर्थचिन्तन) और धर्मकथा।

२६ गुणपरिणामो सद्धा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
सधाण तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य।। (भग० आ० ३०६)

वैयावृत्त्य से गुणग्राह्यता, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, सद्पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्वादि गुणो का पुन संधान, तप, पूज्यता, तीर्थ की अव्युच्छित्ति, समाधि आदि गुणो की प्राप्ति होती है।

३०. पर-तत्ती-णिरवेक्खो दुट्ठावियप्पाण णासण-समत्थो।
तच्च-विणिच्चय-हेदू सज्झाओ, झाण-सिद्धियरो।। (द्वा० अ० ४६१)

स्वाध्याय दूसरो की निदा मे निरपेक्ष, मन के दुष्ट विकल्पो का नाश करने मे समर्थ, तत्त्व के विनिश्चय का हेतु और ध्यान की सिद्धि करनेवाला होता है।

३१ बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमो तवोकम्मं।। (मू० ४०६)

कुशल पुरुष द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्य भेदवाले बारह तपो मे स्वाध्याय तप के समान दूसरा कोई भी न तो है और न होगा।

३२ अतो-मुहुत्त-मेत्त लीण वत्थुम्मि माणस णाणं।
झाण भण्णदि समए असुहं च सुह च त दुविह।। (द्वा० अ० ४७०)

जो मन-सबधी ज्ञान वस्तु मे अतर्मुहूर्तमात्र लीन होता है, वह सिद्धात मे ध्यान कहा गया है। वह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है।

---

१ मिलावे मू० ३६३।

३३ अट्ट च रुद्दसहिय दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्म सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णयाणि।। (मू० ३६४)

आर्त और रौद्र ये दो ध्यान अशुभ है तथा धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान शुभ है, ऐसा जानना चाहिए।

३४ अमणुण्णजोगेइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु।
अट्ट कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण।। (मू० ३६५)

अप्रिय वस्तु के सयोग होने पर, इष्ट वस्तु के वियोग होने पर, परीषहो के उत्पन्न होने पर, निदान (परलोक सबंधी भोगो की वांछा) के होने पर कषाय सहित मन का व्यथित होना—इसे सक्षेप मे आर्तध्यान कहा गया है।

३५ तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारभे।
रुद्दंकसायसहिद झाणं भणिय समासेण।। (मू० ३६६)

चोरी, मृषा, स्वधन-सरक्षण और छहकाय के जीवो के आरभ मे कषाय-सहित मन का आनदित होना—इसे सक्षेप मे रौद्र ध्यान कहा है।

३६ अपहट्ट अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ।। (मू० ३६७)

आर्त और रौद्र ये दो ध्यान महाभय के हेतु और सुगति को रोकने वाले हैं। इसलिए इन दोनो का त्यागकर तू धर्मध्यान और शुक्लध्यान— इन दो ध्यानो मे बुद्धि कर।

३७ दुविहो य विउस्सगो अब्भतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भतर कोहादी बाहिर खेत्तादिय दव्वं।। (मू० ४०६)

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का होता है—अभ्यन्तर और बाह्य। क्रोधादि का त्याग अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और क्षेत्रादि द्रव्यो का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है।

३८ सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ।। (उ० ३० ३६)

सोने, बैठने या खडे होने के समय जो व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। यह अभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।

३९ ससरूव-चिंतण-रओ दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तवो तस्स।।
(द्वा० अ० ४६८)

जो आत्मस्वरूप के चिन्तन मे रत होता है, दुर्जन-सज्जन मे मध्यस्थ होता है, अपने शरीर के प्रति भी ममत्व-रहित होता है, उसके कायोत्सर्ग तप होता है।

४०. जो देह-धारण-परो उवयरणादी-विसेस-संसत्तो।
बाहिर-ववहार-रओ काओसग्गो कुदो तस्स।। (द्वा०अ० ४६६)

जो देह-पालन मे परायण होता है, उपकरणादि मे विशेष सयुक्त होता है और वाह्य व्यवहार करने मे रत होता है उसके कायेत्सर्ग तप कैसे हो सकता है ?

४१. अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भंतरो तओ भणिओ। (मू० ४१२, क, ख)

अन्तरंग को शुद्ध करनेवाला यह अभ्यन्तर तप कहा है।

४२. एसो बारस-भेओ उग्ग-तवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खविय कम्म-पुंजं मुत्ति-सुहं अक्खयं लहइ।। (द्वा० अ० ४८८)

यह वारह प्राकर का तप हे। जो उपयोग सहित इस उग्र तप का आचरण करता है, वह पुरुष कर्म-पुञ्ज का क्षय कर अक्षय मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

४३ सो हु तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति।।
(महा० नि० चू० १ १४)

वही तप करना चाहिए जिससे मन अमंगल विचार न करने लगे, जिससे इन्द्रियो की हानि न हो और जिससे योग शिथिल न हो।

४४. होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमधयारचारिस्स।
सव्वावत्थासु तओ वढ्ढदि य पिदा व पुरिस्स।। (भग०आ० १४६६)

ज्ञानरूपी अधकार मे चलनेवाले लोगो के लिए सुआचरित तप दीपक के समान होता है। तप सभी अवस्थाओ में मनुष्य के साथ पिता के समान व्यवहार करता है।

४५. धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा।
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो।।
(भग० आ० १८५३)

जैसे धातुगत सुवर्ण महान् अग्नि से तपाया जाने पर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-धातुगत जीव तपरूपी अग्नि द्वारा तपाया जाने पर शुद्ध हो जाता है।

४६ डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगपि।।(भग० आ० १८५१)

जैसे अग्नि वहुत सारी तृणराशि को भी जलाकर विध्वस कर देती है वैसे ही तापाग्नि वहुत सारे कर्म-तृणों को विध्वंस कर देती है।

४. ध्यान

(१)

१ चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो थ आउजणा य जो होई।
सो चेव जिणेहि तवो भणिदो असढ चरतरस्स।।

(भग० आ० १०)

शठ्य का परिहार कर आचरण करनेवाले मनुष्य का उस आचरण मे जो उद्यम और उपयोग होता है, उसे ही जिन भगवान ने तप कहा है।

२ असुह अट्ट-रउद्द धम्म सुक्क च सुहयर होदि।
अट्ट तिव्व-कसाय तिव्व-तम-कसायदो रुद्द।। (द्वा० अ० ४७१)

आर्त और रौद्र—ये दोनो ध्यान अशुभ ध्यान है तथा धर्म और शुक्ल ये दोनो क्रमश शुभ और शुभतर ध्यान है। इनमे आदि का आर्तध्यान तीव्र कषाय से होता है और रौद्रध्यान तीव्रतम कषाय से।

३ मद-कषाय धम्म मद-तम-कसायदो हवे सुक्क।
अकसाए वि सुयड्ढे केवल-णाणे वि त होदि।। (द्वा० अ० ४७२)

धर्मध्यान मन्दकषाय वाले के होता है और शुक्लध्यान मदतम कषायवाले के। यह शुक्लध्यान कषायरहित श्रुतज्ञानी तथा केवलज्ञानी के भी होता है।

४. दुक्खयर-विसय-जोए केण इम चयदि इदि विचिततो।
चेट्ठदि जो विक्खित्तो अट्ट-ज्झाण हवे तस्स।।(द्वा० अ० ४७३)

जो पुरुष दु खकारी विषय का सयोग होने पर ऐसा चितन करता है कि यह कैसे दूर हो और विक्षिप्तचित्त होकर (रुदनादि) चेष्टा करता है उसके आर्तध्यान होता है।

५. मणहर-विसय-वियोग कह तं पावेमि इहि वियप्पो जो।
संतावेण पयट्टो सो च्चिय अट्ट हवे झाण।।

(द्वा० अ० ४७४)

जो मनोहर विषय के वियोग होने पर ऐसा चित्तन करता है कि उसको कैसे पाऊँ और सताप रूप प्रवृत्ति करता है उसके भी आर्तध्यान होता है।।

६. हिसाणदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु।
तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाण हवे तस्स।। (द्वा० अ० ४७५)

जो पुरुष हिसा मे आनन्दयुक्त होता है, असत्यवचन मे प्रवृत्ति करता है और उन्हीं मे अस्थिर चित्त रहता है उसके रौद्रध्यान होता है।

७ पर-विसय-हरण-सीलो सगीय-विसए सुरक्खणे दक्खो।
तग्गय-चिंताविट्ठो णिरंतर त पि रुद्द पि।।
(द्वा० अ० ४७६)

जो पुरुष दूसरे की विषय-सामग्री को हरण करने के स्वभाव से संयुक्त हो, अपनी विषय-सामग्री की रक्षा करने में दक्ष हो, इन दोनो कार्यो मे चित्त को निरतर लवलीन रखता हो उस पुरुष के यह रौद्रध्यान ही हे।

८. बिण्णि वि असुहे झाणे पाव-णिहाणे य दुक्खं-संताणे।
णच्चा दूरे वज्जह धम्मे पुण आयरं कुणह।।
(द्वा० अ० ४७७)

आर्त और रौद्र ये दोनो ही ध्यान अशुभ है। इन्हे पाप का निधान ओर दु ख की सन्तति—परम्परा करनेवाला जानकर दूर ही से छोडो और धर्मध्यान मे आचरण करो।

९ धंम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खण धम्मो।।
(द्वा० अ० ४७८)

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमादि भाव दशविध धर्म है। रत्नत्रय धर्म हे। जीवो की रक्षा—अहिसा धर्म है।

१० धम्मे एयग्ग-मणो जो ण वि वेदेदि पंचहा-विसयं।
वेरग्ग-मओ णाणी धम्मज्झाण हवे तस्स।। (द्वा० अ० ४७९)

जो धर्म मे एकाग्रमन होता है, इन्द्रियो के पॉच प्रकार के विषयो का रसास्वादन नही करता और वैरागी होता है उस ज्ञानी के धर्मध्यान होता है।

११ सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-सकप्प-वाज्जिओ धीरो।
एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ त पि सुह-झाणं।। (द्वा० अ० ४८०)

रागद्वेष से रहित शुद्ध मनुष्य बाह्य सकल्प से दूर होकर एकाग्र मन से जो चिन्तन करता है वह भी शुभ ध्यान है।

१२. स-सरुव-समुब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिदिओ सतो।
अप्पाण चिंतंतो सुह-ज्झाण-रओ हवे साहू।। (द्वा० अ० ४८१)

जिसे अपने स्वरूप का समुद्भास हो गया हो, जिसका पर-द्रव्य मे ममत्व नष्ट हो गया हो, जो जितेन्द्रिय हो और अपनी आत्मा का चिन्तन करता हो वह शुभ ध्यान मे लीन होता है।

१३ वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्प-सरूवे मण णिरधतो।
ज चितदि साणद त धम्म उत्तम ज्झाण।। (द्वा० अ० ४८२)

जो समस्त अन्य विकल्पो को छोडकर आत्मस्वरूप मे मन को रोककर आनन्द सहित चितन किया जाता है, वह उत्तम धर्मध्यान है।

१४. जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसम-खमण च जत्थ कम्माण।
लेसा वि जत्थ सुक्का त सुक्क भण्णदे झाण।।
(द्वा० अ० ४८३)

जहाँ अत्यन्त विशुद्ध गुण हो, जहाँ कर्मो का उपशम तथा क्षय हो और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो उसको शुक्ल ध्यान कहते है।

१५ झाण-कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया।। (भग० आ० १६००)

कषायरूप परचक्र का भय होने पर ध्यान वैसा ही है जैसा कि परचक्र का भय होने पर सैन्य और वाहन से दृढ राजा।

१६ झाण विसयछुहाए य होइ अण्ण जहा छुहाए वा।
झाण विसयतिसाए उदय उदय व तण्हाए।।
(भग० आ० १६०२)

जैसे क्षुधा को नष्ट करने के लिए अन्न होता है तथा जिस तरह प्यास को नष्ट करने के लिए जल होता है वैसे ही विषयो की भूख तथा प्यास को नष्ट करने के लिए ध्यान है।

१७ झाण-कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिछिदे कुसलो।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिछिदे कुसलो।।
(भग० आ० १६०१)

जैसे मनुष्य के रोगो की चिकित्सा करने मे वैद्य कुशल होता है वैसे ही कषायरूपी रोगो की चिकित्सा करने मे ध्यान कुशल होता है।

१८ झाण किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि।
झाण किलेसवसणे मित्त मित्तव वसणम्मि।। (भग० आ० १८६७)

जैसे श्वापदो का भय होने पर रक्षक का और सकटो मे मित्र का महत्त्व होता है वैसे ही सक्लेश परिणाम-रूप व्यवसनो के समय ध्यान मित्र के समान है।

१६ झाण कसायवादे गम्भघर मारुदेव गम्भघर।
झाण कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि।। (भग० आ० १८६८)

जैसे हवा को रोकने के लिए गर्भगृह होता हे वैसे ही कषायरूपी हवा को रोकने के लिए ध्यान है और जैसे गर्मी के लिए छाया होती हे वेसे ही कषायरूपी गर्मी को नष्ट करने के लिए ध्यान हे।

१० वइर रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीण तह ज्झाण तह ज्झाणं होइ खवयस्स।।
(भग० आ० १८६६)

रत्नो मे वज्र (हीरा) की तरह, गध द्रव्यो मे गोशीर्ष चदन की तरह ओर मणियो मे वैदूर्य मणि की तरह ध्यान क्षपक के लिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपो मे सार-भूत है।

२१ झाण कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि।
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि।।
(भग० आ० १८६६)

जैसे अग्नि पदार्थो को जलाने मे समर्थ होती है, वैसे ही कषाय को जलाने मे ध्यान श्रेष्ठ है। जैसे शीत को विनाश करने मे आग समर्थ हे, वैसे ही कषायरूपी शीत को नष्ट करने मे ध्यान है।

(२)

२२ पचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं समा कुणह।। (मो० पा० ३३)

तू पॉच महाव्रतो को धारण कर, पॉच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय से संयुक्त होकर सदा ध्यान और स्वाध्याय किया कर।

२३ चरियावरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा।
केई जपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स।। (मो० पा० ७३)

जिन्होने कभी चारित्र का आचरण नहीं किया, जो व्रतो और समितियो से दूर है तथा शुद्ध भावो से भ्रष्ट है, ऐसे कुछ लोग कहते हैं कि यह काल ध्यानयोग के योग्य नहीं है।

२४ भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स।
त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणि।। (मो० पा० ७६)

भरत क्षेत्र मे इस पचम काल मे भी साधु के धर्मध्यान होता है, किन्तु यह धर्मध्यान उसी साधु के होता है, जो आत्म-स्वभाव मे स्थित है। जो ऐसा नही मानता वह भी अज्ञानी है।

२५ सव्वे कसाय मोत्तु गारव-मय-राय-दोस-वामोह।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो।। (मो० पा० २७)

ध्यान मे बैठे हुए पुरुष को सब कषायो को तथा गौरव, मद, राग, द्वेष और व्यामोह को छोडकर तथा लोक-व्यवहार से विरत होकर आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

२६. वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाण परमसमाही हवे तस्स।। (नि० सा० १२२)

जो वचन-उच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम समाधि होती है।

२७ संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाण परससमाही हवे तस्स।। (नि० सा० १२३)

जो सयम, नियम और तप से सयुक्त हो, धर्म और शुक्ल ध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम-समाधि होती है।

५ निष्पत्ति

१ तव चिम सजमजोगय च सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमा उहे अलमप्पणो होइ अलं परेसि।।
(द० ८ ६१)

जो तप, सयम-योग और स्वाध्याय-योग मे प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरो की रक्षा करने मे उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधो से सुसज्जित वीर।

२ सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई ज सि मल पुरेकड समीरिय रुप्पमल व जोइणा।।
(द० ८ ६२)

स्वाध्याय और सद्ध्यान मे लीन, त्राता, निष्पाप मनवाले और तप मे रत साधक का पूर्व सचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता हे जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए सोने का मल।

३ से तारिसे दुक्खसहे जिइदिए सुएण जुत्ते अममे अकिचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए कसिणब्भापुडावगमे व चदिमा।।
(द० ८ ६३)

जो पूर्वोक्त गुणो से युक्त है, दु खो को सहन करनेवाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, मानव-रहित और अकिचन है, वह कर्मरूपी बादलो के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्र-पटल से वियुक्त चन्द्रमा।

४. खवेति अप्पाणममोहदंसिणो तवे रयासंजम अज्जवे गुणे।
धुणति पावाइं पुरेकिडाइं नवाइ पावाइ न ते करेति।।
(द० ६ · ६७)

अमोहदर्शी, तप, सयम और ऋजुतारूप गुण मे पुरुष शरीर को कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नये पाप नही करते।

५ सओवसंता अममा अकिंचणा सविज्जविज्जाणुगया जससिणो।
उउप्सन्ने विमले च चंदिमा सिद्धिं विमाणाइ उवेति ताइणो।।
(द० ६ . ६८)

सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म-विद्यायुक्त, यशस्वी और त्राता पुरुष शरद ऋतु के चन्द्रमा की तरह मलरहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतसक आदि विमानो को प्राप्त करते है।

: १६ :

पाप-विरति

१. पाप

१ सीह जहा खुद्दमिगा चरता दूरे चरती परिसंकमाणा।
एव तु मेहावि समिक्ख धम्म दूरेण पाव परिवज्जएज्जा।।

(सू० १,१० · २०)

जैसे अटवी मे विचरण करते हुए हिरणादि क्षुद्र प्राणी सशकित रहते हुए सिह को दूर ही से टालकर विचरते है, वैसे ही मेधावी पुरुष धर्म की समीक्षा कर पाप को दूर ही से छोड दे।

२ पाणाइवायमलिय चोरिक्क मेहुणं दवियमुच्छ।
कोह माणं माय लोभं पिज्ज तहा दोस।।
कलह अब्भक्खाण पेसुन्न रइ अरइ समाउत्त।
परपरिवाय मायमोस मिच्छत्तसल्लं च।।

(१) प्राणातिपात (हिसा), (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) द्रव्यमूर्च्छा (परिग्रह), (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान—दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असयम मे रति (सुख), सयम मे अरति (असुख), (१६) परपरिवाद—निन्दा, (१७) माया-मृषा—कपट-पूर्ण मिथ्या और (१८) मिथ्यादर्शन-शल्य—ये अठारह पाप है।

३. जे पुम कुरुते पाव ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ।
अप्पणा हि कडं कम्म अप्पणा चेव भुज्जती।। (उ० ४५ . ३)

जो पुरुष पाप करता है, उसे निश्चयत अपनी आत्मा प्रिय नहीं है, क्योकि आत्मा के द्वारा कृत कर्मो का फल आत्मा स्वयं ही भोगती है।

४. धावंतं सरसं नीरं सच्छं दाढि सिगिण।
दोसभीरु विवज्जेंति पापमेवं विवज्जए।। (इसि० ४५ : १२)

स्वच्छ मधुर जल की ओर दौडते हुए डाढ और सींगवाले पशुओ का चोट से डरने वाले व्यक्ति विवर्जन करते हैं, वैसे ही दोष-भीरु व्यक्ति पाप का दूर से ही वर्जन करे।

५ पाव परस्स कुव्वंतो हसतो मोहमोहितो।
मच्छो गल गसतो वा विणिघात ण पस्सती।। (इसि० १५ ११)

जब मोह से मोहित आत्मा दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हर्षित होता है, तब वह भविष्य को नही समझता। मछली आटे की गोली को निगलती हुई अपनी मौत को नही देखती।

६ पाव जे उपकुव्वती जीवा साताणुगार्मिणो।
वढ्ढती पावक तेसि अणग्गाहिस्स वा अण।। (इसि० १५ . १५)

जो प्राणी सुख की कामना से पाप करते है, उनके पाप बढते ही जाते है, जैसे ऋण लेनेवाले पर ऋण बढता ही जाता है।

७ अणुबद्धमपस्संता पच्चुप्पण्णगवेसका।
ते पच्छा दुक्खमच्छति गलुच्छिन्ना झसा जहा।। (इसि० १५ १६)

जो केवल वर्तमान सुख की ही गवेषणा करनेवाले है और उससे अनुबद्ध फल को नही देखते, वे बाद मे उसी प्रकार से दु ख पाते है जैसे गले मे कॉटे से बिधी हुई मछली।

८ आताकडाण कम्माण आता भुजति ज फल।
तम्हा आतस्स अट्ठाए पावमादाय वज्जए।। (इसि० १५ १७)

आत्मा द्वारा किए हुए कर्मो का फल आत्मा ही भोगती है। अत आत्मा के हित के लिए मनुष्य पाप का सचय करना छोड दे।

९ जे इम पावक कम्म णेव कुज्जा ण कारवे।
देवा वि त णमसति धितिम दित्ततेजस्स।। (इसि० ३६ १)

जो पुरुष पाप कर्म को नहीं करता है और दूसरो से भी नही करवाता है, उस धृतिमान दीप्त तेजस्वी पुरुष को देवता भी नमस्कार करते है।

१०. जे णरे कुव्वती पाव अधकार मह करे।
अणवज्ज पडिते किच्चा आदिच्चे व पभासती।। (इसि० ३६ २)

जो मानव पाप कर्म करता है, वह महा अन्धकार को फैलाता है, जबकि पडित पुरुष अनवद्य—पाप-रहित कर्म करता हुआ सूर्य की भॉति प्रकाशित होता है।

११ सिया पाव सइ कुज्जा ण त कुज्जा पुणो पुणो।
णाणि कम्म च ण कुज्जा साधु कम्मं वियाणिया।।(इसि० ३६ ३)

पाप का प्रसग उपस्थित हो और पाप हो जाय तो साधक उस पाप को पुन-पुन न करे। ज्ञानी श्रेष्ठ कर्मो को पहचानकर पाप-कर्म न करे।

२. आत्म-निरीक्षण और पाप-वर्जन

१ णियदोसे निगूहते चिर पि णोवदसए।
किह म कोपि णज्जाणे जाणेणत्त हिय सय।। (इसि० ४ २)

पापी अपने दोषो को छिपाता है और चिर समय तक अपने दोषो को किसी के समक्ष प्रकट नही करता। वह सोचता है—दूसरा कोई भी मेरे इस पाप को नहीं जानता। परन्तु ऐसा सोचनेवाला अपना हित नही जानता।

२ णेण जाणामि अप्पाण आवी वा जति वा रहे।
अज्जयारिं अणज्ज वा त णाण अयल धुव।। (इसि० ४ ३)

जिसके द्वारा मै अपने-आपको जान सकूँ, प्रत्यक्ष या परोक्ष मे होनेवाले अपने आर्य और अनार्य कर्मो को देख सकूँ, वहीं ज्ञान अचल और शाश्वत है।

३ अण्णहा समणे होइ अन्न कुणति कम्मुणा।
अण्णमण्णाणि भासंते मणुस्य गहणे हु से।। (इसि० ४ ५)

मन मे वह कुछ और ही होता है, कर्म से कुछ और ही करता है और बोलता कुछ और ही है। ऐसा मनुष्य गहन (अटवी) के समान गूढ है।

४ अदुवा परिसामज्झे अदुवा विरहे कड।
ततो निरिक्ख अप्पाण पावकम्मा णिरुभति।। (इसि० ४ ८)

परिषद् मे एक रूप होता है और एकान्त मे दूसरा रूप। किन्तु सच्चा साधक आत्मा का निरीक्षण कर अपने-आपको पाप कर्मो से रोकता है।

५. दुप्पचिण्ण सपेहाए अणायार च अप्पणो।
अणुवट्टितो सदा धम्मे सो पच्छा परितप्पति।। (इसि० ४ ६)

अपने दुच्चीर्ण कर्म और अनाचारो को देखता हुआ भी उपेक्षा करनेवाला और धर्म मे सदा अनुपस्थित रहनेवाला मनुष्य अन्तिम समय मे पश्चाताप करता है।

६ सुपइण्ण सपेहाए आयर वा वि अप्पणो।
सुपटिट्ठितो सदा धम्मे सो पच्छा उ ण तप्पति।। (इसि० ४ १०)

अपने श्रेष्ठ आचारो के प्रति सदा जागरूक और धर्म मे सदा सुप्रतिष्ठित रहनेवाला पुरुष अन्तिम घडी मे पश्चाताप नहीं करता।

१. ज्ञान-कण

१ दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं।
कुव्वाणं पि ण इच्छुइ तस्स विसोही परा होदि।।

(द्वा० अनु० ४५१)

जो मन, वचन और काया से स्वयं दोष नही करता, दूसरे से भी दोष नहीं कराता और करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है।

२. अप्पा णं पि य सरणं खमादि-भावेहि परिणदो होदि।

(द्वा० अनु० ३१)

क्षमादि भावो मे परिणत आत्मा स्वयं अपना शरण होता है।

३ तिव्व-कषायाविठ्ठो अप्पाण हणदि अप्पेण। (द्वा० अनु० ३१)

जो तीव्र कषाययुक्त होता है, वह अपने ही द्वारा अपना हनन करता है।

४. कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे। (कुन्द० अ० ३७)

कर्मो के निमित्त से जीव संसाररूपी भयानक अटवी मे भ्रमण करता है।

५. तिविहा य होइ कखा इह परलोए तधा कुधम्मे य।
तिविहं पि जो ण कुज्जा दसणसुद्धीमुपगदो सो।। (मू० २४६)

काक्षा तीन प्रकार की होती है। इस लोक मे संपदा-प्राप्ति की काक्षा, परलोक मे सपदा-प्राप्ति की काक्षा और कुधर्म की काक्षा। जो इन तीनो काक्षाओ को नहीं करता वही सम्यग्दर्शन की शुद्धि को प्राप्त करता है।

६ पाव-उदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्खं।

(द्वा० अनु० ३४)

पापोदय से ही जीव नरक मे उत्पन्न होता है और वहाँ बहुत दु ख को सहता है।

७ सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खद असुह। (द्वा० अनु० ३८)

नरक में क्षेत्र-स्वभाव के कारण सभी वस्तुएँ दु खदायक तथा अशुभ होती है।

८ कुविदा वि सव्व-काल अण्णोण्ण होति णेरइया। (द्वा० अनु० ३८)

नारकी जीव सदा काल परस्पर क्रोधित होते रहते हैं।

६ कक्करस्सवयण णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयण च।
ज किचि विप्पलावं गरहिदवयण समासेण।।
(भग० आ० ८३०)

कर्कश वचन, निठुर वचन, चुगलखोरी का वचन, मखौल उडानेवाला वचन एव विप्रलाप—बेसिर-पैर की बात—ये समास मे निन्दनीय वचन हैं।

१० मग्गो मग्गफल ति य दुविह जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्त मग्गफल होइ णिव्वाण।। (मू २०२)

जिन-शासन मे मार्ग और मार्ग-फल—ये दो कहे गए है। उनमे से मार्ग तो सम्यक्त्व है और मार्ग-फल मोक्ष।

११ जो पुण चितदि कज्ज सुहासुह राय-दोस-सजुत्तो।
उवओगेण विहीण स कुणदि पावं विणा कज्जं।।
(द्वा० अनु० ३८६)

राग-द्वेष से सयुक्त हो जो बिना प्रयोजन ही शुभ-अशुभ चिन्तन करता है, वह पुरुष बिना कार्य पापोत्पन्न करता है।

१२ देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्ख।
(भग० आ० १२४६)

देह क्षुधा आदि से पीडित होता है। वह अनित्य भी है। ऐसे शरीर मे आसक्त होने से आत्मा को कैसे सुख प्राप्त होगा ?

१३ जदि ण हवदि सव्वण्हू, ता को जाणदि अदिदियं अत्थं।
इदिय-णाण ण मुणदि थूल पि असेस-पज्जाय।। (द्वा० अनु० ३०३)

यदि सर्वज्ञ नही होता तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानता ? इन्द्रिय ज्ञान तो स्थूल पदार्थ को ही जानता है, उसकी समस्त पर्यायो को भी नहीं जानता।

१४ कडणी पीसणी चुल्ली उदकुभ पमज्जणी।
बीहेदव्व णिच्च ताहि जीवरासी से मरदि।। (मू० ६२६)

ओखली, चक्की, चूल्हा, जल रखने का स्थान, बुहारी—इन पॉचो से सदा भयभीत रहना चाहिए, क्योकि इनसे जीव-समूह मृत्यु को प्राप्त होता है।

१५ सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि।।
(भग० आ० १३७६)

निरभिमानी पुरुष लोक मे स्वजनो और परिजनो का प्रिय होता हे। वह लोक म ज्ञान, यश, और धन को प्राप्त करता हे तथा अपने कार्यो को साध लेता हे।

१६. ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं।।(भग० आ० १३८०)

मार्दव के प्रयोग से कभी कोई हानि नहीं होती। विनय से मनुष्य निश्चित इहलोक और परलोक मे सव कल्याण प्राप्त करता हे।

१७ जह तुब्भे तह अम्हे तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे।
अम्पाहेइ पडंत पडुअ-पत्तं किसलयाण।। (अनु०)

पीला पत्ता जमीन पर पडता हुआ अपने साथी हरे पत्ते से योला—आज जैसे तुम हो हम भी एक दिन वैसे ही थे। अव जंसे हम हें, एक दिन तुम्हे भी वेसा ही होना हे।

१८ जह मक्कडओ धादो वि फलं दठ्ठूण लोहिदं तस्स।
दूरत्थस्स वि डेवदि घित्तूण वि जइ वि छंडेदि।।
एव ज जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं त त।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि।।
(भग० आ० ८५४-५५)

जैसे खा-पीकर तृप्त हुआ भी वानर किसी लाल फूल को दूर से देखकर उसे लेने के लिए दोडता हे, यद्यपि वह उसे लेकर छोड देता हे। इसी प्रकार लोभाविष्ट जीव जिस-जिस पदार्थ को देखता हे उसको ग्रहण करने की इच्छा करता हैं ओर सर्व जगत् से भी वह तृप्त नहीं होता।

१६. सग्ग तवेण सव्वो वि पावए किंतु झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परे भवे सासयं सुक्ख।। (मो० पा० २३)

तप से तो सभी स्वर्ग प्राप्त करते हैं, किन्तु ध्यान के द्वारा जो प्राप्त करता है वह दूसरे भव के अविनाशी सुख—मोक्ष को प्राप्त करता हे।

२०. इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव।।
सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे।
इठ्ठविसयसेवा वि य अब्बभं दसविहं एदं।।
(भग० आ० ८७६-८०)

स्त्री के साथ विषय-भाग की अभिलाषा, इन्द्रिय-विकार, प्रणीत (स्निग्ध) रसो का सेवन, (स्त्री ओर पशुओ से) ससक्त वस्तुओ का सेवन, स्त्री की इन्द्रियो का अवलोकन, स्त्रियो का सत्कार, उनका सम्मान, पूर्व क्रीडाओ का स्मरण, भविष्य मे क्रीडाओ की अभिलाषा, इष्ट विषयो का सेवन—ये दश अब्रह्म है।

२१ सव्वग पेच्छतो इत्थीण तासु मुयदि दुब्भाव।
सो बह्मचेरभाव सक्कदि खलु दुद्धर धरदि।।

(कुन्द० अ० ११ ८०)

जो स्त्रियो के सब अगो को देखता हुआ भी उनके प्रति मन मे किसी भी प्रकार का कुविचार नही लाता, वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्य भाव का धारी है।

२२ धंसेइ जो अभूएण अकम्म अत्त-कम्मुणा।
अदुवा तुम कासित्ति महामोह पकुव्वइ।। (दशा० ६ ८)

जो अपने किये हुए दुष्कर्म को न करनेवाले पर थोपकर उसे लाछित करता है अथवा कहता है कि यह पाप तूने किया है, वह महामोहनीय कर्म का बध करता है।

२३ बहुदुक्खा हु जतवो, सत्ता कामेहि माणवा,
अबलेण वह गच्छति सरीरेण पभगुरेण।

(आ० १,६ (१) १५-१७)

जीव बहुत दु खो से घिरे हुए है तथापि मनुष्य कामभोगो मे आसक्त रहते है। क्षण-भगुर शरीर से पाप कर्म कर वे अवश हो भयकर दु ख पाते रहते है।

२४ सवणे नाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य सजमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी।। (भगवई २, १११)

पर्युपासना से धर्म-श्रवण धर्म-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से सयम, सयम से अनास्रव, अनास्रव से तप, तप से कर्म-क्षय, कर्म-क्षय से अक्रिया ओर अक्रिया से सिद्धि की प्राप्ति होती है।

२५ जे ममाइय-मति जहाति से जहाति ममाइय।
से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइय।।

(आ० १,२ (६) १५६-५७)

जो ममत्व-बुद्धि का त्याग करता है वह ममत्व—परिग्रह का त्याग करता है। जिसके ममत्व नहीं हे, वही ज्ञानी मार्ग-द्रष्टा है।

२६ मिउ मद्दवसपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए।
विहरइ महि महप्पा सीलभूएण अप्पणा।। (उ० २७ १७)

मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर और सुसमाहित महात्मा शील-सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरता है।

२७. दुविहं खवेऊण य पुण्यपावं।
निरंगणे सब्बओ विप्पमुक्के।। (उ० २१ : २४)

जो भी साधक सयम मे निश्चल और सर्वत विप्रमुक्त रहा वह पुण्य और पाप दोनों का क्षय कर अपुनरागम-गति—मोक्ष में गया है।

२८. जो चिंतइ अप्पाणं णाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो पायच्छित्तं वरं तस्स।। (द्वा० अ० ४५५)

जो ज्ञानी विकथादि प्रमादो से विरक्त होता हुआ ज्ञानस्वरूप आत्मा का पुन-पुन चिन्तन करता है उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है।

२९. एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरपरसुहाणं।।(भग० आ० ७४६)

अकेले जिन-भक्ति ही दुर्गति का निवारण करने मे समर्थ है। इससे पुण्यो की प्राप्ति होती है। जब तक साधक को मोक्ष होता है तब तक इसके प्रभाव से उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति होती रहती है।

३०. पाणाइवाए वट्टंता मुसावाए असंजया।
अदिण्णादाणे वट्टंता मेहुणे य परिग्गहे।। (सु० १, ३ (४) : ८)

जीव-हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह मे लगे हुए लोग असंयमी हैं।

३१. कुप्पवयणपासण्डी सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं एस मग्गे हि उत्तमे।। (उ० २३ : ६३)

जो कुप्रवचन के प्रावादुक हैं, वे सब उन्मार्ग मे प्रस्थित हैं। जो जिन द्वारा कहा गया है वह सन्मार्ग है। अत यही उत्तम मार्ग है।

३२. अभविंसु पुरा वीरा आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुण्णि बोहस्स मग्गस्स अंतं पाउकरा तिण्ण।। (सू० १, १५ : २५)

पूर्व समय मे बहुत से धीर पुरुष हो चुके हैं और भविष्य काल में भी ऐसे सुव्रती पुरुष होगे जो दुर्निबोध—दुष्प्राप्य—मोक्ष-मार्ग की अन्तिम सीमा पर पहुंचकर तथा उसे दूसरों को प्रकट कर इस ससार-सागर से तिरे है या तिरेगे।

३३. अणिगूहियबलविरिओ परकामदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुजदि च जहाथाणं विरियाचारोति णादव्वो।। (मूल० ४१३)

जो अपने बल और वीर्य का गोपन नही करता, जो यथोक्त धर्म मे पराक्रम करता है, जो अपने-आपको अपनी शक्ति के अनुसार अध्यात्म-साधन मे लगाता है, उस पुरुष के वीर्याचार जानना चाहिए।

३४. लाभमि जे ण सुमणो अलाभे णेव दुम्मणो।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं देवाण सयक्कऊ।। (इसि० ४३ . १)

लाभ मे जो सुमन (हर्षित) नहीं है और न अलाभ मे दुमन (दु खित) है, वही मनुष्यो मे श्रेष्ठ है, जैसे देवो मे शतक्रतु (इन्द्र)।

३५. जो अवमाणणकरणं दोसं'परिहरइ णिच्चमाउत्तो।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण।। (भग० आ० १४२६)

जो पुरुष अपमान के कारणभूत दोषो का हमेशा सावधानी के साथ त्याग करता है, वही सच्चा मानी है। गुण-रहित होकर भी मान करने से कोई मानी नहीं होता।

३६. विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती। (द्वा० अ० ५६)

जिनके सुख इन्द्रिय के विषयो पर आधारित हैं, उन्हे तृप्ति कैसे होगी ?

३७. माणस-दुक्ख-जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुति। (द्वा०अ० ६०)

मानसिक दु ख से सयुक्त पुरुष को प्रचुर विषय-सामग्री भी दु खदायी ही होती है।

३८ विषय-वसं ज सुक्ख दुक्खस्स वि कारण तं पि। (द्वा०अ० ६१)

जो सुख विषयो के अधीन है, वह दु ख ही का कारण है।

३६. अत्ताणं ण दु सोयदि ससारमहण्णवे बुड्ड। (मू० ७०१)

आश्चर्य है कि मनुष्य ससार-रूपी समुद्र मे डूबती हुई अपनी आत्मा का कुछ भी सोच नहीं करता।

४०. वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होइ णिरइ इमरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेय।। (मो० पा० २५)

व्रत और तप से स्वर्ग पाना उत्तम है, किन्तु इतर (अव्रत और अतप) से नरक मे दु ख होता है, वह न हो। छाया और धूप मे बैठे हुए मनुष्यो मे जैसे बहुत भेद है, वैसे ही व्रत और तप का पालन करने वालो मे बहुत भेद है।

४१. इमा विज्जा महाविज्जा सव्वविज्जाण उत्तमा।
ज विज्ज साहइत्ताणं सव्वदुक्खाण मुच्चति।। (इसि० १७ : १)

वह विद्या महाविद्या है और समस्त विद्याओ मे श्रेष्ठ है, जिस विद्या की साधना कर आत्मा समस्त दु खो से मुक्त हो जाती है।

४२ जेण बधं मोक्खं च जीवाणं गतिरागति।
आयाभावं च जाणाति सा विज्जा दुक्खमोयणी।। (इसि० १७ . २)

जिसके द्वारा आत्मा के वन्ध, मोक्ष, गति और आगति का परिज्ञान होता है, वही विद्या दुःख से मुक्त करने में समर्थ है।

२. शिक्षा-कण

१. थोवं जेमेहि मा बहू जंप। (मू० ८६५)

थोडा आहार कर। वहुत मत वोल।

२. दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं। (मू० ८६५)

दु ख को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भाव का चिंतन कर, अच्छा वैराग्य रख।

३. जातिं च बुड्ढिं च इहज्जपासे भूतेहिं जाणे पडिलेह सातं।
तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा सम्मत्तदंसी ण करेति पावं।।
(आ० १, ३ (२) : २६-२८)

हे आर्य ! संसार में जन्म और जरा को देख। विचारकर जान—सव प्राणियों को सुख प्रिय है। इसलिए तत्त्वज्ञ सम्यक्दृष्टि परमार्थ को जानकर किसी प्राणी के प्रति पाप कर्म नहीं करते।

४ नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तवेण य।
खंतीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य।। (उ० २२ : २६)

तुम ज्ञान, दर्शन और चरित्र से तथा तप, क्षमा और निर्लोभता से सदा वृद्धि पाते रहना।

५. नाणारुइं च छंदं च परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था इइ विज्जामणुसंचरे।। (उ० १८ : ३०)

संयमी नाना प्रकार की रुचि, अभिप्राय और जो सव प्रकार के अनर्थ हें उनका वर्जन करे। इस विद्या के पथ पर तुम्हारा संचरण हो।

६. धुणिया कुलियं व लेववं कसए देहमणासणादिहिं।
(सू० १, २ (१) : १४)

जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, इसी तरह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देह को कृश कर।

७ सावज्जजोगवयण वज्जतो ऽवज्जभीरु गुणकखी।
सावज्जवज्जवयणं णिच्च भासेज्ज भासतो।। (मू० ३१७)

जो पापो से डरता है, गुणों को चाहता है, वह बोलते समय पापयुक्त वचनो का परिहार करता हुआ हमेशा पाप-रहित वचनो को बोले।

८. त वत्थु मोत्तव्वं ज पडि उप्पज्जदे कसायग्गि।
त वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं।। (भग० आ० २६२)

उस वस्तु को छोड देना चाहिए जिसका निमित्त पाकर कषायाग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उस वस्तु का आश्रय करना चाहिए जिससे कषायो का उपशम होता है।

६ बीहेदव्व णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
यरणयरणिग्गम मिव वणयकयार वहंतस्स।। (मू ६६२)

जिसकी जिह्वा सदा पलटती रहती है, उस दुर्जन के वचनो से सदा ही डरते रहना चाहिए। दुर्जन की जिह्वा दुष्ट वचनो को वैसे ही निकालती रहती है जैसे श्रेष्ठ नगर का नाला कचरे को बहाता रहता है।

१० दुदंता इंदिया पंच ससाराए सरीरिण।
ते चेव णियमिया सताणेज्जाणाए भवति हि।। (इसि० १६ · १)

देहधारी की दुर्दान्त पॉच इन्द्रियॉ ससार की हेतु बनती हैं। वे ही सवृत हो जाने पर मोक्ष की हेतु बन जाती है।

११ दुदंते इंदिए पंच रागदोसपरगमे।
कुम्मो विव स अगाइ सए देहम्मि साहरे।। (इसि० १६ · २)

राग और द्वेष के वश विषयो मे प्रवृत्त पॉचो इन्द्रियॉ दुर्दान्त होती हैं। सकट की आशका होते ही जैसे कूर्म अपने अंगो को अपने शरीर मे सकोच लेता है वैसे ही साधक विषयो की ओर जाती हुई इन्द्रियो को उनसे हटा ले।

: १८ :

हिंसा-विरति

१. हिंसा की कसौटी

१ हिसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिसा हु।
तम्हा पमत्तजोगे पाणव्ववरोवओ णिच्च।। (भग०आ० ८०१)

हिसा से विरत न होना अथवा हिसा करने के परिणामो का होना हिंसा है। अत. प्रमत्त योग निश्चित रूप से हिसा है।

२. रत्तो वा दुठ्ठो वा मूढो वा जं पयुंज दि पओगं।
हिसा वि तत्थ जायदि तह्मा सो हिसगो होइ।। (भग० आ० ८०२)

रागी, द्वेषी अथवा मूढ बनकर आत्मा जो कार्य करता है, उससे हिसा होती है। अत वह हिसक है।

३ अत्ता चेव अहिसा अत्ता हिसत्ति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिसगो हिंसगो इदरो।। (भग० आ० ८०३)

आत्मा ही हिसा है और आत्मा ही अहिसा है। अप्रमत्त अर्थात् प्रमादरहित आत्मा को अहिसक कहते हैं और प्रमादसहित आत्मा को हिसक कहते हैं, ऐसा आगम का निर्णय है।

४ अज्झवसिदो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।। (भग० आ० ८०४)

बद्ध जीव राग-द्वेषादि परिणामो के अधीन होता है। अन्य जीव मरे अथवा न मरे, फिर भी जिसके परिणाम हिसा के हैं उसके बंध होता ही है। अक्षुण निश्चय नय से जीवो के कर्म-बंध का यह संक्षेप में स्वरूप कहा है।

५. णाणी कम्मस्स खयत्थमुठिठ्दो णोठ्ठिदो य हिंसाए।
अददि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो।। (भग० आ० ८०५)

ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय करनें के लिए उद्यत है, हिंसा के लिए उद्यत नहीं है। वह अशठ होकर ही अपने हित के लिए प्रवृत्ति करता है। वह अप्रमत्त है अत हिसा हो जाने पर भी वह अवधक ही कहा गया है।

६. जदि सुद्धस्स य बधो होहिदि बाहिरगवत्थुजोगेण।
णत्थि दु अहिसगो णाम होदि वायादिवधहेदु।। (भग० आ० ८०६)

यदि राग-द्वेष रहित आत्मा को भी बाह्य वस्तु के सबध से बंध होगा, तो जगत् मे कोई भी अहिसक नहीं है, ऐसा मानना पडेगा अर्थात् शुद्धात्मा को भी वायुकायिक जीव के वध के लिए समझना होगा।

७ पादोसिय अधिकरणीय कायिय परिदावणादिवादाए।
एदे पचपओगा किरियाओ होति हिसाओ।। (भग० आ० ८०७)

द्वेष से उत्पन्न क्रिया प्राद्वेषिकी क्रिया है। हिसा के उपकरणो को ग्रहण करना अधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टता पूर्वक शरीर का चलन होना कायिकी क्रिया है। दु खोत्पत्ति के लिए जो क्रिया की जाती है, उसको पारितापिनिकी क्रिया कहते हैं। आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण इनका घात करने वाली क्रिया को प्राणातिपाति क्रिया कहते है। ये पॉच प्रकार के प्रयोग हिसा की क्रियाऍ हैं।

२. हिंसा त्याज्य क्यों ?

१. जह ते ण पिय दुक्खं तहेव तेसिपि जाण जीवाण।
एव णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा।। (भग० आ० ७७७)

यह जानो कि जैसे तुमको दु ख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवो को भी दु ख प्रिय नहीं है। ऐसा जानकर सर्व जीवो मे सदा आत्मोपम भाव रखो (अपने को दु ख नहीं देते वैसे ही दूसरो को दु ख देने से निवृत्त हो)।

२. तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरुमत्ति देवेहि।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज सजीविद मुच्चा।। (भग० आ० ७८२)

त्रैलोक्य और जीवन इन दोनो मे से कोई एक ग्रहण कर सकते हो, ऐसा देवो के द्वारा कहा जाने पर कौन जीवन छोडकर त्रैलोक्य को लेगा ?

३. सव्वे वि य संबधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहि।
तो मारतो जीवो सबंधी चेव मारेइ।। (भग० आ० ७६३)

सर्व जीवो का सर्व जीवो के साथ पिता, पुत्र माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवो मे हुआ है। इसलिए मारने के लिए उद्यत हुआ मनुष्य अपने संबधी को ही मारता है, ऐसा समझना चाहिए।

४. जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकटओव्व हिसा परिहरियव्वा तदो होदि।। (भग० आ० ७६४)

प्राणियो का नाश करना तत्त्वत अपना ही नाश करना है और प्राणियो पर दया करना तत्त्वत अपने ही ऊपर दया करना है। अत हिसा विष से लिप्त हुए कटक की तरह त्याज्य है।

५. मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेग।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारिंतए जंति।। (भग० आ० ७६५)

जो मनुष्य दूसरो को मारने मे उद्यत होता है, वह प्राणियो को राक्षस के समान भय उत्पन्न करता है। उसके सबधी मनुष्य भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते है।

६. कुद्धो परं वधित्ता सयंपि कालेण मारइज्जंते।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं काल।। (भग० आ० ७६७)

क्रुद्ध होकर जो मनुष्य दूसरो को मारता है, वह भी कुछ काल बीतने के अनन्तर मरण को प्राप्त होता है। इसलिए हत और घातक मे कुछ अन्तर नहीं है। हॉ, केवल काल का ही अन्तर रहता है।

७. अप्पाउगरोगिदया विरूवदा विगलदा अवलदा य।
दुम्मेहवण्णरसगधदाय से होइ परलोए।। (भग० आ० ७६८)

हिसा करनेवाला मनुष्य पर-मरण मे अल्पायुषी, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय (अर्थात् अधा, बहरा, गूँगा), दुर्बल, मूर्ख, अशुभ वर्ण, रस और गन्धवाला होता है।

८. जावइयाइं दुक्खाइ होति लोयम्मि चदुगदिगदाइं।
सव्वाणि ताणि हिसाफलाणि जीवस्स जाणहि।। (भग० आ० ८००)

इस जगत् मे चार गतियो मे जो भी दु ख जीव को प्राप्त होते हैं, वे सर्व हिसा के ही फल है, ऐसा समझना चाहिए।

३. अहिंसा

[१]

१. पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काहि किं वा नाहिइ छेय पावग।। (द० ४ · १०)

पहले सर्व प्रकार जीवो का ज्ञान हो तभी दया—अहिसा का पालन हो सकता है। सभी सयमी पुरुष इस प्रकार ज्ञान और क्रिया मे स्थित होते हैं। अज्ञानी बेचारा

क्या करेगा ? वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप (हिसा कैसे होती है और अहिसा क्या है)?

२ जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं।। (द० ४ . १२)

जो जीवो को भी नहीं जानता, अजीवो को भी नहीं जानता, वह जीव और अजीव को नहीं जाननेवाला सयम—अहिसा को कैसे जानेगा ?

३. जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणतो सो हु नाहिइ संजमं।। (द० ४ · १३)

जो जीवो को भी जानता है, अजीवो को भी जानता है, वही—जीव और अजीव दोनो को जाननेवाला ही सयम—अहिसा को जान सकेगा।

[२]

४ पुढवीजीवा पुढो सत्ता आउजीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा।। (सू० १, ११ . ७)

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु और (५) घास-वृक्ष-धान आदि वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हरेक मे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग-अलग जीव हैं।

५ अहावरे तसा पाणा एव छक्काय आहिया।
इत्ताव एव जीवकाए णावरे विज्जती कए।। (सू० १, ११ : ८)

उपर्युक्त स्थावर जीवो के उपरान्त त्रस प्राणी है, जिनमे चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है। यही छ जीवनिकाय कहा गया है। इन छ प्रकार के जीवो के सिवा ससार मे और जीव नहीं हैं।

६ सव्वाहि अणुजुत्तीहि मइम पडिलेहिया।
सव्वे अकंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिसया।। (सू० १, ११ ६)

बुद्धिमान् पुरुष छ प्रकार के जीवो का सब प्रकार की युक्तियो से ज्ञान प्राप्त कर तथा 'सभी को दु ख अप्रिय है', यह जानकर उन सबकी हिसा न करे।

७ एय खु णाणिणो सार ज ण हिसति कचणं।
अहिसा-समयं चेव एतावतं विजाणिया।। (सू० १, ११ १०)

ज्ञानी के लिए ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिसा न करे। अहिसा—समता—सर्व जीवो के प्रति आत्मवत् भाव—इतना ही शाश्वत धर्म समझो।

८ उड्ढ अहे तिरियं च जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संति णिव्वाणमाहियं।। (सू० १, ११ . ११)

ऊर्ध्व, अध और तिर्यक्—तीनो लोक मे जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, मनुष्य को उन सबके प्राणातिपात से सर्वत्र विरत रहना चाहिए। सब जीवो के प्रति वैर की विरति—शान्ति को ही निर्वाण कहा है।

९. पभू दोसे णिराकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो।। (सू० १, ११ : १२)

इन्द्रियो को जीतनेवाला पुरुष सर्व दोषो का त्याग कर किसी भी प्राणी के साथ जीवन-पर्यन्त मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे।

१०. विरते गामधम्मेहि जे केई जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए थामं कुव्वं परिव्वए।। (सू० १, ११ : ३३)

शब्दादि इन्द्रियो के विषयो से विरत पुरुष इस जगत् मे जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उनका आत्मतुल्य भावना से रक्षण करता हुआ पूरी शक्ति के साथ आत्मिक सयम का पालन करे।

११ जे य बुद्धा अतिक्कंता जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगई जहा।। (सू० १, ११ : ३६)

जो तीर्थंकर हो चुके हैं और जो तीर्थंकर होनेवाले हैं, उन सबका प्रतिष्ठान (आधार-स्थान) शान्ति (सब जीवों के प्रति दयारूप भाव) है; जिस तरह कि सब जीवो का आधार पृथ्वी है।

[३]

१२. जे कइ तसा पाणा चिट्ठंतदुव थावरा।
परियाए अत्थि से अंजू जेण ते तसथावरा।। (सू० १, १ (४) : ८)

जगत् मे कई जीव त्रस हैं और कई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरे मे होना अवश्य ही कर्मो की विचित्रता है। अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर पर्याय मे हैं।

१३. उरालं जगतो जोगं विवज्जासं पलेंति य।
सव्वे अकंतदुक्खा य अओ सव्वे अहिंसगा।। (सू० १, १ (४) . ९)

जीवो की अवस्था उदार (स्थूल) होती है और वह विपर्याय (परिवर्तन) को प्राप्त होती रहती है। एक ही जीव, जो एक जन्म मे त्रस होता है, दूसरे जन्म मे स्थावर

हो सकता है। त्रस हो या स्थावर—सब जीवो को दु ख अप्रिय होता है। अत मुमुक्षु सभी जीवो की हिसा न करे।

[४]

१४ उड्ढ अहे य तिरिय दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
हत्थेहि पादेहि य सजमित्ता अदिण्णमण्णेसु य णो गहेज्जा।।
(सू० १, १० २)

ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओ मे जो भी त्रस या स्थावर प्राणी है, हाथ और पैरो को सयमित कर उनका प्राण-हरण नही करना चाहिए। अन्य की बिना दी हुई वस्तु न ले।

१५ एतेसु बाले य पकुव्वमाणे आवट्टती कम्मसु पावएसु।
अतिवाततो कीरति पावकम्म णिउजमाणे उ करेइ कम्म।।
(सू० १, १० ५)

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवो के प्रति दुर्व्यवहार करता हुआ पाप-कर्म सचय कर बहुत दु ख पाता है। जो खुद जीवो का घात करता है और जो जीवो का घात कराता है दोनो ही पाप-कर्म का उपार्जन करते है।

१६ सव्व जग नू समयाणुपेही पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा1
(सू० १, १० ७)

मुमुक्षु सर्व जगत् अर्थात् सर्व जीवो को समभाव से देखनेवाला हो। वह किसी का प्रिय और किसी का अप्रिय न करे। सारे जगत् के—छोटे और बडे सब प्राणियो को आत्मा के समान देखे।

[५]

१७ सयं तिवातए पाणे अदुवा अण्णेहि घायए।
हणतं वाणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो।। (सू० १, १ (१) ३)

जो स्वय जीवो की हिसा करता है, दूसरो से करवाता है या जो जीव-हिसा का अनुमोदन करता है, वह अपने वैर की वृद्धि करता है।

[६]

१८ सदा सच्चेण सपण्णे मेत्ति भूतेसु कप्पए।। (सू० १, १५ . ३)

जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावो से सम्पन्न (ओतप्रोत) रहती है, वह सब जीवो के प्रति मैत्री भाव रखे।

१६ भूतेसु ण विरुज्झेज्जा एस धम्मे वुसीमओ।। (सू० १, १५ : ४)

भूतो से विरोध न करे, यही सयमियो का धर्म है।

२० अणेलिसस्स खेयण्णे ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव चक्खुम। (सू० १, १५ : १३)

सयम मे निपुण परमार्थदर्शी पुरुष मन, वचन और काया से किसी से विरोध न करे।

[७]

२१. उड्डं अहं यं तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा माणप्पओसं अविकंपमाणे।।
(सू० १, १४ : १४)

ऊर्ध्व, अध और तिर्यक्—तीनो दिशाओ मे जो त्रस और स्थावर प्राणी है, उनके प्रति सदा यत्नवान् रहता हुआ जीवन बिताये। सयम मे अडोल रहता हुआ मन से भी द्वेष न करे।

[८]

२२ पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ तण रुक्ख वीया य तसा य पाणा।
जे अंडया जे य य जराउ पाणा संसेयया जे रसायाभिहाणा।।
एताइं कायाइं पवेइयाइं एतेसु जाणे पडिलेह सायं।
एतेहि काएहि य आयदंडे पुणो-पुणो विप्परियासुवेति।।

(सू० १, ७ : १-२)

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति। इन सब स्थावर तथा (६) अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज—इन सब त्रस प्राणियो को ज्ञानियो ने जीव-निकाय कहा है। इन सबमे सुख की इच्छा है, यह जानो और समझो।

जो इन जीव-कायो का नाश कर पाप-सचय द्वारा अपनी आत्मा को दडित करता है, वह बार-बार इन्हीं प्राणियो की योनि मे जन्म धारण करता है।

[९]

२३. हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा वुच्चमाणो ण संजले।
सुमणो अहियासेज्जा ण य कोलाहल करे।। (सू० १, ९ : ३१)

कोई पीटे तो क्रोध न करे। कोई दुर्वचन कहे तो प्रज्वलित न हो। इन सब परीषहो को सु-मन से (समभाव से) सहन करे और कोलाहल (हल्ला) न मचाए।

[१०]

२४ पाणे य नाइवाएज्जा से समिए त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ।। (उ० ८ : ६)

जो जीवो की हिसा नहीं करता और उनका त्रायी होता है, वह 'समित' (सब तरह से सावधान) कहलाता है। उच्च स्थान से जैसे पानी निकल जाता है, वैसे ही अहिसा से निरन्तर भावित प्राणी के कर्म-समूह दूर हो जाते है।

[११]

२५ जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ इह केवलिभासिय।। (अनु० ७, ८ २)

जो त्रस और स्थावर—सर्व जीवो के प्रति समभाव रखता है, उसी के सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

४. अहिंसा की महिमा

१ णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह तह जाण महल्ल ण वयमहिसासम अत्थि।। (भग० आ० ७८४)

जैसे इस जगत् मे अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाश से बडी कोई चीज नहीं है, उसी प्रकार अहिसा व्रत के समान सूक्ष्म या उससे बडा कोई व्रत नहीं है।

२ जह पव्वदेसु मेरू उव्वाओ होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणसु उव्वाय सीलेसु वदेसु य अहिसा।। (भग० आ० ७८५)

जैसे सर्व जगत् मे समस्त पर्वतो मे मेरुपर्वत ऊँचा है, वैसे ही यह अहिसा व्रत सपूर्ण शील और समस्त व्रतो मे उत्कृष्ट है।

३ सव्वो वि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी।
तह जाण अहिसाए वदगुणसोलाणि तिठ्ठंति।। (भग० आ० ७८६)

जैसे यह सारा लोक आकाश मे है, और सर्व द्वीप और समुद्र पृथ्वी पर, वैसे ही व्रत, गुण और शील ये सब अहिसा मे स्थित है।

४ कुव्वंतस्स वि जत्त तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया।
अरएहि विणा य जहा णठ्ठ णेमी दु चक्कस्स।।
तह जाण अहिसाए विणा ण सीलाणी ठंति सव्वाणि।
तिस्सेव रक्खणट्ठ सीलाणि वदीव सस्सस्स।।
(भग० आ० ७८७-८८)

कितना भी प्रयत्न करो, तुबी के विना चक्र के आरे नहीं रह सकते हे और आरो के बिना चक्र की नेमी नष्ट हो जाती है। वैसे ही अहिसा के विना सर्व शील नही टिकते। जैसे धान्य की रक्षा के लिए वाड होती हे वैसे ही अहिसा की रक्षा के लिए शील-व्रत है।

५ सील वद गुणो वा णाणं णिस्सगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिसंतरस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति।। (भग० आ० ७८६)

शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता और विषय-सुख का त्याग—ये सर्व जीव हिसा करनेवाले के लिए निरर्थक हो जाते है।

६ सव्वेसिमासमाण हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाण।
सव्वेसि वदगुणाण पिडो सारो अहिसा हु।। (भग० आ० ७९०)

यह अहिसा सर्व आश्रमो का हृदय है, सर्व शास्त्रो का गर्भ हे और सर्व व्रतो का पिडभूत—निचोडा हुआ सार है।

७ जम्हा असच्चवयणादिएहि दुक्ख परस्स होदित्ति।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिसाए।।(भग० आ० ७९१)

असत्य बोलने से, न दी हुई वस्तु लेने से, मेथुन से और परिग्रह से पर को दु ख होता है। अत असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग अहिसा के ही गुण है, ऐसा समझना चाहिए।

८ गोबभणित्थिवधमेत्तिणियत्ति जदि हवे परमधम्मो।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया।। (भग० आ० ७९२)

गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीवध—इनसे निवृत्त होना यदि उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है, तो सर्व जीवो पर दया करना उत्कृष्ट धर्म क्यो नहीं माना जाएगा ?

५. यतना धर्म

१ अजयं चरमाणो उ पाणभूयाइं हिसई।
बधई पावय कम्मं त से होइ कडुय फलं।। (द० ४ १)

अयतनापूर्वक चलनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर जीवो की हिसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

२ अजय चिट्ठमाणो उ पाणभूयाइ हिसई।
बधई पावय कम्म त से होइ कडुय फल।। (द० ४ २)

अयतनापूर्वक खडा होनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

३ अजय आसमाणो उ पाणभूयाइ हिसई।
बधई पावय कम्म तं से होइ कडुय फलं।। (द० ४ ३)

अयतनापूर्वक बैठनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

४. अजय सयमाणो उ पाणभूयाइ हिसई।
बधई पावय कम्म त से होइ कडुय फल।। (द० ४ ४)

अयतनापूर्वक सोनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

५. अजय भुजमाणो उ पाणभूयाइ हिसई।
बधई पावयं कम्म त से होइ कडुय फल।। (द० ४ ५)

अयतनापूर्वक भोजन करनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर जीवो की हिसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

६ अजय भासमाणो उ पाणभूयाइं हिसई।
बधई पावयं कम्म तं से होइ कडुय फल।। (द० ४ ६)

अयतनापूर्वक बोलने वाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर जीवो की हिसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

७ कह चरे कह चिट्ठे कहमासे कह सए।
कह भुजतो भासतो पाव कम्म न बंधई ?।।[1] (द० ४ ७)

---

१ मू० १०१२

कध चरे कध चिट्ठे कधमासे कध सये।
कध भुजेज्ज भासिज्ज कध पाव ण बज्झई।।

कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ?— जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो।

८. जय चरे जय चिट्ठे जयमासे जय सए।
जय भुंजंतो भासतो पाव कम्म न बंधई।।[1] (द० ४ ८)

यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खडा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक भोजन करने और यतनापूर्वक बोलनेवाला सयमी पुरुष पाप-कर्मो का बन्ध नहीं करता।

९ सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई।। (द० ४ . ९)

जो जगत् के सब जीवो को आत्मवत् समझता है, जो जगत् के सब जीवो को समभाव से देखता है, जो आस्त्रव का निरोध कर चुका और जो दान्त है, उसके पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

१०. आदाणे णिक्खेव वोसरणे ठाणगमणसयणेसु।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयापरो होहु हु अहिसो।। (भग० आ० ८१८)

किसी वस्तु को उठाने मे, रखने मे, त्याग करने मे तथा खडा होने, चलने, शयन करने आदि कार्यो मे सर्वत्र अप्रमत्त रहता हुआ जो दयावान् होता है, वह निश्चय ही अहिसक है।

११. जीवो कसायबहुलो सतो जीवाण घायणं कुणइ।
सो जीवहं परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ।। (भग० आ० ८१७)

जीव कषाय के अत्यन्त वश मे होकर जीवो का घात करता है। जो कषाय को जीत लेता है, वह सदा जीव-हिसा का परिहार करता है अर्थात् सदा अहिसक है।

१२ जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकय सुहं णत्थि।
तम्हि सुहे निस्सगो तम्हा सो रक्खदि अहिसा।। (भग० आ० ८१६)

जीवो का वध किए बिना इन्द्रिय-जन्य सुखो की प्राप्ति नहीं होती। अत जिसकी इन्द्रिय-सुख मे आसक्ति नहीं होती वही अहिसा का रक्षण करता है।

---

१ मू० १०१३
जद चरे जद चिट्ठे जदं मासे जद सये।
जद भुजेज्ज भासेज्ज एव पाव न वज्झई।।

: १६ :

मृषावाद-विरति

१. मृषावाद

१. मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहि गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए।। (द० ६ : १२)

इस समूचे लोक मे मृषावाद सब साधुओ द्वारा गर्हित है और वह प्राणियो के लिए अविश्वसनीय है। अत मुमुक्षु असत्य न बोले।

२. वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेण किं पुण जो मुसं वए।। (द० ७ : ५)

जो पुरुष बाह्य आधार से सत्य बोलने पर भी वास्तव मे असत्य बोल जाता है उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है[1] तो फिर उनका क्या कहना जो साक्षात् मृषा (झूठ) बोलता है।

३. अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया।
हिसगं न मुसं बूया नो वि अन्न वयावए।। (द० ६ : ११)

मुमुक्षु अपने या दूसरो के लिए क्रोध से या भय से पीडाकारक सत्य और असत्य न बोले, न दूसरो से बुलवाए।

४. मादाए वि य वेसो पुरिसो अलिएण होइ इक्केण।
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तुव्व।।(भग० आ० ८४६)

इस एक असत्य भाषाणरूपी दोष से झूठ बोलनेवाला मनुष्य माता का भी अविश्वसनीय हो जाता है, फिर अन्य अनेक लोगो के लिए वह शत्रु के समान क्यो नहीं होगा ?

५ अप्पच्चओ अकित्ती भंभारदिकलहवेरभयसोगा।
वधबंधभेदणाणा सव्वे मोसम्मि सण्णिहिदा।। (भग० आ० ८४८)

अविश्वास, अकीर्ति, सक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बधन, स्वजन-भेद, धन-नाश आदि सारे दोष असत्य भाषण मे सन्निहित हैं।

---

१ स्त्री पुरुष वेश मे है। यह मालूम न हो और उसे बाह्य वेश के आधार पर पुरुष कहे तो इससे भी पाप होता है।

६ पापस्सागमदार असच्चवयण भणति हु जिणिदा। (भग० आ० ८४६)

जिनेन्द्र भगवान् ने असत्य वचन को पाप के आगमन का द्वार कहा है।

७ मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरते।
(उ० ३२ . ३१)

असत्य बोलने के पश्चात् पहले और बोलने के समय वह दु खी होता है। उसका पर्यवसान भी दु खमय होता है।

८ परिहर असंतवयण सव्व पि चतुव्विधं पयत्तेण।
धत्त पि सजमितो भासादोसेण लिप्पदि हु।। (भग० आ० ८२३)

हे मनुष्य ! तू चार प्रकार के सर्व असत्य का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर। सयम का आचरण करता हुआ भी मनुष्य भाषा-दोष के कारण कर्मो से लिप्त होता है।

६ पढम असंतवयणं संभूदत्थरस्स होदि पडिसेहो। (भग० आ० ८२४)

प्रथम असत्य वचन अस्तित्व रूप वस्तु का निषेध करना हे।

१० ज असभूदुब्भावणमेद विदियं असतवयण तु। (भग० आ० ८२६)

जो वस्तु नहीं है उसके विषय मे—वह है, ऐसा कहना असत्य वचन का दूसरा भेद है।

११ तदियं असतवयणं संत जं कुणदि अण्णजादीग। (भग० आ० ८२८)

एक जाति के सत् पदार्थ को अन्य जाति का कहना असत्य का तीसरा प्रकार है।

१२. जं वा गरहिदवयणं ज वा सावज्जसजुद वयण।
ज वा अप्पियवयणं असत्तवयण चउत्थं च।। (भग० आ० ८२६)

जो भी गर्हित वचन, सावद्य से सयुक्त वचन, अप्रिय वचन है वह चौथे प्रकार का असत्य वचन है।

१३ कक्कस्सवयणं णिठ्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।
जं किंचि विप्पलाव गरहिदवयणं समासेण।। (भग० आ० ८३०)

कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, उपहासपूर्ण वचन, पैशुन्ययुक्त वचन, प्रलाप रूप वचन—सक्षेप मे ये सब गर्हित वचन है।

१४ जत्तो पाणवधादी दोसा जायति सावज्जवयण च।
अविचारित्ता थेण थेणत्ति जहेवमादीय।। (भग० आ० ८३१)

जिस वचन से प्राणातिपात आदि दोष उत्पन्न हो वह सावद्य वचन है। जैसे बिना विचारे चोर को चोर कहना।

१५ परुस कडुय वयण वेर कलह च ज भय कुणइ।
उत्तासण च हीलणमप्पियवयण समासेण।। (भग० आ० ८३२)

पुरुष वचन, कटु वचन, वैर, कलह, भय को उत्पन्न करनेवाला वचन, त्रास उत्पन्न करनेवाला वचन, अवज्ञा करनेवाला वचन सक्षेप मे अप्रिय वचन है।

१६ हासभयलोहकोहप्पदोसादीहि तु मे पयत्तेण।
एव असतवयण परिहरिदव्व विसेसेण।। (भग० आ० ८३३)

उपर्युक्त असत्य तथा हास्य, भय, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणो से जो असत्य भाषण किया जाता है उसका तू प्रयत्नपूर्वक विशेष रूप से त्याग कर।

२. सत्यवादी : असत्यवादी

१ माया व होइ विस्ससस्सणिज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स।
पुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियल्लओव्व पिओ।।
(भग० आ० ८४०)

सत्यवादी पुरुष लोगो के लिए माता के समान विश्वसनीय, गुरु के समान पूजनीय और निकटतम बधु के समान प्रिय होता है।

२ सच्चम्मि तवो सच्चम्मि सजमो तह वसे सया वि गुणा।
सच्च णिबधण हि य गुणाणमुदधीव मच्छाण।। (भग० आ० ८४२)

सत्य ही तप है। सत्य मे ही सयम और शेष सभी गुण समाहित है। जैसे समुद्र मछलियो का आश्रय-स्थल होता है वैसे ही सत्य सब गुणो का आश्रय-स्थल है।

३ सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि।
अदिसजदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ।। (भग० आ० ८४३)

दूसरे गुण न होने पर भी सत्यवादी पुरुष सत्य के बल से ही जगत् मे प्रमाणभूत होता है। सयमी पुरुष भी यदि असत्यवादी हो तो वह तिनके के समान तुच्छ होता है।

४ होदु सिहडी व जडी मुडो वा णग्गओ व चीवरधरो।
जदि भणदि अलियवयण विलबणा तस्स सा सव्वा।।
(भग० आ० ८४४)

कोई शिखाधारी हो, जटाधारी हो, मुड हो, नग्न हो, वस्त्रधारी हो—यदि वह असत्य वचन बोलता है तो उसकी ये सारी बाते विडम्बना-स्वरूप है।

५ जह परमण्णस्स विस विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा।
तह जाण अहिसादी गुणाण य विणासयमसच्चं।।
(भग० आ० ८४५)

जैसे विष क्षीर का विनाश कर देता है और जरा यौवन का विनाश कर देती है, वैसे ही असत्य को अहिसा आदि सर्व गुणो का विनाशक समझना चाहिए।

६. ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ।
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि।।
(भग० आ० ८३८)

सत्यवादी को अग्नि नहीं जला पाती, पानी डुबोने मे असमर्थ होता है। सत्य से बली पुरुष को बडे वेग से पर्वत पर से गिरनेवाली नदी भीं नहीं वहा पाती।

७ अलियं स किं पि भणिदं घादं कुणदि बहुगाण सव्वाणं।
अदिसकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो।।
(भग० आ० ८४७)

एक बार भी बोला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोले हुए सत्य भाषाणो का संहार कर देता है। असत्यवादी पुरुष स्वय भी मन मे शंकित रहता है।

८ सच्चं धितिं कुव्वह। (आ० १, ३ (२) : ४०)

तू सत्य मे धृति कर।

९ एत्थोवरए मेहादी सव्वं पाप-कम्मं झोसेति।
(आ० १, ३ (२) : ४१)

सत्य मे रत रहनेवाला मेधावी सर्व पाप-कर्म का क्षय कर डालता है।

१०. पुरिसा ! सच्चमेव समभि जाणाहि। (आ० १, ३ (३) : ६५)

हे पुरुष ! तू सत्य को अच्छी तरह जान।

११ सच्चस्स आणाए उपट्ठिए से मेहाबी मारं तरति।
(आ० १, ३ (३) : ६६)

जो सत्य की आज्ञा मे उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है।

: २० :

अदत्तादान-विरति

१. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं।। (उ० ३२ · २६)

रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयो मे अतृप्त और उनके परिग्रहण मे गाढ आसक्तिवाला मनुष्य तुष्टि (सतोष) नहीं पाता और अतुष्टि दोष से दुखी और लोभ से कलुषित वह आत्मा दूसरे की न दी हुई इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है।

२ जह मारुवो पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा।
जीवस्स तहा लोभो मदो वि खणेण वित्थरइ।। (भग० आ० ८५६)

जैसे वायु क्षण-भर मे बढकर विस्तीर्ण हो जाती है, बादल भी क्षण-भर मे बढकर सारे आकाश को व्याप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार पहले जीव का लोभ मद होने पर भी क्षण-भर मे विस्तीर्ण हो जाता है।

३. लोभे य वढ्ढिदे पुण कज्जाकज्ज णरो ण चिंतेदि।
तो अप्पणो वि मरण अगणितो चोरियं कुणइ।। (भग० आ० ८५७)

लोभ के बढ जाने पर मनुष्य कार्याकार्य का विचार नहीं करता और अपने मरण की भी परवाह न करता हुआ चोरी करता है।

४. सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि।
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियमंमि अदिदुहिदो।। (भग० आ० ८५८)

सभी लोगो की बुद्धि धन मे आसक्त रहती है, उनका हृदय धन मे रहता है। धन का हरण होने पर मनुष्य शक्ति नामक शस्त्र के प्रहार से विद्ध होने के समान हृदय मे अत्यन्त दु खित होता है।

५. अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि।
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीव खु पुरिसस्स।।(भग० आ० ८५६)

दूसरे के द्वारा धन के हरण किये जाने पर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। उसकी चेतना लुप्त हो जाती है। 'मेरा धन', 'मेरा धन' करता हुआ वह मर जाता है, क्योकि अर्थ मनुष्य का जीवन होता है।

६. अत्थे सतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसबंधी।
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविद तेसि।। (भग० भा० ८६१)

धन से मनुष्य भार्या, पुत्र, सम्वन्धी आदि के साथ सुखपूर्वक जीता है। धन के हरण से उसकी भार्या, पुत्र आदि के जीवन का हरण होता है।

७ चोररस्स णत्थि हियए दया च लज्जा दमो व विस्सासो।
चोररस्स अत्थहेदु णत्थि य कादव्वयं किं पि।। (भग० आ० ८६२)

चोर के मन मे न दया होती है और न लज्जा, न संयम होता है ओर न विश्वास। धन को पाने के लिए चोर के लिए कुछ अकार्य नहीं है।

८. अण्णं अवरज्झतस्स दिति णियये घरम्मि आवास।
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्क सीलस्स।। (भग० आ० ८६४)

अन्य अपराध करनेवालो को लोक अपने घर मे आश्रय देता है, परन्तु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्य को उसकी माता भी आश्रय नहीं देती।

६ उंदरकंदपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो।
सहसा समुच्छिदभओ उव्विग्गो धावदि खलंतो।। (भग० आ० ८६६)

चूहे का शव्द सुनकर भी चोर के सारे अंग भय से थर-थर काँपने लगते हैं और वह डरकर भागने लगता है और गिर पडता है।

१०. धत्ति पि संजमंतो घेत्तूण किलिंदमेत्तमविदिण्णं।
होदि हु तण व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरी व्व।। (भग० आ० ८७०)

सयम का पालन करता हुआ मनुष्य न दिया हुआ तृणमात्र भी ग्रहण कर चोर के समान अविश्वासी वन जाता है और तिनके के समान हल्का हो जाता है।

११. चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दतसोहणमेत्त पि ओग्गहसि अजाइया।।
तं अप्पणा न गेण्हंति नो वि गेण्हावए परं।
अन्न वा गेण्हमाणं पिनाणुजाणति सजया।। (द० ६ : १३-१४)

अत. सयमी पुरुष सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या वहुत, दाँता कुरेदने का तिनका तक भी उसके स्वामी की आज्ञा विना स्वय ग्रहण नहीं करता, न दूसरे से ग्रहण करवाता है और न ग्रहण करनेवाले को भला समझता है।

१३. आयाणं नरयं दिस्स नायएज्ज तणामवि।[1] (उ० ६-७)

विना दी हुई वस्तु के ग्रहण मे नरक देखकर तृण-मात्र भी विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए।

---

१ भग० आ० ८५३।

: २१ :

अब्रह्मचर्य-विरति

१. ब्रह्मचारी और उपलब्धियाँ

१. वाऊ व जालमच्चेइ पिया लोगंसि इत्थिओ।
इत्थिओ जे ण सेवंति आदिमोक्खा हु ते जणा।।

(सू० १, १५ : ८, ६)

जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाती है, वैसे ही पराक्रमशाली पुरुष इस लोक मे प्रिय स्त्रियो के मोह को उल्लघन कर जाते है।

जो पुरुष स्त्रियो का सेवन नहीं करते वे मोक्ष पहुँचने मे सबसे अग्रसर होते है।

२. जे विण्णवणाहिऽजोसिया संतिण्णेहि सम वियाहिया।
तम्हा उड्ढ ति पासहा अद्दक्खू कामाइं रोगवं।।

(सू० १, २ (३) २)

काम को रोग-रूप समझकर जो स्त्रियो से अभिभूत नहीं है, उन्हे मुक्त पुरुषो के समान कहा है। इसलिए मोक्ष को देखो और कामो को रोग-रूप समझो।

३. णीवारे व ण लीएज्जा छिण्णसोते अणाइले।
अणाइले सदा दंते सधि पत्ते अणेलिस।। (सू० १, १५ . १२)

स्त्री-प्रसग सूअर को फँसानेवाले चावल के कण की तरह है। विषय और इन्द्रियो को जीतकर जो छिन्नस्रोत हो गया है तथा जो राग-द्वेष रहित है वह स्त्री-प्रसंग मे न फँसे। जो विषय-भोगो मे अनाकुल और सदा इन्द्रियो को वश मे रखनेवाला पुरुष है वह अनुपम भाव-सन्धि (कर्म क्षय करने की मानसिक दशा) को प्राप्त करता है।

४. जहा णई वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि णारीओ दुत्तरा अमईमया।। (सू० १,३ (४) : १६)

जिस तरह नदियो मे वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, उसी तरह इस लोक मे अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियो का मोह जीतना कठिन है।

५. जेहि णारीण सजोगा पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेय णिराकिच्चा ते ठिया सुसमाहिए।। (सू० १, ३ (४) · १७)

जिन पुरुषो ने स्त्री-ससर्ग और काम-शृगार को छोड दिया है, वे समस्त विघ्नो को जीतकर उत्तम समाधि मे निवास करते है।

५. एए ओघ तरिस्संति समुद्दं व ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसण्णासी किच्चंती सयकम्मुणा।।
(सू० १, ३ (४) : १८)

ऐसे पुरुष इस संसार-सागर को, जिसमे दूसरे जीव डूब गए हैं और अपने-अपने कर्मो से दु ख पाते हैं, उसी तरह तिर जाते है जिस तरह वणिक् समुद्र को।

७. देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करति तं।। (उ० १६ . १६)

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी उस ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

२. ब्रह्मचर्य-साधना-सूत्र

१. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।। (भग० आ० ८७८)

आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा मे ही चर्या करना ब्रह्मचर्य है। जो साधक परदेह से विमुक्त होकर ब्रह्म मे चर्या करता है वही सच्चा ब्रह्मचारी है।

२. मण बंभचेर वचि बंभचेर तह काय बंभचेरं च।
अहवा हु बभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं।। (मू० ६६४)

मन मे ब्रह्मचर्य, वचन मे ब्रह्मचर्य और काय में ब्रह्मचर्य—इस तरह ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है अथवा द्रव्य-ब्रह्मचर्य और भाव-ब्रह्मचर्य—इस प्रकार दो तरह का है।

३. भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।। (मू० ६६५)

जो भावत (अतरग से) विरत है वही वास्तव मे विरत है। जो केवल द्रव्यत (बाहर से) विरत है उसकी सुगति नहीं होती। इसलिए मनरूपी हाथी को—जो विषय-वन मे रमण करता है—वश मे करना चाहिए।

४. पढसं विउलाहारं बिदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं।।
तह सयणसोधणंपि य इत्थिससग्गपि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदिसरणमिदियविसयरदी पणीदरससेवा।।

दसविहमव्वभमिण ससारमहादुहाणमावाह।
परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि।। (मू० ६६६-६८)

बहुत भोजन करना, शरीर-शृगार, गन्धमाल्य का धारण, गीत-वादित्र का सुनना, शयन—शृगारपूर्ण घर—चित्रशाला की खोज, स्त्री-संसर्ग, भोग्य वस्तुओ का सग्रह, भोगे हुए भोगो का स्मरण, इन्द्रियो के विषय मे प्रेम और इष्ट-पुष्ट रस का सेवन—इस तरह दस प्रकार का अब्रह्मचर्य है, जो ससार के दु खो का उत्पत्ति-स्थान है। जो महात्मा इनका त्याग करता है, वह दृढ ब्रह्मचर्य व्रत का धारी होता है।

५ एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं।
आवादे मधुरम्मिव होदि विवागे य कडुयदरं।। (भग० आ० ८८१)

यह दस प्रकार का अब्रह्म विष और अग्नि के समान है। यह अब्रह्म आदि मे बडा मधुर होता है पर विपाक के समय कडवा होता है।

६ संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण।
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण।। (भग० आ० ८९०)

यह कामरूपी सर्प सकल्परूपी अडे से उत्पन्न होता है। राग और द्वेष इसकी दो जिह्वाएँ है। यह विषयरूपी बिल मे रहता है। विषयासक्ति ही इसका मुख है और यह चिन्तारूपी रोष से युक्त है।

७ जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति।
सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स।। (भग० आ० ८८३)

जितने भी दोष इहलोक और परलोक मे दु खो को उत्पन्न करनेवाले हैं, वे सब मनुष्य की अब्रह्मचर्य की इच्छा से ही पैदा होते है।

८. आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तासि इंदियदरिसण।।
कूइयं रुइयं गीयं हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयण।।
गतभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा।। (उ० १६ . ११-१३)

(१) स्त्रियो से आकीर्ण निवास, (२) मनोहर स्त्री-कथा, (३) स्त्रियो से ससर्ग और परिचय, (४) उनकी इन्द्रियो का दर्शन, (५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्य का सुनना, (६) भुक्त भोग और उनके साथ एकासन का स्मरण, (७) स्निग्ध रसदार भक्त-पान, (८) अति मात्रा मे खान-पान, (९) शरीर-शृगार की इच्छा तथा

(१०) कामभोग—शब्दादि विषयो—मे आसक्ति (ये सब बाते प्रिय होती है और उनका त्याग बडा कठिन होता है परन्तु) आत्मगवेषी पुरुष के लिए सब तालपुट विष की तरह है।

१० जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एव खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं।। (द० ८ . ५३)

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा (प्राण-नाश का) भय (बना रहता) है, उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री-शरीर से (शील-भंग का) भय (बना रहता) है।

११. चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्‌ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे।। (द० ८ · ५४)

आत्मगवेषी पुरुष चित्र-भित्ति (स्त्रियो के चित्रो से चित्रित दीवार) या सुअलंकृत नारी को गिद्ध-दृष्टि से न देखे। ऐसे चित्र अथवा स्त्री को देखकर वह अपनी दृष्टि उसी तरह प्रतिसमाहृत करें—खींच ले—जैसे भास्कर (की किरणो) को देखकर मनुष्य ऑखो को खींच लेता है।

१२. वीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरुवस्स।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स।। (मू० ६६०)

काठ से बने हुए स्त्रीरूप से भी सदा डरना चाहिए क्योंकि कारणवश उससे भी जीव का मन चलायमान हो जाता है।

१३ अगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीण तं न निज्झाए कामरागविवड्‌ढणं।। (द० ८ : ५७)

स्त्रियो के अग-प्रत्यग, संस्थान, उनकी मनोहर बोली और चक्षु-विन्यास (कटाक्ष)—इन सब पर ब्रह्मचारी ध्यान न लगावे। ये बाते कामराग की वृद्धि करनेवाली हैं।

१४. मायाए वहिणीए धूआए मूइय वुड्‌ढ इत्थीए।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं।। (मू० ६६२)

माता, बहन, पुत्री, गूँगी, बूढी स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिए। निरपेक्ष भाव से स्त्री के रूप का निरीक्षण नहीं करना चाहिए।

१५ विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय परिणामं पोग्गलाण य।। (द० ८ : ५८)

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गल-परिणामों को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयो में राग-भाव न करे।

१६. पोग्गलाण परिणामं तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे सीईभूएण अप्पणा।। (द० ८ : ५६)

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गल-परिणामो को यथातथ्य जानकर ब्रह्मचारी तृष्णारहित हो उपशान्त आत्मापूर्वक विहार करे।

१७. घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी वलंतअग्गिसमा।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इदरे।। (मू० ६६१)

पुरुष घी से भरे हुए घडे के समान है और स्त्री जलती हुई अग्नि के समान। जिन पुरुषो ने स्त्री का संसर्ग प्राप्त किया वे नाश को प्राप्त हुए, और जो उससे बचे वे मोक्ष को गये।

१८. अह सेऽणुतप्पई पच्छा भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवागमायाए संवासो ण कप्पई दविए।।
(सू० १, ४ (१) : १०)

विषमिश्रित खीर का भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह स्त्रियो के सहवास मे रहने वाले ब्रह्मचारी को पीछे विशेष अनुताप पडता है। इसलिए पहले से ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियों के साथ सहवास न करे।

१६. कुव्वंति संथवं ताहिं पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा उ वज्जए इत्थी विसलित्तं व कटगं णच्चा।।
(सू० १, ४ (१) : १६, ११)

जो स्त्रियो के साथ परिचय करता है, वह समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाता है। अत. स्त्रियों को विष-लिप्त कंटक के समान जानकर ब्रह्मचारी उनके संसर्ग का वर्जन करे।

२० मा पेह पुरा पणामए अभिकंखे उवहि धुणित्तए।
जे दूवणया ते हि णो णया ते जाणंति समाहिमाहियं।।
(सू० १, २ (२) : २७)

दीन बनानेवाले पूर्व के भोगे हुए विषय-भोगो का स्मरण मत कर, न उनकी कामना कर। सारी उपाधियो—दुष्प्रवृत्तियो को दूर कर। मन को दुष्ट बनानेवाले विषयो के सामने जो नतमस्तक नहीं होता वह जिन-कथित समाधि को जानता है।

२१ दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं।। (उ० १६ : १४)

एकाग्र मनवाला ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगों का सदा वर्जन करे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो विघ्न के स्थान हो, उन सबसे दूर रहे।

१. धन का अभिशाप

१. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणंत-मोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव।। (उ० ४ : ५)

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे। हाथ मे दीपक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामने का मार्ग दिखाई नहीं देता, उसी तरह से धन के अनन्त मोह मे फँसा हुआ मूढ मनुष्य पार पहुँचानेवाले मार्ग को देखता हुआ भी नहीं देख सकता।

२. जे पावकम्मेहि धणं मणूसा समाययंता अमइं गहाय।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।। (उ० ४ . २)

जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पाप-कृत्यो द्वारा उसे कमाते हैं, उन्हे देख। वे अनेक जीवो से वैर-विरोध बॉधकर सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड नरकवास प्राप्त करते हैं।

३. परिव्वयंते अणियत्तकामे अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च।। (उ० १४ : १४)

धन के लिए चक्कर लगानेवाला, काम-लालसा से अनिवृत्त, दूसरो के लिए रात-दिन परिताप करता हुआ प्रमत्त मनुष्य धन की कामना और खोज करते-करते ही जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

४. वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं ममत्तबंधं च महब्भयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं धारेह निव्वाणगुणावहं महं।। (उ० १९ : ९८)

धन को दु.ख बढ़ानेवाला, ममत्व-बन्धन का कारण और महा भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम महान् धर्म-धुरा को धारण करो, जो निर्वाण के हेतुभूत गुणो को प्राप्त करानेवाली है।

५. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे ममाइ से साहसकारि मदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे अट्टेसुमूढे अजरामरे व्व।।
(सू० १, १० : १८)

आयु पल-पल क्षीण हो रही है, यह न समझकर मन्दबुद्धि मनुष्य दुस्साहसपूर्वक बिना विचारे ममता करता रहता है। धन मे आसक्त मूढ मनुष्य अजर-अमर पुरुष की तरह रात-दिन धन के लिए परिताप सहन करता है।

६. हम्मदि मारिज्जदि वा बज्झदि रुंभदि य अणवराधे वि।
आमिसहेदुं घण्णो खज्जदि पक्खीहि जह पक्खी।।
(भग० आ० ११४६)

परिग्रही मनुष्य बिना अपराध ही परिग्रह को चाहनेवाले दूसरे लोगो द्वारा पीटा और मारा जाता है तथा बन्द कर दिया जाता है। दूसरे परिग्रहाभिलाषी बनकर उसे दु ख देते हैं। जिसके मुंह मे मास है, ऐसा पक्षी निर्दोष होने पर भी क्या दूसरे मासाभिलाषी पक्षियो द्वारा नहीं खाया जाता और नहीं लूटा जाता ?

७. थावर जंगम चेव धण धण्णं उवक्खर।
पच्चमाणस्स कम्मेहि नाल दुक्खाउ मोयणे।। (उ० ६ · ५)

स्थावर और जंगम सम्पत्ति, धन-धान्य और घर-सामान आदि कर्मो से दु ख पाते हुए प्राणी को दु ख से मुक्त करने मे समर्थ नहीं होते।

८. खेत्तं वत्थु हिरण्णं च पुत्तदारं च बंधवा।
चइत्ताण इमं देहं गंतव्वमवसस्स मे।। (उ० १६ · १६)

मनुष्य को सोचना चाहिए—क्षेत्र (भूमि), घर, सोना-चॉदी, पुत्र, स्त्री, बान्धव तथा इस देह को भी छोडकर मुझे एक दिन अवश्य जाना पडेगा।

६. चित्तमंतमचित्त वा परिगिज्झ किसामवि।
अण्ण वा अणुजाणाइ एव दुक्खा ण मुच्चई।। (सू० १, १ (१) · २)

जब तक मनुष्य सचित्त या अचित्त (कामिनी-कांचन आदि) पदार्थो मे थोडा भी परिग्रह (ममत्व, आसक्ति) रखता है या रखनेवाले का अनुमोदन करता है, तब तक वह दु ख से मुक्त नहीं हो सकता।

१० जस्सिं कुले समुप्पण्णे जेहि वा सवसे णरे।
ममाती लुप्पती बाले अण्णमण्णेहिं मुच्छिए।। (सू० १, १ (१) : ४)

मूर्ख मनुष्य जिस कुल मे उत्पन्न होता है अथवा जिसके साथ निवास करता है उनमे ममत्व करता हुआ अन्यान्य वस्तुओ मे मूर्च्छित होता हुआ अन्त मे बहुत पीडित होता है।

११. वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं ण ताणइ।
संधाति जीवितं चेव कम्मणा उ तिउट्टइ।। (सू० १, १ (१) : ५)

धन और सहोदर—ये सव रक्षा करने मे समर्थ नहीं होते, तथा जीवन अल्प है—यह जानकर परिग्रह से विरक्त होनेवाला कर्मो से छूट जाता है।

१२. जो संचिऊण लच्छि धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि।। (द्वा० अ० १४)

जो पुरुष लक्ष्मी का सचय कर उसे वहुत नीचे जमीन में गाडता है वह लक्ष्मी को पत्थर वना देता है।

१३. लच्छी-संसत्त-मणो जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण।
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढप्पा।। (द्वा० अ० १६)

जो पुरुष लक्ष्मी में मन से आसक्त होकर कष्ट से अपना गुजर करता है वह मूढात्मा राजा तथा कुटुम्बियो का कार्य सिद्ध करता है।

१४. जो वड्ढारदि लच्छिं वहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वारंभ कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेई।।
ण य भुंजदि वेलाए चिंतावत्थो ण सुयदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि किमोहिदो लच्छि तरुणीए।।
(द्वा० अ० १७, १८)

जो पुरुष अनेक प्रकार की बुद्धि के द्वारा लक्ष्मी को वढाता है, तृप्त नहीं होता, उसके लिए सर्व आरंभ करता है, रात-दिन उसी का चिंत्तन करता है, समय पर भोजन नहीं करता, चितित होता हुआ रात में भी नहीं सोता वह लक्ष्मी-रूपी युवती पर मोहित हो उसका दासत्व करता है।

२. परिग्रही बनाम निष्परिग्रही

१. रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ।। (भग० आ० ११२१)

राग, लोभ, मोह, संज्ञा, गौरव आदि का उदय होता है, तव मनुष्य धन आदि परिग्रह के संग्रह की बुद्धि करता है।

२. मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं।
गंथणिमित्तं जग्गइ कंक्खंतो सव्वरत्तीए।। (भग० आ० ११४७)

परिग्रही मनुष्य माता, पिता, पुत्र और स्त्री का भी विश्वास नहीं करता। परिग्रह की रक्षा के लिए सारी रात ठुनकता हुआ जागता रहता है।

३. सोदूण किचसद्दं सग्गंथो होइ उद्विदो सहसा।
सव्वतो पिच्छंतो परिमसदि पलादि मुज्झदि य।।
(भग० आ० ११५०)

थोडा-सा भी शब्द सुनकर परिग्रही सहसा खडा हो जाता है, चारों ओर देखने लगता है, सोच मे पड जाता है, भय से भागने लगता है अथवा मूर्च्छित होकर गिर पडता है।

४. संगणिमित्त कुद्धो कलहं रोल करिज्ज वेरं वा।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मारेजेज्ज व य हम्मेज्जा।।
(भग० आ० ११५३)

परिग्रह के लिए क्रुद्ध हुआ मनुष्य कलह करता है, हल्ला मचाता है, वैर करता है, दूसरो को मारता है, पीटता है, उनके प्राण हरण करता है अथवा दूसरों के द्वारा वही मारा पीटा जाता है।

५. जदि वि कहचि वि गंथा संचीएजण्ह तह वि से णत्थि।
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वढ्ढदि खु।। (भग० आ० ११४२)

यदि किसी उपाय से परिग्रह का संग्रह भी हो जाता है, तो मनुष्य को उससे तृप्ति नहीं होती, क्योकि लाभ से सदा लोभ ही बढा करता है।

६. जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
तह जीवस्स य तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि।।
(भग० आ० ११४३)

जैसे ईंधन से अग्नि की और हजारो नदियो से लवण-समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही तीनो लोको की प्राप्ति हो जाने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती।

७. तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स।।
(भग० आ० ११४५)

जिसका चित्त लोभ से लंपट हो रहा है, जिसे संतोष नहीं है, जो सदा हाय-हाय करता रहता है, जो आशा से ग्रस्त है, उसे क्या कमी सुख हो सकता है ?

८ संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमिव य जीवो।।
(भग० आ० ११२५)

परिग्रह के लिए ही मनुष्य हिसा करता है, मिथ्या वचन बोलता है, चोरी करता है, अपरिमित इच्छा रखता है और मैथुन का सेवन करता है।

९. सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति।। (भग० आ० ११२६)

परिग्रह के निमित्त से ही सज्ञा, गौरव, पैशून्य, कलह, कठोरता, निष्ठुर विवाद, ईर्ष्या, असूया और शल्य उत्पन्न होते हैं।

१०. संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि।
(भग० आ० : ११७५)

परिग्रह निश्चय से ही क्रोधादि कषायो को वैसे ही प्रदीप्त करते हैं, जैसे काष्ठ अग्नि को।

११. जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स।। (भग० आ० ११२०)

जैसे तुष सहित तंदुल का अतर्मल दूर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार परिग्रह-सहित जीव का मोहरूपी मल दूर नहीं किया जा सकता।

१२ आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च। (भग० आ० ११८१)

सर्व परिग्रहो की आशा और तृष्णा का त्याग कर। सग, ममत्व और मूर्च्छा का त्याग कर।

१३. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो। (स० सा० २१२)

इच्छा (ममत्व) का त्याग ही अपरिग्रह है।

१४. रागो हवे मणुण्णे विसए दोसो य होइ अमणुण्णे।
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता।। (भग० आ० ११७०)

इष्ट विषयो मे रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयों मे द्वेष उत्पन्न होता है। परिग्रह के त्याग से राग और द्वेष दोनों का परित्याग होता है।

१५. गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि दीविदा होइ।
ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जदिहुं कुणदि बुद्धी।। (भग० आ० ११७४)

परिग्रह के त्याग से भावविशुद्धि दीप्त होती है। परिग्रह मे जिसका मन लुब्ध होता हे, वह परिग्रह के त्याग करने की इच्छा नहीं करता।

१६. सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्सगो णिब्भओ य सव्वत्थ।
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ।।
(भग० आ० ११७७)

निष्परिग्रही मनुष्य सर्वत्र स्वाधीन होता है। उसे कहीं भी भय नहीं होता। वह आरम्भ से निवृत्त होता है। वह सब जगह काम की चिन्ता से मुक्त होता है।

१७. भारक्कंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय णिव्वुदो होइ।
जह तह पयहिय गथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ।। (भग० आ० ११७८)

जैसे भार ढोनेवाला मनुष्य भार को उतारकर सुखी होता है, वैसे ही परिग्रह का त्याग कर अनासक्त रहनेवाला पुरुष सुखी होता है।

१८. सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ।। (भग० आ० ११८२)

जो सर्व परिग्रह से मुक्त होता है, वह शीतीभूत हो जाता है। उसका अन्त करण आत्मानन्द से प्रसन्न होता है। इस तरह उसे जो सुख प्राप्त होता है, वह एक चक्रवर्ती को भी प्राप्त नहीं होता।

१६. सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासिय हवदि तस्स।
गुरुगो हि संगसत्तो सक्किज्जइ चावि सव्वत्थ।।
(भग० आ० ११७६)

निष्परिग्रही मनुष्य सर्वत्र हल्का होता है। उसका रूप स्वय विश्वास उत्पन्न करता है। परिग्रही सब जगह भारी होता है। वह सब जगह अविश्वसनीय होता है।

: २३ :

त्रिशल्य

१. शल्य-दोष

१. जइ कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्धुदो होदि।
तह्मि दु समुट्ठिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि।।(भग० आ० ५३६)

जिस प्रकार किसी के शरीर मे कहीं कॉटा चुभ जाने पर वह सारे शरीर मे वेदना का अनुभव करता है, परन्तु जब शरीर से कॉंटा निकाल दिया जाता है तब वह नि.शल्य होकर पीडा से निवृत्त होता है।

२. एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ।। (भग० आ० ५३७)

ऐसे ही जो मायावी पुरुष अपने दोषरूपी शल्य को दूर नहीं करता है, वह उससे दु.खी होता है। पर जो अपने दोषरूपी शल्य को निकाल देता है वह नि शल्य सुविशुद्ध होकर निवृत्त--पाप-मुक्त होता है।

३. मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च।
अहदा सल्लं दुविह दव्वे भावे य बोधव्वं।। (भग० आ० ५३८)

शल्य दो प्रकार का जानना चाहिए--द्रव्य और भाव। मिथ्यादर्शन शल्य, माया शल्य ओर निदान शल्य--ये तीन भावशल्य हैं।

४. तिविहे तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य।
(भग० आ० ५३९)

तीन प्रकार के भावशल्य दर्शन, ज्ञान और योग--इनमे उत्पन्न होते हैं।

५. एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि।।(भग० आ० ५४०)

जो लज्जा या अहंवश एक भी भावशल्य को निकाले बिना मृत्यु को प्राप्त होता है, वह आराधक नहीं होता।

६ कल्ले परे व परदो काह दसणचरित्तसोधित्ति।
इय संकप्पमदीया गय पि कालं याणति।। (भग० आ० ५४१)

कल, परसो अथवा तरसो मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि करूँगा—जो ऐसा सकल्प करते हैं, वे कितना आयुष्य बीत गया, यह नहीं जानते।

७. रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा।
ते दुक्खसल्लबहुले भमति संसारकांतारे।। (भग० आ० ५४२)

जो मूर्ख राग और द्वेष से पराजित होकर सशल्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे दु ख-रूपी कॉटो से भरे हुए ससार-रूपी जगल मे भ्रमण करते हैं।

८ तिविहं पि भावसल्ल समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं।
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे।। (भग० आ० ५४३)

जो तीनो ही भाव-शल्यो को निकालकर विशुद्ध हो मुत्यु को प्राप्त होता है वह मरण के समय आराधक होता है।

६ णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवति सव्वाइ।
वदमुवहम्मदि तीहि दु णिदाणमिच्छत्तमायाहि।।
(भग० आ० १२१४)

शल्य रहित पुरुष के ही सारे महाव्रत विशुद्ध होते है। जो शल्यो का आश्रय लेते हैं उनके व्रतो का निदान, मिथ्यात्व और माया से उपहनन होता है।

१०. ससल्लो जइ वि कट्टुग्ग, घोरवीर तवं चरे।
दिव्वं वाससहस्सं पि ततो वी त तस्स निप्फलं।। (महानि० १, १५)

शल्य सहित व्यक्ति चाहे देवताओ के हजार वर्ष तक भी घोर एव उग्र तप करे, परन्तु उसका वह सारा प्रयत्न निष्फल जाता है।

२. मिथ्यात्व शल्य

१. ससारमूलहेदु मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि।
बुद्धिं गुणण्णिद पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि।। (भग० आ० ७२४)

हे जीव ! संसार के मूल कारण मिथ्यात्व को सर्वदा दूर कर। मिथ्यात्व गुणान्वित बुद्धि को निश्चय ही मोहित कर देता है।

२. मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण।। (भग० आ० ७२६)

प्यास से जिनकी ऑखे सतप्त हो रही हैं, ऐसे हरिनों को मरीचिका मे जल का आभास होने लगता है, वैसे ही मोह के वश जीव असत् पदार्थ को सत् मानने लगता है।

३. मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहणं वरं होदि।
वड्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं।। (भग० आ० ७२७)

मिथ्यात्व से उत्पन्न मोह की अपेक्षा धतूरे से उत्पन्न मोह अच्छा होता है। मिथ्यात्व जन्म-मरण की परम्परा को बढाता है, जबकि धतूरे से उत्पन्न मोह ऐसा नहीं करता।

४. जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं सु कादव्वं।। (भग० आ० ७२८)

यह जीव अनादिकाल से प्रवृत्त मिथ्यात्व की भावना से भावित होता हुआ सम्यक्त्व मे रमण नहीं करता। इसलिए सम्यक्त्व मे प्रयत्न करना चाहिए।

५. अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू।
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं।। (भग० आ० ७२६)

अग्नि, विष और कृष्ण सर्प आदि उतना दोष नहीं करते जितना जीव का तीव्र मिथ्यात्व करता है।

६ अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे।
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भयकोडिकोडीसु।।(भग० आ० ७३०)

अग्नि, विष, नाग आदि एक ही भव मे दोष करते हैं, किन्तु मिथ्यात्व कोटि-कोटि जन्मो तक दोष उत्पन्न करता रहता है।

७. मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविंद्धा जह पुरिसा णीप्पडीयारा।। (भग० आ० ७३१)

मिथ्यात्व-रूपी शल्य से बींधा हुआ प्राणी तीव्र वेदनाओं का अनुभव करता है। विष-लिप्त वाण से बींधे हुए मनुष्य की तरह उसकी वेदना का प्रतिकार नहीं हो पाता।

८. जो जेण पगारेणं भावो णियओ तमन्नहा जो तु।
मन्नति करेति वदति व विप्परियासो भवे एसो।। (स० सु० ५६)

जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अन्य रूप से मानता है, करता है अथवा कहता है। यह उसका विपर्यास—मिथ्यात्व है।

६ मिच्छत्तं वेदतो जीवो विवरीयदसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो।।(पंच० सं० १ : ६)

जो जीव मिथ्यात्व का सेवन करता है वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। उसे धर्म वैसे ही रुचिकर नहीं होता, जैसे ज्वरग्रस्त पुरुष को मधुर रस।

१०. जो जहवाय न कुणइ मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना।
वड्ढइ य मिच्छत्तं परस्स सक जणेमाणो।। (स० सु० ७०)

जो तत्त्वो के अनुसार आचरण नहीं करता, उससे बडा मिथ्यादृष्टि अन्य कौन है, वह दूसरो मे शका उत्पन्न करता हुआ अपने मिथ्यात्व को बढाता है।

३. माया शल्य

१ जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदि तव समिद्धो वि।।
(भग० आ० १३८२)

जैसे कोट्याधीश होने पर भी यदि शरीर मे शल्य प्रविष्ट हो तो वह शारीरिक सुख का अनुभव नहीं कर सकता, वैसे ही तप से समृद्ध होने पर भी माया-रूपी शल्य से बींधा हुआ मनुष्य निवृत्ति—मोक्ष-सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

२ पावइ दोस मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि।
सच्चाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि।।
(भग० आ० १३८४)

माया के कारण अल्प अपराध करने पर भी मायावी जीव महान् दोष को प्राप्त होता है। एक माया सहस्रो सत्याचरणो का नाश करती है।

३. माया करेदि णीचागोदं इच्छी णवुंसय तिरियं।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो।। (भग० आ० १३८६)

माया से नीच गोत्र की प्राप्ति होती है। माया से स्त्री, नपुसक और तिर्यञ्च के रूप मे जन्म होता है। माया-दोष के कारण जीव सैकडो जन्मो मे बहुत बार वचना का शिकार होता है।

४. अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो।। (भग० आ० १४३१)

अत्यन्त छिपाए हुए दोष कालातर मे लोग जान लेते है तब माया का प्रयोग करने से कौन-सा लाभ प्राप्त होता है ?

५ पडिभोगम्मि असते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स।
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पापडो होइ।। (भग० आ० १४३२)

भाग्य प्रबल न हो तो हजारो कपट से छिपाया हुआ भी दोष क्षणमात्र में ही प्रगट हो जाता है जैसे चन्द्रमा का राहू द्वारा ग्रसा जाना।

६ जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स।
जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं।।
(भग० आ० १४३३)

जो भाग्यशाली होता है उसका दोष लोगों को मालूम हो जाने पर भी वे उसको दोष रूप मे ग्रहण नहीं करते, जैसे तालाब का जल समल होने पर भी उसे समल नही मानते। (इस स्थिति में मायाचार की आवश्यकता नहीं)।

७ डभसएहिं बहुगेहि सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स।
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो।। (भग० आ० १४३४)

पुण्यहीन मनुष्य द्वारा अनेक दभ-प्रयोग करने पर भी पुण्य के अभाव के कारण उसके हाथ धन नहीं आता। (ऐसी स्थिति मे अर्थ के लिए भी माया करने की आवश्यकता नहीं)।

८ इह य परत्तए लोए दोसे बहुए य आवहइ माया।
इदि अप्पण्णो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया। (भग० आ० १४३५)

माया से इहलोक और परलोक मे बहुत दोष उत्पन्न होते है। यह सोचकर माया का परित्याग करना चाहिए।

४. निदान (फल-कामना) शल्य

१ संजमसिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वढ्ढेइ दीहससारं।।
(भग० आ० १२२०)

जो सयमरूपी शिखर पर आरूढ है, घोर तपरूपी पराक्रम से युक्त है, तीन गुप्तियो से गुप्त है, वह पुरुष भी यदि निदान (फल-कामना) करता है, तो दीर्घ ससार को बढ़ाता है।

२. जो अप्पसुक्खहेदु कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुह।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकीडिसयमोल्लं।।
(भग० आ० १२२१)

जो अल्प वैषयिक सुख के लिए मोक्ष के परमसुख की अवगणना कर निदान करता है वह अनेक कोटि मुद्रा की मूल्य वाली मणि को काकिणि हेतु बेचता है।

३ सो भिदइ लोहत्थं णावं भिदइ मणि च सुत्तत्थं।
छारकदे गोसीर डहदि णिदाणं खु जो कुणदि।। (भग० आ० १२२२)

जो मनुष्य निदान करता है वह लोह की कील के लिए नौका का भेदन करता है, धागे के लिए मणि के टुकडे करता है, भस्म के लिए गोशीर्ष चन्दन को जलाता है।

४ कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण।। (भग० आ० १२२३)

जैसे कोई कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोग नाशक ईख रूपी रसायन को पाकर उसको जलाता है, वैसे ही भोग के लिए निदान करनेवाला मनुष्य सर्व दु ख रूपी रोग का नाश करनेवाले सयम को जलाता है।

५. पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छति।
जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो।।
(भग० आ० १४२४)

मोक्षकामी पुरुष पुरुषत्व, बल, वीर्य आदि का भी निदान करना नहीं चाहता, क्योकि पुरुषत्वादि पर्याय भी भव ही है और भव ससाररूप है।

६ भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कद।
साहोलबो जह अत्थिदो वि णेको वि भोगत्थं।। (भग० आ० १२४२)

भोगो का निदान करने से साधना भोगो के निमित्त ही हो जाती है। जैसे फल की इच्छा से शाखा को पकडकर रखनेवाले यात्री की यात्रा फल के लिए ही हो जाती है।

७ आवडणत्थ जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ।। (भग० आ० १२४३)

जैसे एक बकरे से दूसरे बकरे का पीछे हटना आघात करने के लिए ही होता है, उसी तरह निदानयुक्त (फल की कामना करनेवाला) ब्रह्मचर्य मैथुन के लिए ही होता है।

८. जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो।। (भग० आ० १२४४)

जैसे वणिक् लोभवश लाभ के लिए अपना माल बेचता है, वैसे ही निदान करनेवाला भोगो के लिए धर्मरूपी माल बेचता है।

९. सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
काएण सीवहणं होदि हु णडसमणरूवं व।। (भग० आ० १२४५)

जो निदान करता है वह परिग्रही है, वह अब्रह्मचारी है, क्योकि वह मन से विरत नहीं है। वह केवल शरीर से ही शीलव्रत को धारण करनैवाला है। नट की तरह केवल उसका रूप ही साधक का है।

१०. मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं।।
(भग० आ० १२७४)

जैसे कुएँ के किनारे पर स्थित मनुष्य मधु को ही देखता है, अपने गिरने की ओर ध्यान नहीं देता वैसे ही निदान करनेवाला व्यक्ति भोगो को ही देखता है, दीर्घ संसार (भव-भ्रमण) को नहीं देखता।

११. जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता।
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता।।
(भग० आ० १२७५)

जाल के भय को नहीं जाननेवाली मछलियाँ जैसे जाल के समीप खेलती-कूदती हैं वैसे ही ससारी जीव संसार-भय से रहित होकर परिग्रह मे रमण करते हैं अर्थात् उसका निदान करते हैं।

१२. जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहिं।
तह संसारमदीदि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो।।
(भग० आ० १२७८)

जैसे सूत्र से बँधा पक्षी दूर चले जाने पर भी पुन. अपने स्थान पर आ जाता है वैसे ही यह जीव भी निदान के प्रभाव से महाऋद्धि-सम्पन्न स्वर्गादि स्थान में जाकर पुनः कुत्सित संसार ने भ्रमण करता है।

१३. णच्चा दुरंतमद्धुयमत्ताणमतिप्पयं अविस्सायं।
भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा।। (भग० आ० १२८२)

यह भोग-सुख अन्तरहित दु.ख-रूप फल को देता है, अध्रुव है, रक्षा करने मे असमर्थ है, अतृप्तिकर है, बार-बार प्राप्त होनेवाला है, अत यह जानकर उसकी कामना से विरत हो मोक्ष-सुख मे मति करे।

१४. अणिदाणो य मुणिवरो दसणणाणचरण विसोधेदि।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ।।
(भग० आ० १२८३)

निदान न करनेवाला सयमी पुरुष ज्ञान, दर्शन, चरण की विशुद्धि करता है। ऐसा शुद्ध ज्ञान और चरण से युक्त सत तप से कर्मो का क्षय करता है।

१५ अवगणिय जो मुक्खसुइं कुणइ णिआणं असारसुहहेउं।
सो कायमणिकएण वेरुल्लियमणि पणासेइ।।
(भक्त० परि० १३८)

जो मोक्ष के शाश्वत-सुख की उपेक्षा कर असार सासारिक सुख के लिए निदान करता है, वह मूर्ख कॉच की मणि के लिए वैदूर्य मणि को खोता है।

१. आत्म-प्रशंसा

१. अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि।।

(भग० आ० ३५६)

आत्म-प्रशंसा को हमेशा के लिए छोडो। अपने यश का अपने हाथो विनाश करने वाले मत बनो। अपनी प्रशंसा करता हुआ मनुष्य लोगो मे तृण के समान हल्का होता है।

२. संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।
अकहितस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो।।

(भग० आ० ३६१)

न कहने वाले पुरुष के गुण नष्ट नहीं हो जाते। जैसे अपने तेज का वखान न करने वाले सूर्य का तेज स्वयं ही विश्रुत होता है वैसे ही गुणी के गुण स्वयं प्रकाशित होते हैं।

३. ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव।।

(भग० आ० ३६२)

गुणो का वखान करनेवाले पुरुष मे जो गुण नहीं हैं वे उत्पन्न नहीं हो जाते। स्त्रियो की तरह आचरण करने पर भी नपुंसक नपुसक ही रहता है।

४. संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूणं।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा।।

(भग० आ० ३६३)

सुजन अपने गुणो की लोगो में प्रशसा सुनकर लज्जित होता है, तव वह स्वयं ही अपने गुणो की प्रशसा कैसे कर सकता है ?

५ अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि।
सो चेव होदि हु गुणो ज अप्पणं ण थोएइ।।

(भग० आ० ३६४)

न कहता हुआ गुणहीन मनुष्य भी सज्जनो के बीच गुणवान् होता है। अपनी प्रशसा अपने-आप नहीं करता वही गुण है।

६ वायाए जं कहण गुणाण तं णासण हवे तेसिं।
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासण तेसि।। (भग० आ० ३६५)

वचन से अपने गुणो का कहना उन गुणो का नाश करना है। अपने चरित्र से ही गुणो को कहना उनका उद्भाषण है।

७. वायाए अकहंता सुजणो चरिदेहि कहियगा होति।
विकहितगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव।। (भग०आ० ३६६)

सज्जन अपने गुणो को वाणी से नहीं, चरित्र से कहनेवाले होते हैं। अपने गुणो का स्वय कथन न करनेवाले पुरुष लोक मे ऊँचे उठ जाते है।

८. सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थिंतो।
सगुणो वा अकहितो वायाए होंति अगुणेसु।।
(भग० आ० ३६७)

गुणवान् व्यक्ति गुणवानों के बीच स्वय ही अपने गुणो का बखान करने लगता है तो वह वैसे ही हल्का हो जाता है जैसे गुणहीन लोगो मे अपने वचनो से अपने गुणो को न कहनेवाला गुणवान व्यक्ति।

९. चरिएहिं कत्थमाणो सगुण सगुणेसु सोभदे सगुणो।
वायाए वि कहितो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि।। (भग० आ० ३६८)

अपने गुणो को कार्य से कहता हुआ पुरुष वैसे ही शोभा को प्राप्त होता है जैसे गुणहीन मनुष्य गुणहीन लोगो मे वचनों से अपनी प्रशसा करता हुआ।

१०. जसं कित्ती सिलोग च जा य वदणपूयणा।
सव्वलोगसि जे कामा त विज्ज ! परिजाणिया।। (सू० १, ६ २२)

हे विज्ञ ! यश, कीर्ति, श्लाघा, वदन, पूजन तथा लोक मे जो भी विषय-इच्छा है, उन्हे पतनकारी जानकर उनका विवर्जन कर।

११. पूयणट्ठी जसोकामी माणसम्माणकामए।
बहु पसवई पाव मायासल्ल च कुव्वई।। (द० ५ (२) · ३५)

जो मनुष्य पूजा का अर्थी, यश का इच्छुक और मान-सम्मान की कामना करनेवाला होता है, वह बहुत पाप को उत्पन्न करता है तथा माया-शल्य का सेवन करता है।

१२ अच्चण रयण चेव वन्दण पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं मणसा वि न पत्थए।। (उ० ३५ . १८)

अत साधक अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी अभिलाषा न करे।

२. पर-निन्दा

१. न बाहिरं परिभवे अत्ताण न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा जच्चा तवसि बुद्धिए।। (द० ८ · ३०)

दूसरे का तिरस्कार न करे। अपनी बडाई न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे।

२. आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा।। (भग० आ० ३७०)

परनिदा पापजनक, दुर्भाग्य उत्पन्न करने वाली और सज्जनो को अप्रिय होती है। वह खेद, वैर, भय, दु.ख, शोक और हल्केपन को उत्पन्न करती है।

३ किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।। (भग० आ० ३७१)

जो दूसरे की निदा कर अपने को गुणवानो मे स्थापित करने की इच्छा करता है, वह दूसरो को कडवी औषधि पिलाकर स्वय रोगरहित होना चाहता है।

४. दठ्ठूण अण्णादोस सप्पुरिसो लज्जिओ सय होइ।
रक्खइ य सय दोसं व तय जणजंपणभएण।।(भग० आ० ३७२)

सत्पुरुष दूसरे के दोष को देखकर स्वयं लज्जित हो जाता है। वह दूसरे की निदा के भय से उसके दोष को अपने दोष की तरह छिपाता है।

५ अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लबिदू किह सो जंपिहिदि परदोस।।
(भग० आ० ३७३)

जल मे तैल-बिदु की तरह दूसरे का अल्प गुण भी सत्पुरुष को प्राप्त होकर बहुतर हो जाता है। ऐसा सत्पुरुष दूसरे के दोष को क्या कहेगा ?

३. उपेक्षा धर्म

१ सुकड दुक्कड वा वि अप्पणो यावि जाणति।
ण य णं अण्णो विजाणाति सुक्कटं णेव टुक्कड।। (इसि० ४ १२)

अपने अच्छे या बुरे कर्मो को आत्मा स्वय ही जानता है, किन्तु किसी के अच्छे या बुरे कर्मो को दूसरा व्यक्ति जान नहीं सकता।

२. नरं कल्लाणकारिं पि पावाकारिंति वाहिरा।
पावकारिं पि ते बूया सीलमतो त्ति बाहिरा।। (इसि० ४ १३)

बाहर से देखनेवाले कल्याणकारी आत्मा को भी पापकारी बतला देते हैं और दुराचारी को भी सदाचारी कह डालते है।

३ चोर पि ता पससति मुणी वि गरिहिज्जती।
ण से एत्तावताऽचोरे ण से इत्तवताऽमुणी।। (इसि० ४ १४)

स्थूल-दृष्टि जनता कभी चोर की भी प्रशसा कर डालती है और कभी-कभी मुनि उसके द्वारा गर्हा को प्राप्त होता है, किन्तु इतने मात्र से चोर अचोर नहीं हो जाता और न मुनि अमुनि।

४ णण्णस्स वयणा चोरे णण्णस्स वयणा मुणी।
अप्प अप्पा वियाणाति जे वा उत्तणाणिणो।। (इसि० ४ १५)

किसी के कथनमात्र से कोई चोर नहीं हो जाता और न किसी के कहने मात्र से कोई मुनि। या तो स्वय मनुष्य ही अपने-आप को जानता है या सर्वज्ञ।

५ जइ मे परो पससाति असाधु साधु माणिया।
न मे सा तायए भासा अप्पाणं असमाहितं।। (इसि० ४ १६)

मैं असाधु हूँ और दूसरा साधु मानकर मेरी प्रशसा करता है, पर मेरी आत्मा असयत है तो प्रशसा की भाषा मेरा रक्षण नहीं कर सकती।

६ जति मे परो विगरहाति साधु संत णिरगणं।
ण मे सक्कोसए भासा अप्पाण सुसमाहित।। (इसि० ४ १७)

यदि मै निर्ग्रन्थ हूँ और जनता मेरी अवमानना करती है तो निन्दा की वह भाषा मुझमे आक्रोश नहीं पैदा कर सकती है, क्योकि मेरी आत्मा सुसमाधिस्थ है।

७ जं उलूका पसंसति ज वा निंदति वायसा।
निंदा वा सा पससा वा वायुजालेव्व गच्छती।। (इसि० ४ १८)

उलूक जिसकी प्रशसा करे और कौवे जिसकी निन्दा करे, वह निन्दा और वह प्रशसा दोनो ही हवा की भॉति उड जाती है।

८. जं च बाला पसंसति जं वा णिंदति कोविदा।
णिंदा वा सा पसंसा वा पप्पाति कुरुए जगे।। (इसि० ४ . १६)

अज्ञानी जिसकी प्रशसा करता है और विद्वान् जिसकी निन्दा करता है, ऐसी निन्दा और प्रशसा इस छली दुनिया मे सर्वत्र उपलब्ध है।

६. वदतु जणे जं से इच्छियं किं णु कलेमि उदिण्णमप्पणो।
भावित मम णत्थि एलिसे इति संखाए न सजलामहं।।
(इसि० ४ : २२)

कोई भी जो चाहे वह बोल सकता है। मैं अपने-आप को उद्विग्न क्यो करूँ ? मुझसे वह सन्तुष्ट नहीं है, यह समझकर मैं कुपित नहीं होता।

१०. अक्खोवजणमाताया सीलवं सुसमाहिते।
अप्पणा चेवमप्पाणं चोदितो वहते रह।। (इसि० ४ : २३)

अष्ट प्रवचनमाता रूपी अक्ष से युक्त शीलवान सुसमाहित आत्मा का रथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर चलता है।

११. सीलक्खरहमारूढो णाण-दंसण-सारही।
अप्पणा चेवमप्पाणं जदित्ता सुभमेहती।। (इसि० ४ . २४)

ज्ञान और दर्शन जिसके सारथी हैं, ऐसे शील नाम के रथ पर आरूढ होकर आत्मा अपने द्वारा अपने-आप को जीतता है और शुभ स्थिति को प्राप्त करता है।

: २५ :

संगति

१. संगति-फल

१. दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियग गुणं खु सुजणो वि।
सीयलभाव उदय जह पजहदि अग्गिजोएण।।

(भग० आ० ३४४)

दुर्जन की सगति से सज्जन भी निश्चय ही अपने गुण को वैसे ही छोड देता है जैसे जल अग्नि के सयोग से अपने शीतल स्वभाव को।

२ सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयससिट्ठा।।

(भग० आ० ३४५)

दुर्जन की सगति के दोष से सज्जन भी हल्का हो जाता है, जैसे मोल मे भारी माला मुर्दे के ससर्ग से हल्की हो जाती है।

३ जहदि य णियय दोस पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण।
जह मेरुमल्लियतो काओ णिययच्छवि जहदि।।

(भग० आ० ३५०)

दुर्जन सज्जन की सगति के गुण से अपने दोष छोड देता है, जैसे मेरु का आश्रय ग्रहण करता हुआ कौवा अपने रग को छोड देता है।

४ कुसुमगंधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ।। (भग० आ० ३५१)

जिस प्रकार गध-रहित फूल भी यह देवता की 'शेषा' है, सोचकर सिर पर चढा लिया जाता है, उसी प्रकार सज्जनो के बीच रहनेवाला दुर्जन भी पवित्र हो जाता है।

५. तरुणस्स वि वरेग्ग पण्हाविज्जदि णरस्स बुढ्ढेहि।
पण्हाविज्जड पाइच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण।।

(भग० आ० १०८३)

जैसे जिसका दूध सूख गया है ऐसी भी गाय बछडे के स्पर्श से प्रस्त्रावित हो जाती है, वैसे ही तरुण मनुष्य को ज्ञानवृद्धो की संगति से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

६. वड्ढादे बोही संसग्गेण तध पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा गंधो।। (मू० ६५४)

संगति से ही वोधि की वृद्धि होती है और सगति से ही नष्ट हो जाती है। जेसे कमलादि की गध के ससर्ग से जल शीतल और सुगंधित हो जाता है ओर अग्नि आदि के सबंध से उष्ण तथा विरस।

७. संसग्गितो पसूयंति दोसा वा जइ वा गुणा।
वाततो मारुतस्सेव ते ते गंधा सुहावहा।। (इसि० ३३ : १३)

दोष अथवा गुण ससर्ग से ही पैदा होते हैं। वायु जिस ओर वहती है वहां की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को ग्रहण कर लेती है।

८. संपुण्णवाहिणीओ वि आवन्ना लवणोदधि।
पप्पा खिप्पं तु सव्वा पि पावंति लवणत्तणं।। (इसि० ३३ : १४)

सभी नदियॉ लवण-समुद्र मे मिलती हैं और वहॉ पहुँचते ही सभी अपनी स्वाभाविक मधुरता को छोडकर खारापन प्राप्त कर लेती हैं।

९. समस्सिता गिरिं मेरुं णाणावण्णा वि पक्खिणो।
सव्वे हेमप्पभा होंति तस्स सेलस्स सो गुणो।। (इसि० ३३ : १५)

विविध वर्णवाले पक्षीगण जव सुमेरु पर्वत पर पहुॅचते हे तो सभी स्वर्ण प्रभा युक्त हो जाते है, यह उस पर्वत की ही विशिष्टता है।

१०. सम्मतं च अहिंसं च सम्म णच्चा जितिंदिए।
कल्लाणमित्तसंसग्गिं सदा कुवेज्ज पंडिए।। (इसि० ३३ १७)

जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील साधक सम्यक्त्व और अहिसा को सम्यक् प्रकार से जान कर सदैव कल्याणकारी मित्र का ही साथ करे।

२. संगति-योग्य

१. दुभासियाए भासाए दुक्कडेण य कम्मुणा।
वालमेतं वियाणेज्जा कज्जाकज्ज-विणिच्छए।। (इसि० ३३ : १)

दुर्भाषित वाणी, दुष्कृत कर्म तथा कार्याकार्य के विनिश्चय के द्वारा यह बाल (अज्ञानी) हे, ऐसा समझा जा सकता हे।

२. सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
पंडितं तं वियाणेज्जा धम्माधम्म-विणिच्छए।। (इसि० ३३ : २)

सुभाषित वाणी, सुकृत कर्म और धर्माधर्म के विनिश्चय के द्वारा यह पडित है, ऐसा समझा जा सकता है।

३ दुभासियाए भासाए दुक्कडेण य कम्मुणा।
जोगक्खेम वहत तु उसु वायो व सिंचति।। (इसि० ३३ ३)

दुर्भाषित वाणी और दुष्कृत कर्म के द्वारा जो योगक्षेम का वहन करना चाहता है, वह मानो ईख को वायु से सिचन करता है।

४. सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
पज्जण्णे कालवासी वा जस तु अभिगच्छति।। (इसि० ३३ ४)

सुभाषित वाणी और सुकृत कर्मो के द्वारा मानव समय पर बरसनेवाले मेघ के सदृश यश को प्राप्त करता है।

५. णेव बालेहि संसग्गिं णेव बालेहि सथवं।
धम्माधम्मं च बालेहि णेव कुज्जा कडाइ वि।। (इसि० ३३ · ५)

साधक अज्ञानियो का ससर्ग न करे और न उनसे परिचय ही रखे। उनके साथ धर्मा-धर्म की चर्चा भी कभी न करे।

६. इहेवाऽकित्ति पावेहि पेच्चा गच्छेइ दोग्गति।
तम्हा बालेहि संसग्गि णेव कुज्जा कदावि वि।। (इसि० ३३ ६)

पापो के द्वारा यहाँ भी अपयश मिलता है और बाद मे आत्मा दुर्गति को जाती है। अत साधक अज्ञानी आत्माओ का ससर्ग कभी न करे।

७ साहूहि सगम कुज्जा साहूहिं चैव सथव।
धम्माधम्मं च साहूहि सदा कुव्विज्ज पंडिए।। (इसि० ३३ ७)

साधक साधु पुरुषो का सगम करे और साधु पुरुषो का ही सस्तव करे। प्रज्ञाशील पुरुष धर्म की चर्चा भी साधु पुरुषो के साथ ही करे।

८ इहेव कित्ति पाउणति पेच्चा गच्छइ सोगति।
तम्हा साधूहि ससग्गि सदा कुविज्ज पंडिए।। (इसि० ३३ ८)

सत पुरुषो के सग के द्वारा आत्मा यहाँ पर यश प्राप्त करती है और परलोक मे शुभ गति। अत सदा साधुओ की ही संगति करे।

९ सब्भाववक्कविवस सावज्जारभकारकं।
दुम्मित्तं त विजाणेज्जा उभयो लोगविणासणं।। (इसि० ३३ : ११)

अपने वक्र स्वभाव से विवश होकर सावद्य आरभ करनेवाले को दुर्मित्र समझना चाहिए, क्योकि वह दोनो लोकों का विनाश करता है।

१०. सम्मत्तणिरयं धीरं सावज्जारंभवज्जकं।
तं मित्त सुट्ठु सेवेज्जा उभओ लोकसुहावहं।। (इसि० ३३ : १२)

सम्यक्त्व-निरत, सावद्य आरभ के त्यागी ऐसे धैर्यशील मित्र की भली प्रकार सत्सग करनी चाहिए। उसकी सगति उभय लोक मे सुखप्रद होती है।

: २६ :

सुलभ-दुर्लभ

१. बोधि : दुर्लभ-सुलभ

१. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही।। (उ० ३६ : २५७)

जो जीव मिथ्यादर्शन में रत हैं, जो निदान (फल पाने की कामना) सहित हैं तथा जो हिंसा मे प्रवृत्त हैं—ऐसी स्थिति मे जो जीव मरते हैं उनके लिए पुनः बोधि (सम्यक्त्व) का पाना दुर्लभ है।

२. सम्मदंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरति जीवा सुलहा तेसिं भवे बोही।।[1] (उ० ३६ : २५८)

जो सम्यक्‌दर्शन में अनुरक्त, निदान से रहित और शुक्ललेश्या में प्रतिष्ठित हैं—ऐसी स्थिति में जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि का पाना सुलभ होता है।

३. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही।।[2] (उ० ३६ : २५६)

जो जीव मिथ्यादर्शन में रत, निदान से सहित तथा कृष्णलेश्या में प्रतिष्ठित हैं—इस प्रकार की स्थिति में जो जीव मरते हैं, उन्हे पुनः बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है।

४. जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य।
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया।। (मू० ६०)

जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है,, जिनकी आहारादि की संज्ञाएँ क्रियाशील हैं, जिनके परिणाम वक्र हैं वे जीव असमाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर परलोक मे जाते हैं। वे आराधक नहीं कहे गये हैं।

५. बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति।। (मू० ७३)

जो जीव जिनदेव के वचनों को नहीं जानते वे अनाथ बहुत प्रकार के बाल-मरण करते हुए अनेक अकाम मरणों को प्राप्त होते हैं।

---

१. मू० ७०।

२ मू० ६६।

६. णिम्ममो णिरहकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो।
अणिदाणो दिठिसपण्णो मरंतो आराहओ होइ।। (मू० १०३)

जो ममतारहित है, अभिमानरहित है, कषायरहित है, जितेन्द्रिय है, धीर है, निदान-रहित है और सम्यक्दृष्टि से सम्पन्न है, ऐसा जीव मरता हुआ आराधक होता है।

२. सुगति : सुलभ-दुर्लभ

१. तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स।। (द० ४ : २७)

जिसके जीवन मे तपरूपी गुण की प्रधानता है, जो ऋजुमति है, जो क्षान्ति और सयम मे रत है तथा जो परीषहो को जीतनेवाला है—ऐसे पुरुष के लिए सुगति सुलभ है।

२. सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स।। (द० ४ : २६)

जो श्रमण सुख का स्वादी होता है, सात—सुख के लिए आकुल होता है, जो अकाल मे सोनेवाला होता है और जो हाथ-पैर आदि को वार-वार धोनेवाला होता है—ऐसे साधु के लिए सुगति दुर्लभ है।

३. जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिड्डा ते होंति परित्तसंसारी।।[1] (उ० ३६ : २६०)

जो जीव जिन-वचनो मे अनुरक्त, जिन-वचनो के अनुसार भाव से आचरण करने वाले, मिथ्यात्व-मल और रागादि क्लेशो से रहित हैं, वे परित-ससारी (अल्प जन्म-मरण करनेवाले) होते है।

४. मरणे विरधिदे देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
ससारों य अणतो होइ पुणो आगमे काले।। (मू० ६१)

मरण के समय जो सम्यक्त्व की विराधना करते है, उनकी नीच देवगति होती है और उन्हे बोधि दुर्लभ होती है। ऐसे जीवो के आगामी काल मे अनन्त संसार होता है।

५. जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंते ते होति अणंतसंसारा।। (मू० ७१)

जो गुरुओ के प्रतिकूल है, बहुत मोहवाले है, बडे दोषो का सेवन करनेवाले हैं—ऐसे जीव असमाधिपूर्वक मरण कर अनन्त ससारी होते है।

---

१ मू० ७०।

१. पुण्य-बंध विज्ञान

१. पावेण जणो एसो दुक्कम्मवसेण जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि।। (द्वा० अ० ४७)

कोई भी दुखी मनुष्य पाप तथा दुष्कर्म से दुखी होता है तब भी पाप ही करता है। शुभ योग, ध्यान आदि तप से पुण्य का अर्जन नहीं करता, यह आश्चर्य है।

२ विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो।
उवसमभावे सहिदो णिदणगरहाहि संजुत्तो।। (द्वा० अ० ४८)

सम्यगृदृष्टि, व्रतो से सयुक्त, उपशम भाव से सम्पन्न, स्व-निदा और गर्हा से युक्त ऐसा बिरला ही जीव है, जो शुभ योग से पुण्य का अर्जन करता है।

३. पुण्णजुदस्स वि दीसदि इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोय।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुयभाएण।। (द्वा० अ० ४६)

पुण्य से युक्त पुरुष के भी इष्ट-सयोग देखा जाता है। अभिमान सहित भरत चक्रवर्ती भी छोटे भाई बाहुबली से पराजित हुए।

४ सयलट्ठविसयजोओ बहु पुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं लहदि।। (द्वा० अ० ५०)

समस्त पदार्थ और इन्द्रिय-विषयो का योग बडे पुण्यवानो को भी पूर्ण रूप से नहीं होता है। ऐसा पुण्य किसी के भी नहीं है, जिससे सब ही मनवाछित बाते मिल जाए।

५ पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्ण सुग्गईहेदु पुण्णखएणेव णिव्वाणं।। (द्वा० अ० ४१०)

जो पुण्य को भी चाहता है वह पुरुष ससार को ही चाहता है, क्योकि पुण्य सुगति के बध का हेतु है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से ही होता है।

६. जो अहिलसेदि पुण्ण सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहीमूलाणि पुण्णाणि।।
(द्वा० अ० ४११)

जो कषायसहित होता हुआ विषय-सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उसके विशोधि दूर है और पुण्य विशोधिमूलक है, अतः विशोधि के विना पुण्य नहीं होता।

७. पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह। (द्वा० अ० ४१२)

पुण्य की कामना से पुण्यवंध नहीं होता। निरीह वांछारहित पुरुष के पुण्य होता है, ऐसा जानकर पुण्य में भी आदर वुद्धि मत करो।

८. पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा।। (द्वा० अ० ४१३)

जीव मंदकषायरूप परिणमन करता हुआ पुण्यवंध करता है, इसलिए पुण्यवंध का कारण मंदकषाय है, न कि वांछा।

२. पर्याय-हेतु बोध

१. अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जह्मि काले तक्काले संजदो होदि।। (मू० ६८२)

कषाय का अभाव चारित्र है। जो कषाय के वश में होता है, वह असंयमी हो जाता है। पुरुष जिस समय कषाय का उपशम करता है तब वह संयमी होता है।

२. पच्चयभूदा दोसा पच्चयभावेण णत्थि उप्पत्ती।
पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा वीयं।। (मू० ६८४)

दोष, मोह, राग, द्वेषादिक से उत्पन्न होते हैं। मोह आदि के अभाव में दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। उनके अभाव में दोष निराधार बीज की तरह विनाश को प्राप्त होते हैं।

३. हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति।
तह्मा हेदुविणासो कायव्वो सव्वसाहूहिं।। (मू० ६८५)

हेतु से उत्पन्न दोष हेतु के विनाश को प्राप्त होते हैं। इसलिए सव को हेतुओं का नाश करना चाहिए।

४. जं जं जे जे जोवा पज्जायं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा।। (मू० ६८६)

इस ससार मे जो-जो जीव जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करता है, वह पर्याय वह राग, द्वेष, मोह के वश ग्रहण करता है, यह जानना चाहिए।

५. अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारण जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणतसो सव्वकालह्मि।। (मू० ६८७)

अर्थ, जीवन, आहार और काम के कारण यह जीव आप मरता है और सर्वकाल मे अन्य प्राणियो को भी अनत बार मारता है।

६. जिब्भोवत्थणिमित्त जीवो दुक्ख अणादिससारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जह दाणिं।। (मू० ६८८)

इस अनादि ससार मे इस जीव ने जिह्वा-इन्द्रिय और स्पर्शन-इन्द्रिय के कारण ही अनत बार दु ख पाया है। इसलिए तू जिह्वा और उपस्थ—इन दोनो इन्द्रियो को जीत।

३. कषाय-हेतु बोध

१ जह इधणेहि अग्गी वढ्ढइ विज्झाइ इधणेहि विणा।
गंथहि तह कसाओ वढ्ढइ विज्झाइ तेहि विणा।।
(भग० आ० १६१३)

जैसे आग ईधन से बढती है और ईधन के बिना बुझ जाती है, उसी प्रकार कषाय-रूपी अग्नि परिग्रहरूपी ईधन से बढती है और परिग्रह के न होने से वह बुझ जाती है।

२ जह पत्थरो पडतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पक।
खोभेइ पसंतं पि कसाय जीवस्स तह गंथो।।
(भग० आ० १६१४)

जैसे तालाब मे गिरा हुआ पत्थर प्रशान्त पक को क्षुभित कर देता है, उसी तरह परिग्रह जीव के प्रशान्त कषाय को भी क्षुभित कर देता है।

३ उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा।
गंथफललोलाहिदया णासति हु सजमाराम।।
(भग० आ० १४०३)

सयम का हरण करनेवाला अति चचल और जिसका हृदय परिग्रह-रूपी फल के लिए लोलुप है, ऐसा अनियत्रित कषायरूपी पापी बानर सयम-रूपी बगीचे को नष्ट कर देता है।

४. हिंसा-हेतु बोध

१. अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संततत्तियत्ति मदा।। (प्रव० ३: १६)

श्रमण की सोने, बैठने, खडे होने और चलने आदि मे जो असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति है, वह सदा अखंडित रूप से हिसा मानी गयी है।

२. मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।। (प्रव० ३: १७)

जीव मरे अथवा न मरे अयतनाचार पूर्वक क्रिया करनेवाले साधक के निश्चित रूप से हिसा होती है। जो समितियो से समित है उस अप्रमादी साधक के हिंसा हो जाने मात्र से बध नहीं होता।

३ अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरूलेवो।।
(प्रव० ३ : १८)

जो श्रमण अयतनाचारी है, वह छहो ही कायो के जीवो का घातक माना गया है। किन्तु यदि वह सर्वदा सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करता है, तो जल मे कमल की तरह कर्म- बन्ध-रूपी लेप से रहित रहता है।

४. जद तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि।। (मू० १०१४)

यतना से आचरण करनेवाला, दया पर दृष्टि करनेवाला साधु नवीन कर्मो का बध नहीं करता और पुराने कर्म का क्षय कर डालता है।

५. तम्हा चेड्डिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो।
समिदो हु अण्ण णदियदि खवेदि पोराणयं कम्मं।।[1] (मू० ३३०)

अत हे मुनि। जब गमन आदि करने की इच्छा हो तब तू समिति से युक्त हो, क्योकि जो मुनि समिति से युक्त होता है वह नवीन कर्मो को तो ग्रहण नहीं करता और पुराने कर्मो का क्षय करता है।

---

१ भग० आ० १२०४।

१. त्यागी

१. वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ।। (द० २ : २)

जो वस्त्र, गध, अलंकार, स्त्रियो और पलंग आदि भोग्य पदार्थों का परवशता से अथवा उनके अभाव मे सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता।

२. जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ।। (द० २ : ३)

त्यागी वह कहलाता है जो कांत और प्रिय भोगो के उपलब्ध होने पर भी उन्हे पीठ दिखाता है और स्वाधीनतापूर्वक उनका त्याग करता है।

३. जो परिहरेइ सतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि।
जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियर।।
(द्वा० अ० ३५१)

जो पुरुष विद्यमान वस्तु को छोडता है, उसके व्रत की सुरेन्द्र भी प्रशसा करता है। जो मनमोदक को खाता है—अपने पास नहीं है उस वस्तु का त्याग करता है उसके व्रत तो होता है परन्तु वह थोडा ही लाभ पहुँचानेवाला होता है।

४. जो परिवज्जइ गथं अब्भंतरबाहिर च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणे णिग्गंथो सो हवे णाणी।। (द्वा० अ० ३८६)

जो अभ्यतर और बाह्य दो प्रकार के परिग्रह को, पाप का कारण मानता हुआ आनन्दपूर्वक छोडता है वह निष्परिग्रही ही त्यागी होता है।

५. बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुआ सहावदो होंति।
अब्भंतरगंथ पुण ण सक्कदे को वि छडेदु।। (द्वा० अ० ३८७)

दरिद्र मनुष्य स्वभाव से ही बाह्य परिग्रह से रहित होते हैं, पर इससे वे त्यागी नहीं होते। क्योकि अभ्यन्तर परिग्रह को छोडने मे कोई भी समर्थ नहीं होता है अर्थात् विरले ही समर्थ होते हैं।

२. तीव्र-मंद कषायी

१. सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं , गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता।। (द्वा० अ० ६१)

सव जगह प्रिय वचन, दुर्वचन सुनकर दुर्जन को भी क्षमा करना, सव जीवो के गुण ही ग्रहण करना—ये मदकषायी पुरुष के दृष्टान्त हैं।

२. अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि।। (द्वा० अ० ६२)

अपनी प्रशसा करना, पूज्य पुरुषो मे भी दोष ढूँढने का स्वभाव और वहुत समय तक वैर धारण करना—ये तीव्र कषायवाले पुरुष के चिन्ह हैं।

३. मोक्षार्थी

१. पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिंतरबाहिरओ तवोकम्मंसि उज्जुओ।। (उ० १६ : ८८)

मोक्षार्थी पुरुष पॉच महाव्रतो से युक्त, पाँच समितियो से समित, तीन गुप्तियो से गुप्त और वाह्य और अभ्यन्तर तप-कर्म मे उद्यत होता है।

२. निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।। (उ० १६ : ८६)

वह ममत्वरहित, अहकाररहित, वाह्य और अभ्यंतर सगरहित तथा त्यक्त-गौरव होता है। वह सर्व त्रस और स्थावर प्राणियो के प्रति समभाव रखनेवाला होता है।

३. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ।। (उ० १६ : ६०)

वह लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशसा और मान-अपमान—सब मे सम होता है।

४. गारवेसु कसाएसु दण्डसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ अनियाणो अबंधणो।। (उ० १६ : ६१)

वह गौरव (ऋद्धि, रस, सुख का गर्व), कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ), दण्ड (मन, वचन, काय की दुष्प्रवृत्ति), शल्य (माया, निदान, मिथ्यात्व), भय और हर्ष-शोक से निवृत्त होता है। वह फल की कामना नहीं करता और बन्धन-रहित होता है।

५. अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो य असणे अणसणे तहा।। (उ० १६ : ६२)

वह इहलोक (के सुखो) की इच्छा नहीं करता, न परलोक (के सुखो) की इच्छा करता है। वसूले से छेदा जाता हो या चन्दन से लेपा जाता, आहार मिलता हो या न मिलता हो, वह सब स्थितियो मे सम होता है।

६. अप्पसत्थेहि दारेहिं सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहि पसत्थदमसासणे।। (उ० १६ : ६३)

मोक्षार्थी पुरुष अप्रशस्त द्वार (कर्म आने के हेतु—हिसादि) को चारो ओर से रोक कर अनास्त्रव होता है तथा आध्यात्मिक ध्यानयोग से प्रशस्त जितेन्द्रिय और आत्मानुशासित होता है।

७ सुक्कझाणं झियाएज्जा अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा जाव कालस्स पज्जओ।। (उ० ३५ · १६)

ऐसा मोक्षार्थी शुक्ल ध्यान का अभ्यास करता रहे। जीवन-पर्यन्त फल की कामना न करता हुआ अकिचन और त्यक्त-देह होकर रहे।

८ एव नाणेण चरणेण दंसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहि सम्म भावेत्तु अप्पयं।। (उ० १६ ६४)
निज्जूहिऊण आहारं कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुस बोदि पहू दुक्खे विमुच्चई।। (उ० ३५ : २०)

इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और शुद्ध भावना से आत्मा को भलीभॉति भावित करता हुआ मोक्षार्थी कालधर्म—मृत्यु के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग कर, इस मनुष्य शरीर को छोडकर सर्व दु खों से मुक्त होता है।

६ निम्ममो निरहंकारो वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवल नाणं सासय परिणिव्वुए।। (उ० ३५ . २१)

ममतारहित, अहकाररहित, आस्रवरहित वीतराग पुरुष केवलज्ञान को प्राप्त कर हमेशा के लिए परिनिवृत्त (मुक्त) होता है।

४. वीतराग

१ चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु व वीयरागो।।
(उ० ३२ : २२)

जो चक्षु का ग्रहण—विषय है, उसे रूर कहा गया है। (चक्षु का जो विषय है वह रूप है)। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो रूप द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो मे सम होता है, वह वीतराग है।

२ सोयस्स सद्दं गहणं वयति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ : ३५)

जो श्रोत्र का ग्रहण—विषय है, उसे शव्द कहा गया है। (श्रोत का जो विषय है वह शब्द है)। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो शब्द द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शव्दो मे सम होता है वह वीतराग है।

३ घाणस्स गंध गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ . ४८)

जो घ्राण का ग्रहण—विषय है, उसे गन्ध कहा गया है। (घ्राण का विषय है वह गन्ध है)। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो गन्ध द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धो मे सम होता है, वह वीतराग है।

४ जीहाए रस गहण वयति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ : ६१)

जो जिह्ना का ग्रहण—विषय है, उसे रस कहा गया है। (जिह्ना का जो विषय है वह रस है)। जो रस राग का हेतु होता हे, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो रस द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसो मे सभ होता है वह वीतराग है।

५ कायस्स फास गहण वयति त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीतरागो।।
(उ० ३२ ७४)

जो काय का ग्रहण—विषय है, उसे स्पर्श कहा गया है (काय का विषय है वह स्पर्श है)। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो स्पर्श द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शो मे सम होता है—समान भाव रखता है—वह वीतराग है।

६ मणस्स भाव गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ ८७)

जो मन का ग्रहण—विषय है, उसे भाव कहा गया है। (मन का जो विषय है वह भाव है)। जो भाव राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो भाव द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावो मे सम होता है—समान भाव रखता है—वह वीतराग है।

७. एविदिपत्था य मणस्स अत्था दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख न वीयरागस्स करेति किचि।।
(उ० ३२ . १००)

इस प्रकार इन्द्रियो के और मन के विषय रागी मनुष्य को ही दु ख के हेतु होते है। ये ही विषय वीतराग को कदापि किचित् भी—थोडा भी—दुखी नहीं कर सकते।

८ सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सतो जलेण वा पोक्खरिणीपलास।।
(उ० ३२ ४७)

शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव इनके विषयो मे विरक्त पुरुष शोकरहित होता है। वह इस ससार मे रहता हुआ भी दु ख-समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल से।

९ न कामभोगा समय उवेति न यावि भोगा विगइं उवेति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।।
(उ० ३२ . १०१)

कामभोग—शब्द, रूप आदि विषय समभाव को प्राप्त नहीं कराते—उसके हेतु नहीं हैं और न ये विकार को प्राप्त कराते है—उसके हेतु हैं। किन्तु जो उनमे परिग्रह (राग अथवा द्वेष बुद्धि) करता है, वही उन विषयो मे मोह को प्राप्त होता है।

१० विरज्जमाणस्स य इंदियत्था सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयवा निव्वत्तयंती अमणुन्नय वा।।
(उ० ३२ . १०६)

जो विरक्त है उसके लिए ये सब नाना प्रकार के शब्दादि इन्द्रिय-विषय मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव पैदा नहीं करते।

११ कोह च माणं च तहेव माय लोहं दुगुंछ अरइ रइं च।
हास भय सोगपुमित्थिवेयं नपुसवेयं विविहे य भावे।।
आवज्जई एवमणेगरूवे एवविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से।।
(उ० ३२ · १०२-३)

जो काम-गुणो मे आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुसक-वेद आदि विविध भाव और इसी तरह अन्य विविध रूपो को—विकारों तथा अन्य भी उनसे उत्पन्न विशेष परिणामो को प्राप्त होता है और वह करुणा, दीनता, लज्जा और घृणा के भावो का पात्र बन जाता है।

१२. स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तवेह ज दसणमावरेइ ज चऽतराय पकरेइ कम्मं।।
(उ० ३२ १०८)

जो वीतराग है, वह सर्व कृतकृत्य हो क्षण-मात्र मे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है और इसी तरह से जो दर्शन को ढँकता है उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय कर्म का भी क्षय कर डालता है।

१३ सव्व तवो जाणइ पासए य अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे।।
(उ० ३२ १०६)

तदन्तर वह आत्मा राब कुछ जानती-देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवो से रहित ध्यान और समाधि से युक्त वह विशुद्ध दशा को प्राप्त आत्मा, आयु समाप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त करती है।

१४ सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को जं बाहई सयय जतुमेय।
दोहाभयविप्पमुक्को पसत्थो तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो।।
(उ० ३२ ११०)

फिर वह सिद्ध आत्मा सर्व दु खो से, जो जीव को सतत पीडा देते है, मुक्त हो जाती है। दीर्घ रोग से विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त और सुखी होती है।

५. योगी

१. जो देहे णिरवेक्खो णिद्ददो णिम्ममो णिरारभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।। (मो० पा० १२)

जो योगी शरीर के विषय मे निरपेक्ष (उदासीन) है, निर्द्वन्द्व है, ममत्वरहित है, आरभ-रहित है और आत्म-स्वभाव मे लीन है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

२ जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाण।
जेण लहइ णिव्वाण ण लहइ किं तेण सुरलोयं।। (मो० पा० २०)

योगी को जिनवर भगवान द्वारा बतलाए हुए मार्ग के अनुसार ध्यान मे शुद्ध आत्मा को ध्यान चाहिए। जिस ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, क्या उससे स्वर्गलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती ?

३ मिच्छत्त अण्णाण पाव पुण्ण चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोइ जोयत्थो जोयए अप्पा।। (मो० पा० २८)

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय से त्यागकर योग मे स्थित योगी मौनव्रतपूर्वक आत्मा का ध्यान करता है।

४ ज मया दिस्सदे रूव तण्ण जाणेइ सव्वहा।
जाणग दिस्सदे णत तम्हा जपेमि केण हं।। (मो० पा० २६)

क्योकि वह सोचता है कि जो रूप (शरीर) मैं देखता हूँ वह (अचेतन होने से) कुछ भी नहीं जानता और जो जाननेवाला आत्मा है वह दिखाई नहीं देता, तब मैं किससे बोलू ?

५ सव्वासवणिरोहेण कम्म खवदि सचिद।
जोयत्था जाणए जोई जिणदेवेण भासियं।। (मो० पा० ३०)

योग मे स्थित योगी सब कर्मो के आस्रव को रोककर पूर्व सचित कर्मो का क्षय करता है और फिर (केवलज्ञान होकर) सब भावो को जानता है, ऐसा जिनदेव ने कहा है।

६ जो सुत्तो ववहारे सो जोइ जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।। (मो० पा० ३१)

जो योगी लोक-व्यवहार मे सोता है वह आत्मिक-कार्य मे जागता है, और जो लोक-व्यवहार मे जागता है वह आत्मिक-कार्य मे सोता है।

७. इय जाणिऊण जोई ववहार चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाण जह भणियं जिणवरिंदेणं।। (मो० पा० ३२)

ऐसा जानकर योगी सव प्रकार के व्यवहार को सर्वथा छोड देता है और जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसी प्रकार से परमात्मा का ध्यान करता है।

८. परमप्पयं झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णव कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि।। (मो० पा० : ४८)

परमात्मा का ध्यान करनेवाला योगी कर्मरूपी महामल के ढेर से मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मो को ग्रहण नहीं करता,, ऐसा जिनवर देव ने कहा है।

९. होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पणं परमपयं पावए जाई।। (मो० पा० : ४६)

इस प्रकार चारित्र मे दृढ होकर और मन मे दृढ सम्यग्दर्शन की भावना लेकर आत्मा का ध्यान करनेवाला योगी परमपद मोक्ष को प्राप्त करता है।

१०. उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं।। (मो० पा० : ८१)

ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक मे मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही हूँ, इस भावना से योगी शाश्वत स्थान—मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

११ णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।। (मो० पा० : ८३)

निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा मे आत्मा के द्वारा अच्छी तरह से लीन आत्मा ही सम्यक् चारित्र का पालक योगी है, और वही निर्वाण को प्राप्त करता है।

१२. दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणं दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं।। (मो० पा० : ६५)

बडी कठिनता से आत्मा को जाना जाता है। आत्मा को जानकर उसी मे भावना का होना और भी कठिन है और आत्मा की भावना करनेवाला पुरुष भी कठिनता से ही विषयो से विरक्त होता है।

१३. ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण।। (मो० पा ६६)

जब तक मनुष्य विषयो मे लीन रहता है तब तक आत्मा को नहीं जानता। जिसका चित्त विषयो से विरक्त है वह योगी ही आत्मा को जगनता है।

१४ अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिडति चाउरग विसएसु विमोहिया मूढा।। (मो० पा० . ६७)

विषयो मे विमोहित हुए कुछ मूढ मनुष्य आत्मा को जानकर भी आत्म-भावना से भ्रष्ट होने के कारण चार गतिरूप ससार मे भ्रमण करते है।

१५. जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण सदेहो।। (मो० पा० ६८)

किन्तु जो विषयो से विरक्त है और आत्मा को जानकर आत्मा की भावना भाते हैं, तथा तप और सम्यग्दर्शन आदि गुणो से विशिष्ट है, वे योगी चतुर्गतिरूप ससार को छोड देते हैं, इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है।

६. सम्यग्दृष्टि

१ कि जीवदया धम्मो जण्णे हिसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादि-सका तदकरण जाण णिस्सका।।
(द्वा० अ० : ४१४)

क्या जीवदया धर्म है? अथवा यज्ञ मे पशुओ की हिसा होती है वह धर्म है? इत्यादि रूप सशय होना शका है। ऐसी शका नहीं करना ही निशंका गुण है।

२. दयभावो वि य धम्मो हिसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि सदेहाभावो णिस्सका णिम्मला होदि।। (द्वा० अ० ४१५)

दयाभाव ही धर्म है, हिसाभाव धर्म नहीं कहलाता—ऐसा सदेह का अभाव निर्मल नि शकित गुण है।

३ जो चत्तारि वि पाए छिददि ते कम्मबधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २२६)

जो कर्मबधसबधी मोह को उत्पन्न करनेवाले—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग इन चारो ही पायो को काट डालता है, उस नि शक चैतन्य आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

४ जो सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं।
मुक्ख समीहमाणो णिक्खंखा जायदे तस्स।। (द्वा० अ० ४१६)

जो सम्यग्दृष्टि दुर्द्धर तप से मोक्ष की ही वाछा करता है, स्वर्गसुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता है, उसके नि काक्षित गुण होता है।

५. जो दु ण करेदि कख कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३०)

जो सब कर्मो के फलो मे और सब वस्तुधर्मो मे आकाक्षा नहीं रखता उस आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

६. दहविहधम्मजुदाण सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु।
जं णिंदण ण कीरइ णिव्विदिगिछा गुणो सो हु।। (द्वा० अ० ४१७)

दस प्रकार के धर्म से युक्त मुनि का शरीर स्वभाव से ही दुर्गन्धित और अशुचि होता है। उसकी निन्दा नहीं करना, यही निर्विचिकित्सा गुण है।

७. जो ण करेदि दुगुछ चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३१)

जो आत्मा सभी वस्तुधर्मो के प्रति ग्लानि नहीं करता उस निर्विचिकित्सा गुण के धारण करनेवाले को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

८. भयलज्जालाहादो हिसारभो ण मण्णदे धम्मो।
जो जिणवयणे लीणो अमूढदिट्ठी हवे सो हु।। (द्वा० अ० : ४१८)

जो भय, लज्जा और लाभ से हिसापूर्ण आरंभ कार्यो को धर्म नहीं मानता और जिन-वचनो मे लीन है, वह पुरुष अमूढदृष्टि गुण से युक्त है।

९ जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढादिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३२)

जो चेतन आत्मा सब भावो मे अमूढ है, यथार्थ दृष्टिवाला है, उस अमूढ दृष्टि को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१०. जो परदोसं गोवदि णियसुकय णो पयासदे लोए।
भवियव्वभावणरओ उवगूहणकारओ सो हु।। (द्वा० अ० ४१९)

जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषो को गुप्त रखता है, अपने सुकृत को लोक मे प्रकाशित नहीं करता फिरता तथा जो ऐसी भावना ने लीन रहता है कि जो भवितव्य है वह होता है और वही होगा वह उपगूहण गुण करनेवाला है।

११ जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माण।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३३)

जो आत्मा सिद्धभक्ति से युक्त है और मिथ्यात्व, रागादि विभावरूप धर्मों का उपगूहक—विनाशक है, उस उपगूहनकारी को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१२. धम्मादो चलमाण जो अण्ण सठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाण सुदिढयदि ठिदिकरण होदि तस्सेव।। (द्वा० अ० ४२०)

जो धर्म से विचलित होते हुए दूसरे को, धर्म मे स्थापित करता है और अपने आत्मा को भी सुदृढ करता है, उसके निश्चय से स्थितिकरण गुण होता है।

१३. उम्मग्गं गच्चत सग पि मग्गे ठेवेदि जो अप्पा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३४)

जो आत्मा उन्मार्ग मे जाते हुए अपने को भी मार्ग मे स्थापित करता है, उस स्थितिकरण गुण से युक्त आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१४. जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरण कुणदि परमराद्धाए।
पियवयण जंपतो वच्छल्ल तस्स भव्वस्स।। (द्वा० अ० ४२१)

जो सम्यग्दृष्टि जीव धार्मिको के प्रति भक्तिवान होता है, उनके अनुसार प्रवृत्ति करता है तथा परम श्रद्धा से प्रिय वचन बोलता है, उसके वात्सल्य गुण होता है।

१५. जो कुणदि वच्छलत्त तिण्ह साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३५)

जो मोक्षमार्ग मे स्थित आचार्य, उपाध्ययाय और साधुओ के प्रति वात्सल्यभाव करता है, उस वात्सल्यभाव युक्त आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१६. जो दसभेय धम्मभव्वजणाण पयासदे विमल।
अप्पाण पि पयासदि णाणेण पहावणा तस्स।। (द्वा० अ० ४२२)

जो सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान से दस भेद-रूप विमल धर्म को भव्य जीवो के निकट प्रगट करता है तथा अपनी आत्मा को दस प्रकार के धर्म से प्रकाशित करता है, उसके प्रभावनागुण होता है।

१७. जिणसासणमाहप्प बहुविहजुत्तीहि जो पयासेदि।
तह तिव्वेण तवेण य पहावणा णिम्मला तस्स।। (द्वा० अ० ४२३)

जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अनेक प्रकार की युक्तियो से तथा महान दुर्द्धर तपश्चरण से जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करता है, उसके निर्मल प्रभावना गुण होता है।

१८ विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३६)

जो आत्मा विद्यारूपी रथ मे चढकर मनरूपी रथ के मार्ग मे भ्रमण करता है, उस जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करनेवाले पुरुष को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१६. जो ण कुणदि परतत्तिं पुण पुण भावेदि सुद्धमप्पाणं।
इंदियसुहणिरवेक्खो णिस्संकाई गुणा तस्स।।
(द्वा० अ० ४२४)

जो पुरुष दूसरो की निन्दा नहीं करता, पुन -पुन. शुद्ध आत्मा की भावना करता है तथा जो इन्द्रियसुखो के प्रति निरपेक्ष होता है, उसके नि.शकित आदि आठ गुण होते है।

२० णिस्संकापहुडिगुणा जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे।
जाणेहि जिणमयादो सम्मत्तविसोहया एदे।। (द्वा० अ० ४२५)

ये नि शंकित आदि आठ गुण जैसे धर्म वैसे ही देव, गुरु और तत्त्वो के विषयो में भी लागू होते है। इनको प्रवचन से जानना चाहिए। ये आठ गुण सम्यक्त्व को विशुद्ध करनेवाले हैं।

२१. जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं।। (द्वा० अ० ३१३)

जो सम्यग्दृष्टि होता है वह पुत्र-कलत्र आदि सव अर्थो मे गर्व नहीं करता है। वह उपशम भावो को भाता है तथा अपने को तृण के समान तुच्छ मानता है।

२२. विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि।
मोहविलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं।। (द्वा० अ० ३१४)

अविरत सम्यग्दृष्टि इन्द्रियविषयो मे आसक्त रहता हुआ भी तथा सब आरंभो को करता हुआ भी उन सबको हेय (त्यागने योग्य) मानता है और ऐसा जानता है कि यह मोह का विलास है।

२३. उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसजुत्तो'
साहम्मियअणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो।। (द्वा० अ० ३१५)

जो उत्तम गुण—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप आदि के ग्रहण करने मे अनुरागी होता है, उन गुणो के धारक उत्तम साधुओ के प्रति विनय संयुक्त होता है और साधर्मियों मे अनुरागी होता है वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है।

२४. देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेइ।। (द्वा० अ० ३१६)

यह जीव देह से मिला हुआ है तो भी सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान-गुण से अपने को देह से भिन्न ही जानता है। देह जीव से मिला हुआ है तो भी उसको कॉचली के समान जानता है।

२५ ण म को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयार।
उवयार अवयार कम्म पि सुहासुह कुणदि।। (द्वा० अ० ३१६)

सम्यग्दृष्टि सोचता है—इस जीव को कोई व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी नहीं देते है, न अन्य कोई इस जीव का उपचार करता है। जीव के पूर्व सचित शुभ-अशुभ कर्म ही उपकार-अपकार करते हैं।

२६ भत्तीए पुज्जमाणो वितरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो कि धम्मे कीरदि एव चिंतेइ सद्दिट्ठी।।
(द्वा० अ० ३२०)

सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि यदि भक्ति से पूजा हुआ व्यन्तर देव ही लक्ष्मी को देता है, तो धर्म क्यो किया जाता है ?

२७ एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सो हु कुद्दिट्ठी।। (द्वा० अ० ३२३)

जो निश्चयपूर्वक सर्व द्रव्य और उनकी सब पर्यायो को आगम के अनुसार जानता है वह जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। जो उनमे शका करता है वह प्रगट रूप से मिथ्या दृष्टि है।

२८ सम्माइट्ठी जीवो दुग्गइहेदु ण बधदे कम्मं।
जं बहुभवेसु बद्ध दुक्कम्मं त पि णासेदि।। (द्वा० अ० ३२७)

सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गति के कारण अशुभ कर्म को नहीं बॉधता है और जो अनेक पूर्वभवो मे बॉधे हुए पापकर्म हैं उनका भी नाश करता है।

७. वन्दनीय

१ दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साण।
तं सोऊण सकण्णे दसणहीणो ण वदिव्वो।। (द० पा० २)

जिनवर ने दर्शनमूलक धर्म का उपदेश दिया है। हे सुकर्ण ! उसे सुनकर जो दर्शनहीन है उसकी वन्दना नहीं करनी चाहिए।

२ जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पाडति दंसणधराण।
ते होति लल्लमूआ वोही पुण दुल्लहा तेसि।। (द० पा० १२)

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होने पर भी अन्य सम्यग्दर्शन के धारको को अपने चरणो मे गिराते है—नमस्कार कराते है वे परभव मे लूले और मूक होते है। उन्हे पुन बोधि की प्राप्त दुर्लभ होती है।

३ जे पि पडति च तेसि जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसि पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।। (द० पा० १३)

जो सम्यक्‌दर्शन से युक्त पुरुष उन्हे मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी लज्जा, गौरव और भय के वश हो उनके चरणो मे गिरते हैं उनके बोधि की प्राप्ति नहीं होती, क्योकि वे पाप का अनुमोदन करते हैं।

४. दुविह हि गंथचाय तीसु वि जोएसु सजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ।। (द० पा० १४)

जिनमे बाह्य और अभ्यतर दोनो प्रकार के परिग्रह का परित्याग है, जिनमे मन, वचन और काय तीनो का सयम है, जिनमे ज्ञान है, करणशुद्धि है, भोजन-विशुद्धि हे ऐसे साधु पुरुष दर्शन योग्य है।

५. दसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता।
एदे खु वदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराण।। (मू० ५६६)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन चार विनयो मे जो सदा काल लीन हैं, जो शीलादि गुणो को धारण करनेवाले पुरुषो के गुणों का बखान करनेवाले हैं, वे निश्चय ही वन्दनीय होते है।

६. अस्सजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। (द० पा० २६)

असंयमी को वन्दना नहीं करनी चाहिए। वस्त्रविहीन हो (पर संयमी न हो तो) उसकी भी वदना नहीं करनी चाहिए। दोनो ही संयम-रहित समान हैं। इनमे कोई भी सयमी नहीं।

७. ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणाहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ।। (द० पा० २७)

देह वन्दनीय नहीं होता, न कुल और जाति-सम्पन्न ही वन्दनीय होते हैं। गुणहीन न श्रमण होता है और न श्रावक ही। गुणहीन की कौन वंदना करेगा ?

८. समण वंदेज्ज मेधावी संजतं सुसमाहितं।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमजुगछयं धीरं।। (मू० ५६५)

हे बुद्धिमान ! तू ऐसे श्रमण की वंदना कर जो आचरण मे संयत है, सुसमाहित—ध्यान और अध्ययन मे लीन है, अहिसादि पाच महाव्रतो से युक्त है, असंयम से ग्लानि रखनेवाला है तथा धीर है।

८. स भिक्षु. स पूज्यः

१. निक्खम्ममाणाए बुद्धवयणे निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा।
इत्थीण वस न यावि गच्छे वत नो पडियायई जे न भिक्खू।।
(द० १० १)

जो निष्क्रमण कर—प्रव्रज्या ले—बुद्धपुरुष के वचनो मे सदा समाहित-चित्त होता है, जो स्त्रियो के वशीभूत नहीं होता और जो वमन किए हुए भोगो को पुन ग्रहण नहीं करता—वह भिक्षु है।

२. चत्तारि वमे सया कसाए धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए गिहिजोग परिवज्जए जे स भिक्खू।।
(द० १० ६)

जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायो का सदा परित्याग करता है, जो जिन-वचनो मे धुव्रयोगी (स्थिर-चित्त) होता है, जो निष्किचन है, जो चादी-सोना आदि किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता और जो सदा गृहस्थोचित्त कार्यो का परिवर्जन करता है—वह भिक्षु है।

३. सम्मद्दिट्ठी सया अमूढ़े अत्थि हु नाणे तवे सजमे य।
तवसा धुणइ पुराणपावग मणवयकायसुसवुडे जे स भिक्खू।।
(द० १० ७)

जो सम्यग्दृष्टि है, जो सदा अमूढ है, जो ज्ञान, तप और सयम मे सदा विश्वासी है, जो मन, वचन और शरीर को अच्छी तरह सवृत रखनेवाला है, जो तप द्वारा पुराने पाप-कर्मो को धुन डालता है—वह भिक्षु है।

४. न य वुग्गहिय कह कहेज्जा न य कुप्पे निहुइदिए पसते।
संजमधुवजोगजुत्ते उवसते अविहेडए जे स भिक्खू।।
(द० १० · १०)

जो कलह उत्पन्न करनेवाली कथा नहीं कहता, जो किसी पर क्रोध नहीं करता, जो इन्द्रियो को सदा वश मे रखता है, जो मन से प्रशान्त है, जो सयम मे सदा धुव्रयोगी (स्थिर मन) है, जो कष्ट के समय आकुल-व्याकुल नहीं होता और जिसकी उचित के प्रति उपेक्षा नहीं होती—वह भिक्षु है।

५ असइं वोसट्ठचत्तदेहे अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू।।
(द० १० १३)

जो मुनि बार-बार व्युत्सर्ग करता है, त्यक्तदेह होता है, जो आक्रोश किए जाने, पीटे जाने या घायल किये जाने पर भी पृथ्वी के समान क्षमाशील होता है, जो निदान (फल की कामना) नही करता तथा जो नाच-गान आदि मे उत्सुकता नहीं रखता—वह भिक्षु है।

६. अभिभूय काएण परीसहाइं समुद्धरे जाइपहाओ अप्पय।
विइत्तु जाईमरणं महब्भय तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।।
(द० १० : १४)

जो शरीर से परीषहो को जीतकर, विविध योनिरूप संसार से अपनी आत्मा का समुद्धार कर लेता है, जो जनम-मरण को महा भयंकर जानकर श्रमण-योग्य तप मे रत रहता है—वह भिक्षु है।

७ हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए सजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा सुतत्थं च वियाणई जे स भिक्खू।।
(द० १० . १५)

जो ६.थो से संयत है, पेरो से सयत है, वाणी से सयत है, इनिद्रयो से संयत है, जो आध्यात्म मे रत है, जो आत्मा से सुसमाधिस्थ है और सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है।

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढि च सक्कारण पूयण च चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू।।
(द० १० . १७)

जो अलोलुप है, रसो मे गृद्ध नहीं है, उञ्छ की चर्या करता है, असंयम जीवन की आकाक्षा नहीं करता, ऋद्धि, सत्कार और पूजा की भावना का त्याग करता है तथा जो स्थितात्मा है और मायारहित है—वह भिक्षु है।

९. न परं वएज्जासि अय कुसीले जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न त वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू।।
(द० १० : १८)

प्रत्येक के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा जानकर जो दूसरे को 'यह कुशील है' ऐसा नहीं कहता, जो जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी बडाई नहीं करता—वह भिक्षु है।

१०. न जाइमत्ते न य रूवमत्ते न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू।।
(द० १० · १९)

जो जाति का मद नहीं करता, रूप का मद नहीं करता, लाभ का मद नही करता, श्रुत (ज्ञान) का मद नहीं करता—इस प्रकार सब मदो को विवर्जन कर जो धर्मध्यान मे सदा रत रहता है—वह भिक्षु है।

११ पवेयए अज्जपयं महामुणी धम्मे ठिओ ठावयई पर पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंग न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू।।
(द० १० २०)

जो महामुनि आर्यपदो का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म मे स्थित रह दूसरो को स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुसील-लिग्ड का परित्याग करता है, जो दूसरो को हॅसाने के लिए कुतूहल नहीं क्ररता—वह भिक्षु है।

१२. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएण जो रागदोसेहि समो स पुज्जो।।
(द० ६ (३) . ११)

गुणो से साधु होता है और अगुणो से असाधु। सद्‌गुणो को ग्रहण करो और दुर्गुणो को छोडो। जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेष मे समभाव रखता है—वह पूज्य है।

१३ अन्नायउछ चरई विसुद्ध जवणट्ठया समुयाण च निच्च।
अलद्धुय नो परिदेवएज्जा लद्धु न विकत्थयई स पुज्जो।।
(द० ६ (३) ४)

जो जीवन-यापन के लिए सदा अज्ञात रह—बिना अपना परिचय दिए—विशुद्ध सामुदायिक उञ्छ की गवेषणा करता है, जो न मिलने पर खेद नहीं करता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता—वह पूज्य है।

१४. अलोलुए अक्कुहए अमाई अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा अकोउहल्ले य सया स पुज्जो।।
(द० ६ (३) १०)

जो लोलुप नहीं है, चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, अमायी है, चुगली नहीं करता, वृत्ति मे दीन नही है, जो दूसरो को अकुशल भावना से भावित नहीं करता, न स्वय अकुशल भावना से भावित है और जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

१५ तेसिं गुरूण गुणसागराण सोच्चाण मेहावि सुभासियाइ।
चरे मुणी पचरए तिगुत्तो चउक्कसायावगए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : १४)

जो मेधावी मुनि उन गुणो के सागर गुरुओ के सुभाषितो को सुनकर उनके अनुसार चलता है, पॉच महाव्रतो मे रत होता है, मन, वचन और काय से गुप्त होता है तथा जो क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायो से रहित होता है—वह पूज्य है।

१६ सक्का सहेउं आसाए कंटया अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए वईमए कण्णमए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ६)

उच्च कामना की आशा से मनुष्य लोहे के तीक्ष्ण कॉटो को सहन करने मे समर्थ हो सकता है, किन्तु कानो मे बाणो की तरह चुभनेवाले कठोर वचनरूपी काटो को जो सहन कर लेता है—वह पूज्य है।

१७. समावयंता वयणाभिघाया कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे जिइंदिए जो सहई स पुज्जो।।
(द० ६ (३) . ८)

समूहरूप से आते हुए कठोर वचनरूपी प्रहार कान मे पडते ही दौर्मनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु 'क्षमा करना परम धर्म है' ऐसा मानकर जो इन्हे समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वह क्षमासूरो मे अग्रणी और जितेन्द्रिय पुरुष पूज्य है।

१८ सथारसेज्जासणभत्तपाणे अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा सतोसपाहन्न रए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ५)

जो सस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि के अधिक मिलने पर भी अल्प इच्छावाला होता है और प्रधानत संतोष मे रत होता है—इस प्रकार जो साधु अपनी आत्मा को सदा तुष्ट रखता है—वह पूज्य है।

६. अबहुश्रुत : बहुश्रुत

१ जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खण उल्लवई अविणीए अवहुस्सुए।। (उ० ११ २)

जो कोई निर्विद्य—शास्त्रज्ञानरहित, अभिमानी, क्षुब्ध, अजितेन्द्रिय, बार-बार असम्बद्ध बोलनेवाला और अविनीत होता है, वह अबहुश्रुत है।

२. अह पचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएण रोगेणाऽलस्सएण य।। (उ० ११ ३)

इन पॉच स्थानो (कारणो) से शिक्षा प्राप्त नही होती—मान से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से।

३ अह अट्ठहि ठाणेहि सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दते न य मम्ममुदाहरे।।
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
आकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई।। (उ० ११ : ४, ५)

आठ स्थानो (कारणो) से व्यक्ति को शिक्षाशील कहा जाता है। (१) जो हास्य नहीं करता, (२) सदा इन्द्रियो और मन का दमन करता रहता है, (३) मर्मभेदी बात नहीं कहता, (४) शीलरहित नहीं होता, (५) विषमशील (दोषयुक्त चरित्रवाला) नहीं होता, (६) अति लोलुप नहीं होता, (७) अक्रोधी होता है और (८) सत्यरत होता है, वह शिक्षाशील कहलाता है।

४ वसे गुरुकुले निच्च जोगव उवहाणव।
पियकरे पियंवाई से सिक्ख लद्धुमरिहई।। (उ० ११ · १४)

जो नित्य गुरुकुल मे वास करता है, जो योगयुक्त और तपस्वी होता है, जो प्रिय करनेवाला होता है, जो प्रियवादी होता है, वह शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता है।

५ विणयहीया विज्जा देति फल इह परे य लोगम्मि।
न फलति विणयहीणा सस्साणि व तोयहीणाई।। (स० सु० ४७१)

विनयपूर्वक प्राप्त की गई विद्या इस लोक तथा परलोक मे शुभ फल देती है। विनय-रहित विद्या वैसे ही नहीं फलती जैसे जल बिना धान्य।

६ तम्हा सव्वपयत्ते विणीयत्त मा कदाइ छडेज्जा।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण।। (मू० ५८६)

इसलिए सब प्रकार का प्रयत्न करके विनयभाव को कभी नहीं छोडना चाहिए। अल्पश्रुत पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मो का नाश करता है।

७ जहा सखम्मि पय निहिय दुहओ वि विरायइ।
एव बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुय।। (उ० ११ १५)

जिस प्रकार सख मे रखा हुआ दूध दोनो ओर से सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत भिक्षु मे धर्म, कीर्ति तथा श्रुत दोनो ओर से सुशोभित होते हैं।

८ जहा से तिमिरविद्धंसे उत्तिट्ठते दिवायरे।
जलते इव तेएण एव हवइ बहस्सुए।। (उ० ११ २४)

जिस प्रकार अंधकार का नाश करनेवाला उगता हुआ सूर्य तेज से जाज्ज्वल्यमान होता है उसी प्रकार वहुश्रुत तप-तेज से प्रकाशमान होता है।

९. जहां से सयंभूरमणे उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए।। (उ० ११ : ३०)

जिस प्रकार अक्षय उदकवाला स्वयभूरमण समुद्र विविध प्रकार के रत्नो से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार वहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

१०. तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा उत्तमट्ठगवेसए।
जेणऽप्पाणं परं चेव सिद्धिं संपाउणेज्जासि।। (उ० २१ : ३२)

अत. उत्तम अर्थ की गवेषणा करनेवाला श्रुत का आश्रय ले, जिससे स्वयं को और दूसरो को सिद्धि की प्राप्ति करा सके।

१०. शिष्य : प्राज्ञ और अप्राज्ञ

१ अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नए पण्णो वेस होइ असाहुणो।। (उ० १ : २८)

प्राज्ञ शिष्य गुरु के अनुशासन रूप उपाय और असदाचरण के लिए भर्त्सना को हितकारी मानता है, किन्तु वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

२. हियं विगयभया बुद्धा फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं खंति-सोहिकरं पयं।। (उ० १ : २९)

विगत-भय, बुद्धिमान शिष्य, गुरु के रूक्ष अनुशासन को भी हितकर मानते हैं, किन्तु मूर्खो के लिए वही क्षमा और चित्त-विशुद्धि का हेतु अनुशासन द्वेष का निमित्त बन जाता है।

३. खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासंतो पावदिट्ठि त्ति मन्नई।। (उ० १ : ३८)

पापदृष्टि शिष्य गुरु द्वारा कल्याण के लिए अनुशासित किए जाने पर ऐसा मानता है—मुझे ठोकर मार दी, मुझे चपेटा लगा दिया, मुझ पर आक्रोश किया, मुझे पीटा।

४ पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहु कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठि उ अप्पाण सासं दासं व मन्नई।। (उ० १ . ३९)

विनीत शिष्य सोचता है—मुझे पुत्र, भाई, ज्ञाति मानकर गुरु मुझ पर शासन कर रहे हैं। इस तरह विनीत साधु गुरु के अनुशासन को कल्याणकारी मानता है परन्तु पाप-दृष्टि शिष्य शासित किये जाने पर अपने को दास की तरह सोचने लगता है।

५. अणासवा थूलवया कुसीला मिउं पि चण्डं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयं पि।।
(उ० १ : १३)

गुरु के वचन को न माननेवाले और बिना विचारे बोलनेवाले कुशील शिष्य मृदु स्वभाववाले गुरु को भी क्रोधी कर देते हैं। गुरु के चित्त के अनुसार चलनेवाले और थोडे बोलनेवाले चतुर शिष्य अति क्रोधी गुरु को भी अपने गुणो से प्रसन्न कर लेते हैं।

६ आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए।
इगियागारसपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई।। (उ० १ · २)

गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करनेवाला, उसके समीप रहनेवाला (अथवा शुश्रूषा करनेवाला) तथा गुरु के इगित और आकार को भलीभॉति समझनेवाला शिष्य विनीत कहलाता है।

७. आणाऽनिद्देसकरे गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई।। (उ० १ : ३)

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करनेवाला नहीं होता, उसके समीप नहीं रहता (अथवा शुश्रूषा नहीं करता) तथा जो प्रतिकूल चलनेवाला और बोधरहित होता है, वह अविनीत कहलाता है।

८ दुग्गओ वा पओएणं चोइओ वहई रहं।
एय दुबुद्धि किच्चाण वुत्तो वुत्तो पकुव्वई।। (द० ६ (२) : १६)

जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर ही कार्य करता है।

६ जे यावि चडे मइइड्ढिगारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।
(द० ६ (२) · २२)

जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता, जो अदृष्ट-(अज्ञात-) धर्मा है, जो विनय मे अकोविद है, जो असविभागी है उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

१०. निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया।।
(द० ६ (२) : २३)

और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय मे कोविद हैं, वे इस दुस्तर ससार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

११. प्रव्रज्या

१. गिह-गंथ-मोह-मुक्का वावीसपरीसहाजि अकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४५)

जो घर और परिग्रह के मोह से मुक्त है, जिसमें वाईस परीषहो को सहा जाता है, कषायों को जीता जाता है और जो पापपूर्ण आरम्भ से रहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

२. सत्तू-मित्ते व समा पसंस-णिंदा-अलद्धि-लद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४७)

जिसमें शत्रु और मित्र के विषय मे समभाव है, प्रशंसा और निन्दा तथा लाभ और अलाभ में समभाव है, तृण और कंचन में समभाव है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

३. उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खो।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४८)

जिसमें मुनि उत्तम और मध्यम घर मे तथा दरिद्र और धनवान मे भेद न करके निरपेक्ष भाव से सर्वत्र आहार ग्रहण करता है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

४. णिग्गंधा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४९)

जो परिग्रहरहित है, आसक्तिरहित है, मान-मदरहित हे, आशारहित है, रागरहित है, दोषरहित है, ममत्वरहित है ओर अहंकाररहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

५. णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(बो० पा० ५०)

जो स्नेहरहित है, लोभरहित है, मोहरहित हे, विकाररहित है, भयरहित है, कालिमारहित है, आशा-भाव से रहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

६ उवसम-खम-दमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा।
मय-राय-दोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(बो० पा० ५२)

जो उपशम (शान्त भाव), क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह सहित है, जिसमे शरीर का सस्कार नहीं किया जाता, तैल-मर्दन नहीं किया जाता और जो मद, राग तथा द्वेष से रहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

७. विवरीयमूढभावा पणट्ठ-कम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ५३)

जो मूढभाव--अज्ञानता से रहित है, जिसके द्वारा आठो कर्म नष्ट कर दिए जाते हैं, जिसमे मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और जो सम्यग्दर्शन गुण से निर्मल है, उसे प्रव्रज्या कहते है।

८ तिलओसत्तणिमित्त समबाहिरगंथसगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहि।। (बो० पा० ५५)

जिसमे तिल बराबर भी आसक्ति मे कारणभूत बाह्य परिग्रह का सग्रह नहीं है, उसे प्रव्रज्या कहते है, जैसा कि सर्वज्ञ देव ने कहा है।

९ पसु-महिल-संढसग कुसीलसग ण कुणइ विकहाओ।
सज्झाय-झाण-जुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।
(बो० पा० ५७)

जिसमे पशु, स्त्री, नपुसक की सगति और व्यभिचारियो की सगति नहीं की जाती और न स्त्री आदि की खोटी कथाएँ की जाती हैं तथा जिसमे स्वाध्याय और ध्यान मे तन्मय होना होता है, उसे प्रव्रज्या कहते है।

१० तव-वय-गुणेहि सुद्धा सजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहि सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ५८)

जो तप, व्रत और गुणो से शुद्ध है, सयम और सम्यक्त्व गुण से अत्यन्त निर्मल है तथा शुद्ध गुणो से शुद्ध है, उसे प्रव्रज्या कही गई है।

: २६ :

स्वगत-चिन्तन

१. आत्मा और चिन्तन

१. सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनियचित्तो।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि।।

(आव० ४ : ३)

धर्म मे स्थिर-चित्त होकर मैं भावपूर्वक—अन्त करण से सब जीवो से अपने अपराधों की क्षमा चाहता हूँ। अपनी ओर से मैं उनके अपराधो को क्षमा करता हूँ।

२. खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएस वेरं मज्झं न केणइ।। (आव० ४ : ५)

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे भी क्षमा करे। मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है, किसी के भी साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है।

३. सम्मं सव्वभूदेसु वेर मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ताण समाहिं पडिवज्जए।। (मू० ४२)

सब प्राणियों के प्रति मेरे मन मे साम्य है, किसी के प्रति वैर-भाव नहीं है। आशा-तृष्णा का परित्याग कर मैं समाधि को अंगीकार करता हूँ।

४. रायवंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदि च वोसरे।। (मू० ४४)

साम्य की साधना के लिए मैं स्नेह-बंधन, द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति और अरति का परित्याग करता हूँ।

५. ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।।[1] (मू० ४५)

मैं निर्ममत्व में उपस्थित हो ममत्व का विसर्जन करता हूं। (साधना-पथ मे) मेरी आत्मा ही मेरा आलम्बन है। शेष सबका परित्याग करता हूँ।

६. आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए।। (मू० ४६)

---

१. भा० पा० ५७, नि० सा० ६६।

मेरी आत्मा मेरे ज्ञान मे है, मेरी आत्मा मेरे दर्शन म है, मेरी आत्मा मेरे चारित्र मे है, मेरी आत्मा मेरे प्रत्याख्यान मे है, मेरी आत्मा मेरे सवर मे है तथा मेरी आत्मा मेरे योग मे है—अत इसका त्याग कैसे कर सकता हूँ।

७. एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरण एओ सिज्झइ णीरओ।। (मू० ४७)

यह जीव अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मता है। इस अकेले के ही जन्म-मरण होते है। सर्व कर्म-रज से रहित हो अकेला ही जीव सिद्ध (मुक्त) होता है।

८. एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। (मू० ४८)

ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला एक मेरा आत्मा ही नित्य है। शेष शरीरादिक मेरे बाह्यभाव है। वे सयोग लक्षणवाले है—आत्मा के सम्बन्ध से उत्पन्न है, अत वे विनाशशील है।

६ सजोयमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरपरा।
तम्हा सजोगसबध सव्व तिविहेण वोसरे।। (मू० ४६)

इस जीव ने परद्रव्य के साथ सयोग के निमित्त से हमेशा दु ख-परम्परा को प्राप्त किया। इसलिए सब सयोग-संबध को मन, वचन, काया—इन तीनो से छोडता हूँ।

१० अस्सजममण्णाण मिच्छत्त सव्वमेव य ममत्ति।
जीवेसु अजीवेसु य त णिदे त च गरिहामि।। (मू० ५१)

असयम, अज्ञान, मिथ्यात्व और जीव तथा अजीवपदार्थो मे ममत्व—ऐसे सब भावो की मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

११ णिदामि णिंदणिज्ज गरहामि य ज च मे गरहणीय।
आलोचेमि य सव्व सब्भतरबाहिर उवहि।। (मू० ५५)

मै निन्दनीय की निन्दा करता हूँ। गर्हणीय की गर्हा करता हूँ। मै अभ्यन्तर और बाह्य सर्व उपधि—परीग्रह की आलोचना करता हूँ।

१२ जह बालो जप्पतो कज्जमकज्ज च उज्जय भणदि।
तह आलोचेदव्व माया मोस च मोत्तूण।। (मू० ५६)

जैसे बालक बोलता हुआ कार्य-अकार्य को सरल वृत्ति से कहता है, उसी तरह माया तथा असत्य को छोडकर आलोचना करना उचित है।

१३. णाणम्हि दसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो।
धीरो आगमकुसलो अपररसावी रहस्साणं।। (मू० ५७)

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चार आचार मे अकंप (दृढ) हो, जो धीर, आगम-कुशल और रहस्य मे की गयी आलोचना को प्रगट करनेवाला नहीं हो उसी के पास आलोचना करनी चाहिए।

१४. रागेण व दोसेण व जं मे अकदण्हुयं पमादेण।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्व खमावेमि।। (मू० ५८)

राग अथवा द्वेष के वश मैंने कोई अकृतज्ञता की हो अथवा प्रमाद के कारण मैंने किसी को अनुचित कहा हो तो मैं उन सब से क्षमा चाहता हूँ।

१५ जं जं मणेण वद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं।
जं जं कएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स।।
(पंच० प्र० संथारा सूत्र)

मैंने जो-जो पाप मन से विचारे हैं, वाणी से बोले है और शरीर से किए हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो।

२. मृत्यु-भय और चिन्तन

१. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुवंधीणी।। (मू० ७४)

शस्त्र-घात, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश और जल-प्रवेश द्वारा अथवा अनाचार उत्पन्न करनेवाली वस्तु के सेवन द्वारा होनेवाले मरण, जन्म और मृत्यु की परपरा को वढाने-वाले होते हैं।

२. अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव।। (भा० पा० ३२)

हे जीव ! इस संसार मे तू पहले अनेक जन्मांतरो मे कु-मरण से मरा है। अव तो जरा और मरण के विनाश करनेवाले सु-मरण की भावना कर।

३. लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयणसुभासिदं अमिदभूदं।
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स वीहेमि।। (मू० ६६)

मुझे अलव्धपूर्व सुभाषित और अमृततुल्य जिन-वचन प्राप्त हुआ है। मैंने इसके प्रभाव से मोक्ष-मार्ग को ग्रहण किया है। अव मैं मरण से नहीं डरता।

४ धीरेण वि मरिदव्व णिद्धीरेणवि अवस्स मरिदव्व।
जदि दोहि वि मरिदव्व वर हि धीरत्तणेण मरिदव्व।। (मू १००)

धीर पुरुष भी मरता है और अधीर पुरुष भी अवश्य मरता है। जब दोनो ही मृत्यु को प्राप्त होते है, तब मेरे लिए श्रेष्ठ यही है कि धैर्य के साथ मरूॅं।

५. सीलेणवि मरिदव्व णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्व।
जइ दोहिवि मरियव्व वर हु सीलत्तणेण मरियव्व।। (मू० १०१)

शील से सम्पन्न मनुष्य भी मरता है और शीलरहित मनुष्य भी अवश्य मरता है। जब दोनो ही मृत्यु को प्राप्त होते है, तब मेरे लिए श्रेष्ठ यही है कि शील-सहित मृत्यु को वरण करूॅं।

६ जा गदी अरिहंताणं णिट्ठिदट्ठाण जा गदी।
जा गदी वीनमोहाण सा मे भवदु सस्सदा।। (मू० १०७)

जो गति अर्हतो को प्राप्त हुई है, जो गति सिद्धो को प्राप्त हुई है, जो गति वीतरागो को प्राप्त हुई है वही शाश्वत गति मेरी भी हो।

: ३० :

साधक-चर्या

१. हित-मित आहार

१. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।
(उ० ३२ : १०)

रसों का अधिक मात्रा मे सेवन नहीं करना चाहिए। रस प्राय· मनुष्यो की धातुओ को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

२. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई।।
(उ० ३२ : ११)

जेसे पवन के झोको के साथ प्रचुर ईंधन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, उसी प्रकार ठूँस-ठूँसकर खाने वाले पुरुष की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती। इसलिए अति भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

३. ण वलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो।। (मू० ४८१)

साधक वल के लिए, आयु के लिए, स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि के लिए, तेज के लिए भोजन नहीं करते, किन्तु वे ज्ञान के लिए, सयम के लिए तथा ध्यान के लिए ही भोजन करते हैं।

४. जमणट्ठं भुंजंति य णवि य पयामं रसट्ठाए। (मू० ८१०)

साधक स्वाध्याय में प्रवृत्ति के लिए आवश्यक हो उतना मात्र ही आहार करते हैं, स्वाद के लिए वहुत आहार नहीं करते।

५. सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सुणिद्ध सुद्धं वा।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं।। (मू० ८१४)

ज्ञानी ठण्डा, गर्म, सूखा, रूखा, स्निग्ध, शुद्ध, नमक सहित अथवा बिना नमक का आहार स्वाद न लेते हुए खाता है।

६. अक्खोमक्खणमुत्त भुजति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाण धम्मणिमित्त धम्मपि चरंति मोक्खट्ठं।। (मू० ८१५)

गाडी की धुरी को चुपडने के समान प्राणो के धारण के निमित्त ही ज्ञानी आहार करते हैं। वे प्राणो को धर्म के निमित्त और धर्म को मोक्ष के निमित्त धारण करते हैं।

७ पणीय भत्तपाण च अइमाय पाणभोयण।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स विस तालउड जहा।। (उ० १६ १२, १३)

स्निग्ध, रसदार भक्त-पान तथा अति मात्रा मे भक्त-पान आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष की तरह होता है।

८ पणीय भत्तपाण तु खिप्प मयविवड्ढण। (उ० १६ . ७)
साधक के लिए विषय-विकार को शीघ्र बढानेवाला प्रणीत भक्त-पान वर्जनीय है।

२. निद्रा-जय

१. णिद्दं जिणेहि णिच्च णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि।
वट्टेज्ज हू पसूतो समणो सव्वेसु दोसेसु।। (मू० ६७२)

तू सदा निद्रा को जीत। निन्द्रा जीव को अचेतन करती है। प्रसुप्त मनुष्य सब दोषो मे वर्तन करता है।

२ जदि अधिवाधिज्ज तुम णिद्दा तो त करेहि सज्झाय।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणव सवेगणिव्वेग।।
(भग० आ० १४४०)

यदि निद्रा तुम्हे सतावे तो तू स्वाध्याय कर, सूक्ष्म अर्थो का विचार कर, सवेग और निर्वेद उत्पन्न करनेवाली कथाओ को सुन।

३ पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं।
एदाण तुम तिण्णिवि जागरणत्थ णिसेवेहि।।
(भग० आ० १४४१)

प्रीति, भय और शोक इनमे से कोई भी होने पर निद्रा नहीं आती है। अत निद्रा को जीतने के लिए तू प्रीति आदि का सेवन कर।

४ भयमागच्छसु ससारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि।
सोगं च पुरादुच्चरिदादो णिंद्दाविजयहेदुं।। (भग० आ० १४४२)

निद्रा-विजय के लिए तू संसार से भययुक्त हो, उत्तमार्थ—रत्नत्रय की आराधना मे प्रीतियुक्त हो और पूर्वकृत पापो के विषय मे मन में शोक कर।

५ जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कमं सदा उत्तो।
झाणेण विणा बंज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो।। (भग०अ० १४४३)

जागरण के लिए इत्यादिक उपर्युक्त क्रम तू सदा सावधानीपूर्वक कर। ध्यान के बिना एक समय भी नष्ट करना योग्य नहीं।

६. संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहि।
सोदुं ण खमो अहिमणपणीय सोदुं व सघरम्मि।।

(भग० आ० १४४४)

ससाररूपी जंगल मे से निकलने की इच्छा रखनेवाले पुरुप का दोपो को विना दूर किये ही सोना योग्य नहीं है। क्या सर्प को घर मे से वाहर निकाले विना ही सोना योग्य है ?

७ को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे।
पज्जलिदम्मि व णाणि घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज।।
(भग० आ० १४४५)

मरणादि-रूप अग्नि से प्रज्वलित इस लोक मे कोन उद्वेग-रहित है ? कौन ज्ञानी पुरुष अग्नि से घर प्रज्वलित होने पर सोने की इच्छा करेगा ?

८. को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेषु।
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारे व सत्तूणं ।।
(भग०आ० १४४६)

जिन्होने हाथो मे शस्त्र धारण कर रखे हैं उन अनेक शत्रुओ के बीच कौन निर्भय रह सकता है ? रागादि दोषो मे शात न होने की अवस्था में कौन निश्चित होकर सोयेगा ?

९. णिद्दा तमस्स सरिसी अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साण।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झणस्स विग्घयरी।।
(भग० आ० १४४७)

मनुष्यो के लिए निद्रारूपी अधकार के समान जगत् मे अन्य कोई अधकार नहीं है। ऐसा समझकर ध्यान मे विघ्न डालनेवाली इस निद्रा को तुम जीतो।

३. समभाव

१. चरण हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्य अणण्णपरिणामो।। (मो० पा० ५०)

चरित्र ही स्व-धर्म है। आत्मसम-भाव—सर्व जीगे के प्रति आत्म्वत भाव ही धर्म है। राग-द्वेष रहित जीव का अनन्य परिणाम समभाव है।

२ जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्ण सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अण्णविहो।।
(मो० पा० ५१)

जैसे स्फटिक मणि विशुद्ध होने पर भी पर द्रव्य से युक्त होने पर अन्य हो जाता है वैसे ही रागादि से युक्त जीव अन्य प्रकार का होता है।

३ सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभाव।
(भग० आ० १६८३)

साधक शरीर आदि सब वस्तुओ मे ममत्वरहित हो सर्वत्र समभाव प्राप्त करता है।

४. सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्च ममत्तिदो विजडो।
णिप्पणयदोसमोहो उबेदि सव्वत्थ समभाव।।
(भग० आ० १६८४)

सर्व द्रव्य और उनके पर्याय-भेदो मे साधक सदा ममतारहित होता है। वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र समताभाव धारण करता है।

५. संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु।
रदि अरदि उस्सुगत्त हरिसं दीणत्तण च तहा।।
(भग० आ० १६८५)

वह सयोग-वियोग मे, इष्ट-अनिष्ट मे, रति, अरति, उत्सुकता, हर्ष और दीन-भाव का त्याग करता है।

६ मित्तेसुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि।
रागं वा दोस वा पुव्वं जायपि सो जहइ।। (भग०आ० १६८६)

मित्र, स्वजन आदि शिष्य और साधार्मिक के प्रति जो भी राग-द्वेष हुआ हो उसका वह त्याग करता है।

७ भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पच्छण खवओ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति।। (भग०आ० १६८७)

साधक देव और मनुष्य के भोगो की अभिलाषा नहीं करता है। यह विषयेच्छा मुक्तिमार्ग की विराधक कही कई है, अत उसका त्याग करता है।

८. इट्ठेंसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु।
इहपरलोए जीविदमणे माणावमाणे च।। (भग० आ० १६८८)

इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श विषयो मे, इहलोक और परलोक मे, जीवित और मरण मे, मान और अपमान मे साधक सम भाव रहता है।

६. सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रोगरोसरहिदप्पा।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विराधेति।। (भग०आ० १६८६)

राग-द्वेष उत्तमार्थ का विनाश करते हैं, अत साधक की आत्मा सर्वत्र राग-द्वेष रहित होती है।

१० एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि।। (भग०आ० १६६५)

इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुओ मे समता भाव को प्राप्त विशुद्ध अत करण वाला साधक मैत्री, प्रनोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना को प्राप्त करता है।

४. कष्ट और चिन्तन

१ कण्णसोक्खेहिं सद्देहि पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासए।। (द० ८ : २६)

मुमुक्षु कानो को प्रिय लगने वाले शब्दों मे प्रेम न करे तथा दारुण और कर्कश स्पर्शों को काया से समभावपूर्वक सहन करे।

२. खुहं पिवास दुस्सेज्जं सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्विहिओ देहे दुक्खं महाफलं।। (द० ८ : २७)

क्षुधा, प्यास व दु शय्या, सर्दी, गर्मी, अरति, भय—इन सव कष्टो को मुमुक्षु अव्यथित चित्त से सहन करे। समभाव से सहन किए गये दैहिक कष्ट महाफल के हेतु होते हैं

३. ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोगंसि पाणिणो।
एवं सहिएऽहियासए, अणिहे से पुट्ठेऽहियासए।।
(सू० १, २ (१) : १३)

ज्ञानी इस प्रकार देखे—"मैं ही इन सव कष्टो से पीडित नहीं हूँ, परन्तु लोक मे अन्य प्राणी भी इनसे पीडित होते हैं" ऐसा सोचकर कष्ट पडने पर वह उन्हे अम्लान मन से सहन करे।

४ अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए।। (सू० १, ६ ३०)

उदार भोगो के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु, यत्नपूर्वक सयम मे रमण करे। धर्मचर्या मे अप्रमादी हो और कष्ट आ पडने पर अदीन भाव से—हर्षपूर्वक सहन करे।

५ अह ण वत्तमावण्ण फासा उच्चावया फुसे।
ण तेहि विणिहण्णेज्जा वातेण व महागिरी।। (सू० १, ११ ३७)

जिस तरह महागिरि वायु के झोके से कपित नहीं होता, उसी तरह व्रतप्रतिपन्न पुरुष सम-विषम, ऊँच-नीच, अनुकूल-प्रतिकूल परीषहो के स्पर्श करने पर धर्म-च्युत नही होता।

६ जइ उपज्जइ दु.ख तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये।
कदम मए ण पत्त ससारे ससरतेण।। (मू० ७८)

यदि दु ख उत्पन्न हो तो नरक के स्वरूप का चितन करना चाहिए। 'जन्म-जरा-मरण रूप ससार मे भ्रमण करते हुए मैंने कौन से दु ख नहीं पाये'—ऐसा सोचना चाहिए।

७ रिणमोयण व मण्णइ जो उवसग्ग परीसह तिव्व।
पावफल मे एद मया वि जं संचिद पुव्व।। (द्वा० अ० ११०)

जो पुरुष उपसर्ग तथा तीव्र परीषह को ऋण की तरह मानता है वह जानता है—"उपसर्ग मेरे द्वारा पूर्वजन्म मे सचित किए गये पाप कर्मो का फल है।"

८ रोगादके सुविहिद विउल वा वेदण धिदिबलेण ।
तमदीणमसमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स।।(भग०आ० १५१५)

तू दीनभाव को छोडकर मोह का त्याग करते हुए व्याधियो को तथा विपुल वेदना को धैर्य के बल से जीत। चरित्र के शत्रु—राग-द्वेष आदि को भी जीत।

६ मेरुव्वं णिप्पकपा अक्खोभा सागरुव्व गभीरा।
धिदिवतो सप्पुरिसा हुति महल्लावईए वि।। (भग०आ० १५३६)

बडी आपत्ति आने पर भी धैर्ययुक्त सत्पुरुष मेरु के समान निश्चल—अकप रहते हैं और समुद्र के समान क्षेत्ररहित होते है।

१० सखेज्जमसखेज्ज काल ताइ अविस्समतेण।
दुक्खाइं सोढाइं कि पुण अदिअप्पकालमिम।। (भग०आ० १६०३)

नरकादि गतियो मे तुझे सख्यात-असख्यात काल तक निरन्तर दु ख भोगना पडा। वह भी तूने भोगा। आज का दु ख तो अत्यन्त अल्प है और वह अतिशय अल्पकाल-पर्यन्त ही रहनेवाला है।

११. जदि तारिसाओ तह्मे सोढाओ वेदणाओ अवसेण।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज।।
(भग० आ० १६०४)

ऐसी घोर वेदनाएँ भी तुमने परवशता मे सही हैं तब अपने-आप अगीकार किए हुए इन कष्टो को सहना धर्म है ऐसा मानकर स्वेच्छा से उन्हे सहन करना क्या शक्य नहीं ?

१२. पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं।
सुठ्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरिवाणी वि।। (भग०आ० १६१०)

पाप कर्म के उदय से अतिशय सामर्थ्ययुक्त उत्तम औषधियॉ भी मनुष्य की वेदना का उपशम करने मे असमर्थ होती हैं।

१३ रायदिकुडुंवीणं अदयाए असंजमं करताण।
धण्णंतरी कि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं।। (भग०आ० १६११)

राजादि के कुटुम्बी तथा धन्वतरि वैद्य भी, असंयम और दया की उपेक्षा करते हुए भी, कर्मोदय से उत्पन्न राजा की वेदना का उपशमन करने मे समर्थ नहीं होते।

१४. कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे ।
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं।।
(भग० आ० १६२१)

जगत् मे कर्म अतिशय बलवान होते हैं। उनसे बलवान जगत् ने अन्य कुछ नहीं है। जैसे हाथी नलिनी के वन का नाश कर देता है वैसे ही कर्म सब बलो का नाश कर देते हैं।

१५. इच्चेवं कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुठ्ठु पाऊण।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि।। (भग०आ० १६२२)

इस प्रकार कर्म का उदय दुर्निवार है, ऐसा समझकर स्वकीय कर्म का उदय होने पर तू मन मे दुःखित मत हो।

१६ हदमाकासं मुठ्ठीहि होइ तह कडिया तुसा होति।
सिगदाओ पीलिदाओ धूसिलिदभुदयं च होइ जहा।।
(भग० आ० १६२५)

जैसे आकाश को मुट्ठियो से मारना, तदुलो के लिए भूसा कूटना, तैल के लिए बालू को यत्र से पीसना, घी के लिए जल का मथन करना व्यर्थ है वैसे ही दु ख निवारण के लिए शोक, विषाद आदि करना व्यर्थ है।

१७ किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्से णिव्वुदि पुरिसो।
हत्थीहि अतीर त मतु भुजिहिदि किह ससओ।।
(भग० आ० १६१६)

जब देव भी पुरुष के दु ख को नष्ट करने मे असमर्थ है तो अन्य पुरुष कर्म उदय को प्राप्त मनुष्य की वेदनाओ को शात करने मे समर्थ कैसे हो सकते है ? जिस वृक्ष को गिराने मे महाबली हाथी असमर्थ है उसे शशक कैसे गिरा सकेगा ?

१८ पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्तिय दव्व।
को धारणीओ धणिदस्य देतओ दुक्खिओ होज्ज।। (भग० आ० १६२६)
तह चेव सय पुव्व कदस्स कम्मस्य पाककालम्मि।
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणता।।
(भग० आ० १६२७)

जैसे कोई पुरुष धनिक से ऋण लेकर धन का उपयोग करता है और जब वह धनिक यथासमय उससे धन लेता है तब क्या वह पुरुष खिन्न होता है ? उसी प्रकार पूर्वजन्म मे किये हुए स्व-कर्मो के न्याय प्राप्त फलदान के समय कौन ज्ञानी पुरुष दु खी होगा।

१६ इय पुव्वकद इण मज्ज मह कम्माणुगत्ति णाऊण।
रिणमुक्खण च दुक्ख पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज।।
(भग० आ० १६२८)

जो दु ख मे इस समय भोग रहा हूँ वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है। दु ख भोग रहा हूँ यह तो मै ऋण-मोक्ष कर रहा हूँ, ऐसा मन मे चितन करता हुआ तू दु खी मत हो।

: ३१ :

भावनायोग

भावना और शुद्धि

१ तहिं तहिं सुयक्खायं से य सच्चे सुआहिए।
सदा सच्चेण संपण्णे मेत्तिं भूतेसु कप्पए।। (सू० १, १५ . ३)

वीतराग पुरुष ने भिन्न-भिन्न स्थानो मे भावो का भलीभॉति कथन किया है, वही सत्य है और सुभाषित है। सदा सत्य से सम्पन्न मनुष्य सव जीवो के प्रति मैत्री-भाव का आचरण करे।

२. भूतेसु ण विरुज्सेज्ज एस धम्मे वुसीमओ।
वुसीमं जगं परिण्णाय अस्सि जीवियभावणा।। (सू० १, १५ : ४)

मनुष्य किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध-द्वेष न करे। यही सयमी पुरुष का धर्म है। सयमी पुरुष जगत् को अच्छी तरह समझकर धर्म मे कथित भावनाओ (एकान्त निश्चित सत्यो) की आराधना करे।

३ भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसंपण्णा सव्वदुक्खा तिउट्टति।। (सू० १, १५ ५)

भावना योग से शुद्ध आत्मा जल मे नाव की तरह कही गयी है। तीर को प्राप्त नाव की तरह उक्त आत्मा सर्व दु खो से मुक्त हो जाती है।

४ से हु चक्खू मणुस्साणं जे कंखाए य अतए।
अंतेण खुरो वहती चक्क अतेण लोट्टति।।
अताणि धीरा सेवंति तेण अंतकरा इहं।
इस माणुस्सए ठाणे धम्मारमाहिउ णरा।।
(सू० १, १५ १४, १५)

जो काक्षा (विषय-वासना) के अन्त मे है (उसको पार कर चुका) वही पुरुष मनुष्य के लिए चक्षुरूप है। क्षुर (अस्तुरा) अन्त पर चलता है, चक्का—पहिया—भी अन्त पर ही चलता है। धीर पुरुष भी अन्त का सेवन करते है (एकान्त निश्चित सत्यो पर जीवन को स्थिर रखते है) और इसीसे वे ससार का अन्त करते है। इस मनुष्य-लोक मे धर्म की आराधना कर मनुष्य निष्ठितार्थ होता है।

१. अनित्य भावना

१ अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।।
(उ० १३ : ३१)

काल बीता जा रहा है। रात्रियॉ भी भागी जा रही है। ये मनुष्यो के कामभोग नित्य नही है। जैसे पक्षी क्षीण फल वाले द्रुम को छोडकर चले जाते हैं, उसी तरह कामभोग भी पुरुष को छोड देते है।

२. गब्भाइ मिज्जति बुआबुयाणा णरा परे पचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य चयति ते आउखए पलीणा।।
(सू० १, ७ : १०)

कई जीव गर्भावस्था मे ही मर जाते हैं, कई स्पष्ट बोलने की अवस्था मे तथा कई बोलने की अवस्था आने के पहले ही चल बसते हैं। कई कुमार अवस्था मे, कई युवा होकर, कई आधी उमर के होकर और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं। मृत्यु हर अवस्था मे आ घेरती है।

३ डहरा बुड्ढा य पासहा गब्भत्था वि चयति माणवा।
सेणे जह वट्टय हरे एव आउखयमि तुट्टई।।
(सू० १, २ (१) . २)

देखो ! युवक ओर बूढे यहॉ तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते है। जैसे बाज पक्षी को हर लेता है वैसे ही आयु शेष होने पर काल जीवन को हर लेता है।

४ ठाणी विविहठाणाणि चइस्सति ण ससओ।
अणितिए अय वासे णातिहि य सुहीहि य।। (सू० १, ८ · १२)
एवमायाव मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरिय उवसपज्जे सव्वधम्ममकोवियं।। (सू० १, ८ १३)

विविध स्थानो मे स्थित प्राणी एक-न-एक दिन अपने स्थान को छोडकर जाने वाले हैं—इसमे जरा भी सशय नहीं है। ज्ञाति और मित्रो के साथ यह सवास भी अनित्य है। उपर्युक्त सत्य को जानकर विवेकी पुरुष अपनी आसक्ति को हटा दे और सर्व शुभ धर्मो से युक्त मोक्ष ले जानेवाले आर्य धर्म को ग्रहण करे।

५ असासयं दुट्ठु इम विहार बहुअन्तराय न य दीहमाउं।
(उ० १४ · ७)

हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमे भी विघ्न बहुत है और आयु थोडी है।

६ उवणिज्जई जीवियमप्पमाय वण्ण जरा हरइ नरस्स रायं।
पचालराया ! वयणं सुणाहि मा कासि कम्माइं महालयाइ।।
(उ० १३ · २६)

राजन् ! कर्म बिना भूल किए (निरन्तर) जीवन को मृत्यु के समीप ले जा रहे है। बुढापा मनुष्य के वर्ण (सुस्निग्ध काति) का हरण कर रहा हे। पचाल-राज ! मेरा वचन सुन ! प्रचुर कर्म मत कर।

७. जया सव्वं परिच्चज्ज गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि कि रज्जम्मि पसज्जसि।। (उ० १८ : १२)

हे राजन् ! सब चीजो को छोडकर तुम्हे एक दिन परवशता से अवश्य जाना है, फिर इस अनित्य लोक मे इस राज्य पर तुम्हे आसक्ति क्यो हे ?

८ जीवियं चेव रूव च बिज्जुसंपायचचलं।
जत्थ त मुज्झसि रायं पेच्चत्थं नावबुज्झसे।। (उ० १८ १३)

जिसमे तुम मूर्च्छित हो रहे हो—वह जीवन ओर रूप विद्युत-सम्पात की तरह चचल है। हे राजन् ! परलोक मे क्या अर्थकारी (हितकर) है यह क्यो नहीं समझते ?

९ सामग्गिदियरूव आरोग्ग जोव्वणं वल तेज।
सोहग्ग लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे।। (कुन्द० अ० ४)

समस्त इद्रियॉ, रूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य, लावण्य ये सब शाश्वत नहीं हैं, किन्तु इन्द्रधनुष के समान चचल है।

१०. जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घ।
भोगोपभोगकारणदव्व णिच्चं कहं होदि।। (कुन्द० अ० ६)

जब जीव से सम्बद्ध शरीर ही दूध मे मिले जल की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तब भोगोपभोग के कारण शरीर से भिन्न जो द्रव्य हे वे कैसे नित्य हो सकते हैं ?

११ ज किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणामसरूवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि।। (द्वा० अ० ४)

जो कुछ भी उत्पन्न है, उसका नियम से नाश होता है। परिणामस्वरूप से तो कुछ भी नित्य नहीं है।

१२ जम्म मरणेण समं सपज्जइ जोव्वण जरासहिय।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भगुर मुणह।। (द्वा० अ० ५)

जन्म मरण सहित, यौवन जरा सहित, लक्ष्मी विनाश सहित उत्पन्न होती है। इस प्रकार सब वस्तुओ को क्षणभगुर जानो।

१३. अथिर परियणसयण पुत्तकलत्त सुमित्तलावण्ण।
गिहगोहणाइ सव्व णवधणविदेण सारित्थ।। (द्वा० अ० ६)

परिजन, स्वजन, पुत्र, स्त्री, अच्छे मित्र, लावण्य, गृह, गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ नवीन मेघ के समूह के समान अस्थिर है।

१४ पथे पहियजणाण जह सजोओ हणेइ खणमित्त।
बधुजणाण च तहा सजोओ अद्धुओ होइ।। (द्वा० अ० ८)

जैसे मार्ग मे पथिक जनो का सयोग क्षण-मात्र होता है वैसे ही बधु जनो का सयोग अस्थिर होता है।

१५ अइलालिओ वि देहो ण्हाणसुयधेहि विविहभक्खेहि।
खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आमघडओ व्व।। (द्वा० अ० ६)

स्नान तथा सुगधित पदार्थो से सजाया हुआ, अनेक प्रकार के भोजनादि भक्ष्य पदार्थो से अत्यत लालन पालन किया हुआ यह देह भी जल से भरे हुए कच्चे घडे की तरह क्षण-मात्र मे ही नष्ट हो जाता है।

१६ जलबुब्बयसारिच्छ धणजोव्वणजीविय पि पेच्छता।
मण्णंति तो वि णिच्च अइबलिओ मोहमाहप्पो।। (द्वा० अ० २१)

धन, यौवन, जीवन को जल के बुदबुदे के समान देखते हुए भी मनुष्य उन्हे नित्य मानता है, यह बडा आश्चर्य है। मोह का माहात्म्य अति बलवान है।

१७ चइऊण महामोह विसए मुणिऊण भगुरे सव्वे।
णिव्विसय कुणह मणं जेण सुह उत्तमं लहइ।। (द्वा० अ० २२)

समस्त विषयो को विनाशशील सुनकर, महामोह को छोडकर अपने मन को विषयो से रहित करो, जिससे उत्तम सुख को प्राप्त कर सको।

२. अशरण भावना

१ जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नर नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मिसहरा भवति।।
(उ० १३ २२)

निश्चय ही अन्तकाल मे मृत्यु मनुष्य को वैसे ही पकडकर ले जाती है, जैसे सिह मृग को। अन्तकाल के समय माता, पिता या भाई कोई भी उसके भागीदार नहीं होते।

२. वित्तं पसवो य णाइयो तं वाले सरण ति मण्णई।
एए मम तेरि वा अहं णो ताणं सरणं ण विज्जई।।
(सू० १, २ (३) : १६)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और ज्ञातियों को अपना शरण—आश्रय-स्थल मानता है। सोचता है—'ये मेरे हैं और मैं उनका हूं'। परन्तु उनमें से कोई भी न त्राण है और न शरण।

३. अब्भागमियम्मि वा दुहे अहवोतक्कमिए भवंतिए।
एगरस्स गई य आगई विदुमंता सरणं ण मण्णई।।
(सू० १, २ (३) : १७)

दुःख आ पड़ने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। आयुष्य क्षीण होने पर अथवा भवान्त—मृत्यु के उपस्थित होने पर जीव अकेला ही गति-आगति करता है। विवेकी पुरुष धन, पशु आदि को शरण-रूप नहीं मानता।

४. माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय लुप्पंतस्स सकम्मुणा।। (उ० ६ . ३)

विवेकी पुरुष सोचे—"माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, भार्या तथा सुपुत्र—इनमें से कोई भी अपने कर्मों से दुःख पाते हुए मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।"

५. सव्वं जग जइ तुह सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव।। (उ० १४ : ३६)

यदि सारा जगत् और यह सारा धन भी तुम्हारा हो जाय, तो भी ये सब तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होंगे और न ये सब तुम्हारा रक्षण करने में ही समर्थ होंगे।

६. चिच्चा वित्तं च पुत्ते य णाइयो य परिग्गहं।
चिच्चाण अंतगं सोय णिरवेक्खो परिव्वए।। (सू० १, ६ · ७)

विवेकशील मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह तथा अतरशोक को छोडकर निरपेक्ष हो सयम का अनुष्ठान करे।

७. सीहस्स कमे पडिदं सांरग जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहिद जीवं पि ण रक्खदे को वि।। (द्वा० अ० २४)

जैसे सिंह के पैर नीचे पड़े हुए हिरण की कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं होता वैसे ही मृत्यु के द्वारा ग्रहण किये हुए जीव की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।

८ आउक्खएण मरण आउ दाउ ण सक्कदे को वि।
तम्हा देविंदो वि य मरणाउ ण रक्खदे को वि।। (द्वा० अ० २८)

आयु के क्षय से मरण होता है और आयु किसी को कोई देने मे समर्थ नही है, अत देवेन्द्र भी मरने से किसी की रक्षा नही कर सकता है।

९ दसणणाणचरित्त सरणं सेवेण परमसद्धाए।
अण्ण किं पि ण सरण ससारे ससरताण।। (द्वा० अ० ३०)

हे जीव ! तू परम श्रद्धा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म का शरण ग्रहण कर। ससार मे भ्रमण करते हुए जीवो के लिए अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

१०. मरणभयह्मि उवगदे देवावि सइंदया ण तारेति।
धम्मो त्ताण सरण गदित्ति चिंतेहि सरणत्त।। (मू० ६९७)

मरण-भय उपस्थित होने पर इद्रसहित सारे देव भी जीव की रक्षा नही कर सकते। एक धर्म ही त्राण, शरण और श्रेष्ठ गति है। इस शरण का चितन कर।

११ जह आइच्चमुदेत कोई वारेतउ जगे णत्थि।
तह कम्ममुदीरतं कोई वारेतउ जगे णत्थि।। (भग० आ० १७४०)

जैसे लोक मे कोई भी ऐसा नहीं जो उगते हुए सूर्य को रोक सकता हो, वैसे ही लोक मे ऐसा कोई नहीं जो उदय मे आये हुए कर्म को रोक सकता हो।

१२. दसणणाणचरित्त तवो य ताण च होइ सरण च।
जीवस्स कम्मणासणहेदु कम्मे उदिण्णम्मि।।
(भग० आ० १७४६)

जी के कर्मनाश के हेतु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ही है, इसलिए कर्म के उदय होने पर ये ही जीव के त्राण और शरण हो सकते है।

१३ जाइ-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरण बधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो।। (कुन्द० अ० ११)

आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करता है, इसलिए कर्मो के बन्ध, उदय और सत्ता से रहित शुद्ध आत्मा ही शरण है।

१४ अरुहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरण।। (कुन्द० अ० १२)

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाचो परमेष्ठी भी आत्मा मे ही निवास करते है। इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।

१५. सम्मत्तं सण्णाण सच्चारित्त च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। (कुन्द० अ० १३)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारो भी आत्मा में ही है। इसलिए आत्मा ही मेरा शरण हे।

३. संसार भावना

१. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो।। (उ० १६ : १५)

यहाँ जन्म का दु.ख है, जरा का दु.ख हे, रोगो का दु.ख हे, मरण का दु ख हे। अहो ! यह संसार दु खरूप ही है, जहाँ वेचारे प्राणी नाना प्रकार के क्लेश पाते हैं।

२ सारीरमाणसा चेव वेयणाओ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ असइं दुक्खभयाणि य।। (उ० १६ : ४५)

इस आत्मा ने अनन्त भयानक शरीरिक और मानसिक वेदनाएँ भोगी है और अत्यन्त दु ख और भय से वह बार-वार पीडित हुई है।

३ जरामरणकंतारे 'चाउरंते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि जम्माणि मरणाणि य।। (उ० १६ . ४६)

इस जन्म-मरणरूपी कातार और चार गतिरूप अन्तवाले भय के धाम मे मैंने अनन्त वार भयकर दु खपूर्ण जन्म और मरण सहे हैं।

४. निच्चं भीएणे तत्थेण दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा वेयणा वेइया मए।। (उ० १६ : ७१)

अत्यन्त भय, त्रास, दु ख और व्यथा का अनुभव करते हुए मैंने नित्य घोर दु.खदायी वेदनाएँ अनुभव की है।

५ जारिसा माणुसे लोए ताया ! दीसंति वेयणा।
एत्तो अणंतगुणिया नरएसु दुक्खवेयणा।। (उ० १६ : ७३)

मनुष्य लोक मे जैसी वेदना दिखाई देती है, उससे अनन्तगुणी दु.खदायी वेदना नरक मे है।

६ सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए।
निमेसतरमित्तं पि ज साया नत्थि वेयणा।। (उ० १६ : ७४)

सब भवों—जन्मो मे—मैने दु ख ही दु ख भोगा है। वहॉ निमेष-काल के अन्तर जितनी भी सुखमय अनुभूति नहीं है।

७. संजोगविप्पजोग लाहालाह सुह च दुक्ख च।
ससारे भूदाणं होदि हु माण तहावमाण च।। (कुन्द० अ० ३६)

ससार मे प्राणियो को सयोग-वियोग, लाभ-हानि, दु ख-सुख और मान-अपमान प्राप्त होते रहते है।

८ एव सट्ठु-असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे।
कि कत्थ वि अत्थि सुह वियारमाण सुणिच्चयदो।। (द्वा० अ० ६२)

इस प्रकार सब प्रकार से असार दु ख के सागर भयानक ससार मे निश्चय से विचार किया जाय तो क्या कहीं भी कुछ सुख है ?

६ एवं मणुयगदीए णाणादुक्खाइं विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइ आरभ णेय परिचयइ।। (द्वा० अ० ५५)

इस तरह मनुष्यगति मे अनेक प्रकार के दु खो को सहता हुआ भी मनुष्य धर्माचरण मे बुद्धि नहीं करता है और पापारभ को नहीं छोडता है।

१० एक्क चयदि सरीर अण्ण गिण्हेदि णवणव जीवो।
पुणु पुणु अण्ण अण्ण गिण्हदि मुचेदि बहुवार।।
एव ज ससरण णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
सो ससारो भण्णदि मिच्छकसाएहि जुत्तस्स।।
(द्वा० अ० ३२-३३)

मिथ्यात्व और कषाययुक्त इस जीव का जो अनेक शरीरो मे ससरण—भ्रमण होता है वह ससार कहलाता है। यह जीव एक शरीर को छोडता है, फिर नवीन (शरीर) को ग्रहण करता है, फिर अन्य-अन्य शरीरो को कई बार ग्रहण करता है और छोडता है। यह ही ससार कहलाता है।

११ सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवार।। (द्वा० अ० ६८)

समस्त लोकाकाश के प्रदेशो मे ऐसा कोई भी प्रदेश नही है जहॉ ये सब ही ससारी जीव कई बार उत्पन्न न हुए हो तथा न मरे हो।

१२ दुक्कियकम्मवसादो राया वि य असुइकीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह मोहस्स माहप्पं।। (द्वा० अ० ६३)

हे प्राणियो ! तुम मोह के माहात्म्य को देखो कि पाप कर्म के वश से राजा भी विष्टा का कीडा हो जाता हे और वही पर रति मानता है, क्रीडा करता हे।

१३ मम पुत्तं मम भज्जा मम धण-धण्णोत्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धि पच्छा परिपडदि दीहसंसारे।।
(कुन्द० अ० ३१)

मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन-धान्य—इस प्रकार की तीव्र लालसा से धर्म-वुद्धि को त्यागकर बाद मे वह जीव दीर्घ ससार में भटकता है।

१४ मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्णभासिय धम्मं।
कुधम्म-कुलिंग-कुतित्थं मण्णंतो भमदि ससारे।। (कुन्द० अ० ३२)

मिथ्यात्व के उदय से यह जीव जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए धर्म की निन्दा करता है, ओर कुधर्म, कुलिग ओर कुतीर्थ को मानता हुआ ससार मे भ्रमण करता है।

१५ जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि रांसारे।।
(कुन्द० अ० ३४)

मोहरूपी अधकार मे पडा हुआ जीव विषयो के लिए रात-दिन प्रयत्नपूर्वक पाप करता है और उससे ससार मे भ्रमण करता है।

१६ विसयवसादो सुक्खं जे स तेसि कुदो तित्ती। (द्वा० अ० ५६)

जिनके सुख विषयो के आधीन हैं उनकी कैसे तृप्ति हो सकती है ?

१७. इय ससार जाणिय मोह सव्वायरेंण चइऊण।
तं झायह ससरूवं संसरणं जेण णासेइ।। (द्वा० अ० ७३)

इस तरह ससार को जानकर सब तरह के प्रयत्नपूर्वक मोह को छोडकर उस आत्म-स्वरूप का ध्यान करो जिससे ससार-परिभ्रमण का अन्त हो।

१८ मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता एव ताय ! वियाणह।। (उ० १४ · २३)

जानो—यह लोक मृत्यु से पीडित है, जरा से घिरा हुआ है, जाते हुए रात-दिन अमोघ है।

१६ जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ।।

एव लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाण तारइस्सामि तुब्भेहि अणुमन्निओ।। (उ० १६ २२-२३)

(सकल्प करो)—जैसे घर मे आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओ को निकालता है और असार को छोड देता है, उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस ससार मे से अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।

२० अत्थि एगो महादीवो वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जई।। (उ० २३ ६६)

उदधि के बीच एक विस्तृत महाद्वीप है, जहॉ पर महान् उदक—समुद्र के प्रवाह की पहुँच नही होती।

२१ जरामरणवेगेण वुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तम।। (उ० २३ ६८)

जरा और मरणरूपी जल के वेग से बहते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

४. एकत्व भावना

१ एक्को करेइ कम्म एक्को हिडदि य दीहससारे।
एक्को जायदि मरदि य एव चितेहि एयत्त।। (मू० ६६६)

यह जीव अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ ससार मे भटकता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस तरह एकत्व भावना का तुम चितन करो।

२ ससारमावन्न परस्स अट्ठा साहारण ज च करेइ कम्म।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले न बधवा बधवय उवेति।।
(उ० ४ ४)

ससारी प्राणी अपने बन्धुजनो के लिए जो साधारण कर्म करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नहीं दिखाते।

३ पाव करेदि जीवो बधवहेदु सरीरहेदु च।
णिरयादिसु तस्स फल एक्को सो चेव वेदेदि।। (भग० आ० १७४७)

यह जीव बाधवो के लिए और शरीर के लिए पाप करता है किन्तु उस पाप का फल नरकादि गतियो मे वह अकेला ही भोगता है।

४ सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुजतओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणं कोई सम एदि।। (मू० ६६८)

स्वजन और परिजनो के मध्य मे अकेला ही रोगी और दुखी हुआ जीव मृत्यु के वश मे पडा परलोक को गमन करता है। उसके साथ कोई नहीं जाता।

५ आघातकिच्चमाहेउं णाइओ विसएसिणो।
अण्णे हरंति त वित्तं कम्मी कम्मेहि किच्चती।। (सू० १, ६ : ४)

दाह-सस्कारादि अन्तिम क्रियाएँ करने के वाद विषयैषी ज्ञाति और अन्य लोग उसके धन को हर लेते हैं और पाप-कर्म करनेवाला अकेला ही अपने किए हुए कृत्यो द्वारा ससार मे पीडित होता है।

६ न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्का सय पच्चणुहोइ दुक्ख कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं।।
(उ० १३ : २३)

ज्ञाति-सम्बन्धी, मित्र-वर्ग, पुत्र और बांधव मनुष्य के दु.ख मे भाग नहीं बॅटाते। उसे स्वय अकेले को ही दु ख भोगना पडता है। कर्म करनेवाले का ही पीछा करता है, उसे ही कर्म-फल भोगना पडता है।

७. चेच्चा दुपय च चउप्पय च खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ परं भवं सुंदर पावगं वा।।
(उ० १३ · २४)

द्विपद और चतुष्पद, क्षेत्र और गृह, धन और धान्य—इन सबको छोडकर पराधीन जीव केवल अपने कर्मो को साथ लेकर ही अकेला अच्छे या बुरे पर-भव मे जाता है।

८ एगभूओ अरण्णे वा जहा उ चरई मिगो।
एव धम्मं चरिस्सामि सजमेण तवेण य।। (उ० १६ : ७७)

मनुष्य सोचे—जैसे मृग अरण्य मे अकेला चर्या करता है, उसी तरह मैं चारित्ररूपी वन मे तप और सयम से एकीभूत होकर धर्म का पालन करता हुआ विहार करूँगा।

९. जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ।।
(द्वा० आ० ७८)

इस जीव का स्वजन निश्चय से एक उत्तम क्षमादि स युक्त दशलक्षण धर्म ही हे। धर्म ही मनुष्य को देवलोक मे ले जाता है और वही सर्व दु खी का क्षय करता है।

१० सव्वायरेण जाणह इक्क जीव सरीरदो भिण्ण।
जम्हि दु मुणिदे जीवो होदि असेस खणे हेय।। (द्वा० आ० ७६)

शरीर से भिन्न अकेले जीव को सब प्रकार के प्रयत्न से जानो। जीव को जान लेने पर अवशेष सब प्रकार के द्रव्य क्षण-मात्र मे त्यागने योग्य होते है।

११ एक्कोह णिम्ममो सुद्धो णाणदसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेव चितेइ सजदो।। (कुन्द० अ० २०)

सयमी पुरुष ऐसा विचारता है कि मैं एकाकी हूँ, ममत्व से रहित हूँ, शुद्ध हूँ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मेरे लक्षण है। ऐसा शुद्ध एकत्व ही उपादेय है।

५ अन्यत्व भावना

१ त इक्कग तुच्छसरीरग से चिईगयं डहिय उ पावगेण।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य दायारमन्न अणुसकमति।।
(उ० १३ २५)

मनुष्य के चितागत अकेले तुच्छ शरीर को अग्नि से जलाकर उसकी भार्या, पुत्र और जाति-बान्धव किसी अन्य दाता के पीछे चले जाते है।

२ दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बधवा।
जीवतमणुजीवति मय नाणुव्वयंति य।।[1] (उ० १८ १४)

स्त्रिया और पुत्र, मित्र और बाधव जीवित व्यक्ति के साथ जीते है। मृतक के पीछे नहीं जाते।

३. नीहरति मय पुत्ता पियर परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्त बन्धू राय! तव चरे।। (उ० १८ १५)

जैसे अत्यन्त दुखी हुए पुत्र मृत पिता को श्मशान ले जाते है, वेसे ही पिता भी मरे पुत्रो को श्मशान ले जाता है। बान्धवो के विषय मे भी यही बात है। हे राजन्! यह देखकर तू तप कर।

४ मादा-पिदर-सहोदर-पुत्त कलत्तादिबधुसदोहो।
जीवस्स ण सबधो णियकज्जवसेण वट्टति।। (कुन्द० अ० २१)

---

१ मू० ७००
मादुपिदु सयण सबधिणो य सव्वेवि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बधवा ते ण य परलोग समा णेति।।

माता, पिता, सहोदर भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुओ का समूह जीव के साथ सम्बद्ध नही है। ये सब अपने-अपने कार्यवश होते है।

५ अण्ण इम सरीरादिगंपिज होज्ज बाहिर दव्वं।
णाणं दसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं।।[1] (कुन्द० अ० २३)

ये शरीर आदि जो बाह्य द्रव्य है, वे सब मुझसे अन्य है। आत्मज्ञान और दर्शनरूप है, सुज्ञ इस प्रकार अन्यत्व का चिन्तन करता है।

६ अण्णं देह गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो।।(द्वा० अ० ८०)

जीव देह को ग्रहण करता है, वह अपने से अन्य है। माता भी अन्य है, स्त्री भी अन्य होती है, पुत्र भी अन्य उत्पन्न होता है। ये सब कर्म-सुयोग से होते हैं।

७ एवं बाहिरदव्व जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो।। (द्वा० अ० ८१)

इस तरह जीव सब बाह्य वस्तुओ को अपने स्वरूप से भिन्न जानता है। ऐसा जानता हुआ भी यह मूढ जीव उन परद्रव्यो से ही राग करता है। यह बडी मूर्खता है।

८. जो जाणिऊण देह जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकर तस्स अण्णत्तं।। (द्वा० अ० ८२)

जो जीव तत्त्वत देह को अपने स्वरूप से भिन्न जानकर आत्मस्वरूप का सेवन करता है, उसके अन्यत्व भावना कार्यकारिणी होती है।

६. अशुचि भावना

१ इमं सरीर अणिच्चं असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायण।। (उ० १६ १२)

यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचि से उत्पन्न है। यह शरीर आत्म-रूपी पक्षी का अस्थिर आवास है और दु.ख तथा क्लेशो का घर है।

२. अट्ठिं च चम्म च तहेव मंसं पित्त च सेभं तह सोणिद च।
अमेज्झसघायमिण सरीर पस्सति णिव्वेदगुणाणुपेही।।
(मू० ८४८)

---

१ मू० ७०२।

ससार और भोगो से वैराग्य को प्राप्त हुए पुरुष इस शरीर को हड्डी, चमडा, मॉस, पित्त, कफ, रक्त इत्यादि अपवित्र वस्तुओ का समूह-रूप देखते है।

३ अट्ठीहि पडिबद्धं मसविलित्त तएण ओच्छण्ण।
किमिसंकुलेहि भरिदमचोक्ख देह सयाकाल।।[1] (कुन्द० अ० ४३)

यह शरीर हड्डियो से बॅधा हुआ है, मॉस से लिपटा हुआ है, चर्म से ढॅका है और कीट-समूहो से भरा है, अत सदा अशुचि है।

४ दुग्गंध बीभत्थ कलिमलभरिद अचेयण मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देह इदि चितये णिच्च।। (कुन्द० अ० ४४)

यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त है, वीभत्स है, कलुषित मल से भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा अवश्य ही सडन-गलन नष्ट होनेवाले स्वभाव से युक्त है, सदा ऐसा विचारना चाहिए।

५ सुट्ठु पवित्त दव्वं सरससुगध मणोहर ज पि।
देहणिहित्त जायदि घिणावण सुट्ठुदुग्गधं।। (द्वा० अ० ८४)

इस शरीर मे डाले गये अत्यन्त पवित्र, सरस, सुगधित और मन को हरनेवाले द्रव्य भी घिनौने तथा अत्यन्त दुर्गधित हो जाते है।

६ मणुआण असुइमय विहिणा देह विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमणकज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता।। (द्वा० अ० ८५)

हे भव्य! यह मनुष्यो का देह कर्म के द्वारा अशुचिमय रचा गया है, ऐसा जान। मानो यह देह ऐसा इन मनुष्यो मे वैराग्य उत्पन्न होने के लिए ही रचा गया हो। परन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य इस अशुचि शरीर मे भी अनुरक्त है।

७ एवविह पि देह पिच्छता वि य कुणाति अणुराय।
सेवंति आयरेण य अलद्धपुव्व ति मण्णता।। (द्वा० अ० ८६)

इस प्रकार शरीर को प्रत्यक्ष अशुचि देखता हुआ भी आश्चर्य है कि यह मनुष्य उसमे अनुराग करता है और उसे अपूर्वलब्ध मानता हुआ आदरपूर्वक इसकी सेवा करता है।

८ जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुराय।
अप्पसरूवसुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स।। (द्वा० अ० ८७)

---

१ तुलना करे मू० ८४६
अट्ठिणिछण्ण णालिणिबद्ध कलिमलभरिद किमिउलपुण्ण।
मसविलित्त तयपडिछण्ण सरीरघर त सददमचोक्ख।।

जो भव्य परदेह से विरक्त होकर अपने शरीर मे अनुराग नहीं करता है तथा अपने आत्मस्वरूप मे अनुरक्त रहता है, उसकी अशुचि भावना सफल है।

९ देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा।। (कुन्द० अ० ४६)

देह से भिन्न, कर्मों से रहित और अनन्त सुख का भण्डार आत्मा ही श्रेष्ठ है, इस प्रकार सदा चिन्तन करना चाहिए।

१०. मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तंतमुत्तकुणिपकुडिं।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि।। (मू० ७२४)

मांस, हाड, कफ़, मेद, रक्त, चाम, पित्त, आंत, मूत्र, मल इनका घर तथा बहुत दु:ख और रोगो के पात्र शरीर को तुम अशुभ जानो।

११. अत्थं कामसरीरादिगंपि सव्वमसुभत्ति णाऊण।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं।। (मू० ७२५)

अर्थ, काम, शरीरादि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा जानकर निर्वेद को प्राप्त हुआ तू वैराग्य का इस तरह ध्यान कर कि इस अशुचि शरीर को सदा के लिए छोड सके।

१२ एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिवपूदियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा।। (मू० ८५०)

दुर्गंधयुक्त, अशुचिद्रव्य से भरे, स्वच्छतारहित, सडन-गलन युक्त साररहित शरीर से सुपुरुष प्रेम नहीं करते।

१३. पित्तंत-मुत्त-फेफस-कालिज्जय-रुहिर-खरिस-किमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहि पत्तेहि।।
(भा० पा० ३६)

हे पुरुष ! तू पित्त, आत, मूत्र, फेफडा, जिगर, रुधिर, खॅखार और कीडो से भरे हुए उदर मे बहुत बार नौ-दस मास तक रहा है।

१४. दियसंगट्ठियमसण आहारिय मायभुत्तमण्णंते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए।। (भा० पा० ४०)

दॉतो के संसर्ग मे स्थित भोजन को ग्रहण करके तूने माता के द्वारा खाये गए अन्न को खाया है और उदर मे वमन और खखार के बीच मे निवास किया है।

१५ सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुम।
असुई असिया बहुसो मुणिवर ! वालत्तपत्तेण।। (भा० पा० ४१)

हे पुरुष ! बाल्यकाल मे अज्ञानी होने से तू विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थो के बीच से लौटा है और बालपन होने से तूने अनेक बार अपवित्र वस्तुओ को खाया है।

१६. मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं।। (भा० पा० ४२)

हे पुरुष ! मांस, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त और ऑत से बहनेवाली शव के समान दुर्गन्धित तथा खखार, चर्बी और अपवित्र गन्दगी से भरे हुए इस शरीर-रूपी घडे के स्वरूप पर विचार कर।

७. आस्रव भावना

१ ते चक्खु लोगस्सिह णायगा उ मग्गाणुसासंति हियं पयाण।
तहा तहा सासयमाहु लोए जंसी पया माणव! संपगाढा।।
(सू० १, १२ १२)

अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर आदि लोक के नेत्र के समान हैं। वे धर्म नायक हैं। वे प्रजाओं को कल्याण-मार्ग की शिक्षा देते है। वे कहते हैं—"हे मनुष्य ! ज्यो-ज्यो मिथ्यात्व आदि बढता है, त्यो-त्यो संसार भी शाश्वत होता जाता है। ससार की वृद्धि इस तरह होती है, जिसमे नाना प्राणी निवास करते हैं।"

२. जे रक्खसा जे जमलोइया वा जे आसुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया ते पुणो पुणो विप्परियासुवेति।।
(सू० १, १२ . १३)

जो राक्षस हैं, जो यमपुरवासी हैं, जो देवता हैं, जो गन्धर्व हैं, जो आकाशगामी व पृथ्वी-निवासी हैं वे सब मिथ्यात्व आदि कारणो से ही बार-बार भिन्न-भिन्न गतियो मे जन्म धारण करते है।

३ जमाहु ओहं सलिल अपारग जाणाहि ण भवगहण दुमोक्खं।
जसी विसण्णा विसयंगणाहि दुहतो वि लोयं अणुसंचरति।।
(सू० १, १२ · १४)

जिस ससार को अपार सलिल वाले स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दी गई है, वह भिन्न-भिन्न योनियो के कारण बडा ही गहन और दुस्तर है। विषय और स्त्रियो मे आसक्त जीव स्थावर और जगम दोनो ही प्रकार से जगत् मे बार-बार भ्रमण करते हैं।

४. ण कम्मुणा कम्म खवेति बाला अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
(सू० १, १२, · १५)

जो अज्ञानी हैं, वे कर्म द्वारा कर्मो का क्षय नहीं कर सकते। जो धीर पुरुष हैं, वे अकर्म से—आस्रवो को रोककर—कर्मो का क्षपण करते है।

५. ते तीतउप्पण्णमणागयाइं लोगस्स जाणंति तहागताइं।
णेतारो अण्णेसि अणण्णणेया बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति।।
(सू० १, १२ · १६)

उपर्युक्त भावो को जिन्होने कहा है, वे जीवो के भूत, वर्तमान और भविष्य को जाननेवाले, जगत् के नेता, अनन्य नेता और ससार का अंत करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं।

६ जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्य परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि।।[1] (कुन्द० अ० ५६)

यह जन्म-मरण रूपी समुद्र बहुत दोषरूपी लहरो से और दु खरूपी जलचरो से व्याप्त है, जिसमे जीव का परिभ्रमण कर्मो के आस्रव के कारण होता है।

७ कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया।। (कुन्द० अ० ५७)

कर्मो के आस्रव के कारण जीव ससाररूपी भयानक समुद्र मे डूब जाता है। जो क्रिया ज्ञानपूर्वक की जाती है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।

८. मणवयणकायजोया जीवपएसाणफंदणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति।। (द्वा० अ० ८८)

मन, वचन, काय—ये योग है। जीव के प्रदेशो का स्पदन विशेष योग है। वे ही आस्रव हैं। योग मोह के उदय सहित है और मोह के उदय से रहित भी।

६ मोहविभागवसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेयविहा।। (द्वा० अ० ८६)

मोह के उदय से जो परिणाम इस जीव के होते हैं, वे ही आस्रव है। तू ऐसा जान। वे परिणाम मिथ्यात्व को आदि लेकर अनेक प्रकार के है।

१० कम्म पुण्ण पाव हेउ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु।। (द्वा० अ० ६०)

---

१ भग० आ० १८२१।

कर्म पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार के है और उनके कारण भी सत् और असत् दो प्रकार के होते है। उनमे मदकषाय रूप परिणाम तो प्रशस्त है और तीव्र कषाय रूप परिणाम अप्रशस्त।

११ एव जाणतो वि हु परिचयणीए वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुपिक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि।। (द्वा० अ० ६३)

इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से जानता हुआ भी जो त्यागने योग्य परिणामो को नहीं छोडता है, उसके आस्रव का सारा चिंतन निरर्थक है।

१२ एदे मोहयभावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयमिदि मण्णमाणो आसवअणुवेहण तस्स।। (द्वा० अ० ६४)

जो पुरुष उपशम परिणामो मे लीन होकर उन मोह से उत्पन्न मिथ्यात्वादिक परिणामो को हेय मानता हुआ छोडता है, उसकी आस्रवानुप्रेक्षा कार्यकारी होती है।

१३ दुक्खभयमीणपउरे ससारमहण्णवे परमघोरे।
जंतू ज तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुय सव्वं।। (मू० ७२७)

दु ख और भयरूपी मत्स्य जिसमे बहुत है ऐसे अत्यत भयकर ससार-समुद्र मे यह प्राणी जिस कारण से डूबता है वह कर्मास्रव है।

१४. रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होति कम्मस्स।। (मू० ७२८)

राग, द्वेष, मोह, पॉच इन्द्रियॉ, आहारादि सज्ञा, ऋद्धि आदि गौरव, क्रोधादि कषाय, मन, वचन, काय की क्रिया सहित ये सब आस्रव हैं, इनसे कर्म आते है।

१५ हिसादिएहि पंचहि आसवदारेहि आसवदि पाव।
तेहितो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे।। (मू० ७३६)

हिसा, असत्य आदि पॉच आस्रवो के द्वार से पाप-कर्म आता है और उनसे निश्चय कर जीवो का नाश होता है। जैसे छिद्रसहित नाव समुद्र मे डूब जाती है, इसी तरह कर्मास्रवो से जीव भी ससार-समुद्र मे डूबता है।

१६ ससारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि।
आसवणीणावाए जह सलिल उदधिमज्झम्मि।। (भग० आ० १८२२)

सवररहित जीव मे ससाररूपी सागर मे कर्मरूपी जल का आस्रव होता है, जैसे समुद्र मे चूनेवाली नौका मे पानी का आस्रव।

८. संवर भावना

१. तिउट्टती उ मेहावी जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि णवं कम्ममकुव्वओ।। (सू० १, १५ : ६)

पाप कर्म को जाननेवाला बुद्धिमान पुरुष संसार में रहता हुआ भी पाप से छूट जाता है। जो पुरुष नए कर्म नहीं करता, उसके सभी पाप-कर्म छूट जाते हैं।

२. जं मतं सव्वसाहूणं तं मतं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा देवा वा अभविंसु ते।। (सू० १, १५ : २४)

सर्व साधुओं को मान्य जो संयम है, वह पाप को नाश करनेवाला है। इस संयम की आराधना कर बहुत जीव संसार-सागर से पार हुए हैं और बहुतो ने देवभव को प्राप्त किया है।

३. अकुव्वओ णवं णत्थि कम्मं णाम विजाणतो।
णच्चाण से महावीरे जे ण जाई ण मिज्जती।। (सू० १, १५ : ७)

जो नहीं करता उसके नए कर्म नहीं बँधते। कर्मों को जाननेवाला महावीर पुरुष उनकी स्थिति और अनुभाग आदि को जानता हुआ ऐसा करता है, जिससे वह संसार में न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है।

४. मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं।। (मू० २३७)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग—वे आस्रव अर्थात् कर्मों के आगमन के हेतु हैं। अर्हन्तकथित पदार्थों में विमोह—संशयादि करना मिथ्यात्व है।

५. अविरमणं हिंसादी पंचवि दोसा हवंति णादव्वा।
कोधादीय कसाया जोगो जीवस्स चिट्ठा दु।। (मू० २३८)

हिंसा आदि पाँच दोषो के अत्याग को अविरति जानना। क्रोधादि चार कषाय हैं और जीव की क्रिया को योग कहते हैं।

६. मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदढकवाडेण।
हिंसादिदुवारणिवि दढवदफलिहेहि रुब्भंति।। (मू० २३६)

विवेक शील जीव मिथ्यात्वरूप आस्रवद्वार को सम्यक्त्वरूप दृढ़ कपाट से रोक देते हैं और हिंसादि अविरतिरूप आस्रवद्वार को दृढ़ पंचव्रत-रूप फलक से रोकते हैं।

७. आसवदि जं तु कम्मं कोधादीहिं तु अयदजीवाणं।
तप्पडिवक्खेहिं विदु रुंधंति तमप्पमत्ता दु।। (मू० २४०)

यतनाचार रहित जीवो के क्रोध आदि द्वारा जो कर्म आते हैं उनको प्रमादरहित ज्ञानी जीव क्रोधादि के प्रतिपक्षी उत्तम क्षमादि धर्मो से रोक देते हैं।

८. मिछत्ताविरदीहि य कसायजोगेहि जं च आसवदि।
दसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहि तु णासवदि।। (मू० २४१)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगो से जो कर्म आते हैं, वे कर्म सम्यग्दर्शन, विरति, क्षमादिभाव और योगनिरोध से नहीं आने पाते—रुक जाते हैं।

९ एदे सवरहेदुं वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिर कालं संसारे दुक्खसंतत्तो।।. (द्वा० अ० १००)

जो पुरुष इन (सम्यक्त्व, व्रत आदि सवर के हेतु का विचार करता हुआ भी आचरण नहीं करता है, वह दु खो से सतप्तमान होकर बहुत समय तक ससार मे भ्रमण करता है।

१० जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।
मणहरविसएहितो तस्स फुड संवरो होदि।। (द्वा० अ० १०१)

जो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होता हुआ मन को प्रिय लगनेवाले विषयो से आत्मा को सदा दूर रखता है, उसके प्रगट रूप से सवर होता है।

११ सवरफल तु णिव्वाणमिति संवरसमाधिसजुत्तो।
णिच्चुज्जुत्तो भावय सवर इणमो विसुद्धप्पा।। (मू० ७४३)

सवर का फल मोक्ष है। अत सवर-समाधि से युक्त विशुद्धात्मा सदा यतनापूर्वक इस सवर की भावना करे।

६. निर्जरा भावना

१ पुव्वकदकम्मसडण तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवागजादा बिदिया अविवागजादा य।। (मू० २४५)

पूर्व किये हुए कर्मो का जो झड जाना है वह निर्जरा है। उसके दो भेद हैं। पहली निर्जरा विपाकजा है और दूसरी अविपाकजा।

२ कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि।
तध कालेण उवाएण य पच्चंति कदा कम्मा।। (मू० २४६)

जैसे वनस्पति-फल अपने-अपने समय से तथा उपाय द्वारा जल्दी भी पक जाते है उसी तरह किये हुए कर्म अपने-अपने समय पर अथवा तप के उपाय द्वारा पहले भी फल देकर झड जाते है।

३ वारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स।। (द्वा० अ० १०२)

निदानरहित, अहंकाररहित ज्ञानी के वारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है।

४ उवसमभावतवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
तह तह णिज्जरवड्ढी विसेसदो धम्मसुक्कादो।। (द्वा० अ० १०५)

मुनियो के जैसे-जैसे उपशम भाव तथा तप की वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही निर्जरा की वृद्धि होती है। धर्मध्यान ओर शुक्लध्यान से निर्जरा की विशेषता से वृद्धि होती है।

५ जो विसहदि दुव्वयण साहम्मियहीलणं च उपसग्गं।
जिणिऊण कसायरिउ तस्स हवे णिज्जरा विउला।। (द्वा०अ० १०६)

जो कषायरूपी वैरी को जीतकर दुर्वचनो को सहन करता है, जो साधर्मी द्वारा किये गये अनादर को सहता है, जो उपसर्गो को सहन करता है, उसके विपुल निर्जरा होती है।

६. जो चिंतेइ सरीरं ममत्तजणयं विणस्सर असुइ।
दंसणणाणचरित्तं सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं।। (द्वा० अ० १११)

जो शरीर को ममत्व उत्पन्न करनेवाला, नश्वर तथा अपवित्र मानता है और सुख को उत्पन्न करनेवाले निर्मल तथा नित्य दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी आत्मा का चिंतन करता है, उसके विपुल निर्जरा होती है।

७ अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहुमाणं।
मणइंदियाण विजई स सरूवपरायणो होउ।। (द्वा० अ० ११२)

जो अपने किये हुए दुष्कृत की निदा करता है, गुणवान पुरुषो का बहुमान करता है, अपने मन और इन्द्रियो को जीतनेवाला होता है, वह अपने स्वरूप मे तत्पर होता है। उसके विपुल निर्जरा होती है।

८ तस्स य सहलो जम्मो तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढदि तस्स य सोक्खं परो होदि।।
(द्वा० अ० ११३)

जो ऐसे निर्जरा के कारणो मे प्रवृत्ति करता है उसीका जन्म सफल है। उसी के पाप-कर्म की निर्जरा होती है। उसीके पुण्य-कर्म का अनुभाग बढता है उसीको उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है।

९. जो समसोक्खणिलीणो वार वार सरेइ अप्पाण।
इदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा।। (द्वा० अ० ११४)

जो वीतराग भावरूप—साम्यरूप—सुख मे लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है तथा इन्द्रिय और कषायो को जीतता है उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

१०. णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को।
पावदि सुक्खमणत णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा।। (मू० ७४६)

उसके बाद सब कर्मो से रहित हो जन्म,, जरा और मरणरूपी बधनो से रहित हुआ जीव अतुल सुख को प्राप्त होता है। इन सब कारणो से मन मे निर्जरा भावना का चितन करना चाहिए।

१०. लोक भावना

१ सव्वायासमणंत तस्स य बहुमज्झसठियो लोओ।
सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहि।।
(द्वा० आ० ११५)

आकाश अनन्त है, उसके बहुमध्यप्रदेश मे स्थित लोक है। वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नही है तथा किसी हरिहरादि के द्वारा धारण किया हुआ नहीं है।

२ लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणे सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहि भुडो णिच्चो तालरुक्खसठाणो।। (मू० ७१२)

यह लोक अकृत्रिम है, अनादि निधन है, अपने स्वभाव से ही निष्पन्न है, जीव-अजीव द्रव्यो से भरा हुआ है, नित्य है और ताडवृक्ष के आकार का है।

३ धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाण च।
जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणतं।। (मू० ७१३)

जहॉ धर्म द्रव्य, अधर्म, द्रव्य है और लोकाकाश है और जितने मे जीव द्रव्य और पुद्‌गलो का गमन-आगमन है उतना ही लोक है। इसके बाद केवल अनन्त आकाश है, उसको अलोकाकाश कहते है।

४ अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाण अत्छण हवे लोओ।
दव्वाण णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्त।। (द्वा० अ० ११६)

जीवादिक द्रव्यो का एक-दूसरे मे प्रवेश करने का स्थान लोक है। द्रव्य नित्य हैं, इसलिए लोक को भी नित्य जानो।

५. परिणामसहावादो पडिसमयं परिणमति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं।। (द्वा० अ० ११७)

द्रव्य परिणाम-स्वभावी है इसलिए प्रति समय परिणाम करते रहते हैं। उनके परिणाम के कारण लोक को भी परिणामी जानो।

६. दीसति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंतविहीणा विरायंते।। (द्वा० अ० १२१)

जहाँ जीवादिक पदार्थ देखे जाते है वह लोक कहलाता है। उसके शिखर पर अन्तरहित सिद्ध विराजमान है।

७. एइदिएहि भरिदो पंचपयारेहि सव्वदो लोओ।
तसणाडिए वि तसा ण बाहिरा होति सव्वत्थ।। (द्वा० अ० १२२)

यह लोक पॉच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवो से सब जगह भरा हुआ है। त्रसजीव त्रस-नाडी मे ही है, बाहर नहीं है।

८. तत्थणुहवंति जीव सकम्मणिव्वत्तियं सुहं दुक्खं।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे।। (मू० ७१५)

उस लोक मे ये जीव अपने कर्मों से उपार्जित सुख-दु.ख को भोगते है और इस अनन्त भवसागर मे जन्म-मरण का बार-बार अनुभव करते है।

९. मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तण पुण उवेदि।
पुरिसोवि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जगे।। (मू० ७१६)

इस ससार मे माता पुत्री हो जाती है और पुत्री माता हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुसक हो जाती है।

१०. होऊण तेयसत्ताधिओ दु बलविरियरूवसंपण्णो।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्यु संसारवासस्स।। (मू० ७१७)

तेज और सत्ता मे अधिक, बल, वीर्य, रूप से सम्पन्न राजा भी कर्मवश अशुचि स्थान मे कृमि के रूप मे उत्पन्न होता है इसलिए ऐसे ससार मे रहने को धिक्कार है।

११. धिग्भवदु लोगधम्मं देवावि य सुरवदीय महधीया।
भोत्तूण य सुहमतुल पुणरवि दुक्खावहा होंति।। (मू० ७१८)

लोक के स्वभाव को धिक्कार हो जिससे कि देव और महान ऋद्धिवाले इन्द्र भी अनुपम सुख को भोगकर बाद मे पुन दु ख के भोगनेवाले होते है।

१२. विरला णिसुणहि तच्च विरला जाणति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्च विरलाणं धारणा होदि।।
(द्वा० अ० २७६)

ससार मे विरले ही पुरुष तत्त्व को सुनते हैं, सुनकर भी तत्त्व को यथार्थ रूप से विरले ही जानते है, जानकर भी विरले ही तत्त्व की भावना (अभ्यास) करते हैं। भावना करने पर भी तत्त्व की धारणा विरलो के ही होती है।

१३. तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चलभावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया सो वि य तच्चं वियाणेई।। (द्वा० अ० २८०)

जो पुरुष प्ररूपित तत्त्वो के स्वरूप को निश्चल भाव से ग्रहण करता है, उसकी निरन्तर भावना करता है वही पुरुष तत्त्व को जानता है।

१४. को ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खंडिय माणं।
को इंदिएहि ण जिओ को ण कसाएहि सतत्तो।।
(द्वा० अ० २८१)

इस लोक मे स्त्रीजन के वश मे कौन नहीं हुआ ? काम से जिसका मन खडित नहीं हुआ हो वह कौन है ? जो इन्द्रियो से न जीता गया हो वह कौन है ? कषायो से सतप्त न हुआ हो वह कौन है ?

१५. सो ण वसो इत्थिजणे सो ण जिओ इदिएहि मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं अब्भतरबाहिरं सव्वं।।
(द्वा० अ० २८२)

जो पुरुष तत्त्व का स्वरूप जानकर बाह्य और अभ्यन्तर सब परिग्रह का ग्रहण नहीं करता वह पुरुष स्त्रीजन के वश मे नहीं होता है। वही पुरुष इन्द्रियो से और मोह से पराजित नहीं होता है।

१६ एवं लोयसहाव जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ।
सो खविय कम्मपुंजं तिल्लोय सिहामणी होदि।। (द्वा० अ० २८३)

जो पुरुष इस प्रकार लोक के स्वरूप को उपशम से एक स्वभाव-रूप होता हुआ ध्याता है वह पुरुष कर्म-पुज का क्षय करके उसी लोक का शिखामणि होता है।

१७ सरिसीए चंदिगाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई।।
(भग० आ० १८१०)

चॉदनी समान होने पर भी जैसे कृष्णपक्ष द्वेष्य और शुक्लपक्ष प्रिय होता है वैसे ही आचरण समान होने पर भी कोई द्वेष्य और कोई प्रिय होता है।

१८. कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि।
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो।।
(भग० आ० १८०६)

लोक मे पुण्यहीन मनुष्य अपराध नहीं करता हुआ भी अपराधी हो जाता है ओर पुण्यवान जीव अपराध करता हुआ भी निरपराधी लोगो के समान होता है।

१६. विज्जू व चंचलं फेणदुब्वलं वाधिमहियमच्चुहदं।
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खद्धुदं लोगं।।
(भग० आ० १८१२)

विजली के समान चचल, फेन की तरह दुर्वल, व्याधियो से मथित, दु.खो से कंपित और मृत्यु से उपद्रूत लोक को देखता हुआ ज्ञानी कैसे उसमे रति कर सकता है ?

११. दुर्लभबोधि भावना

१ सबुज्झह किण्ण वुज्झहा संवोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइयो णो सुलभं पुणरावि जीवियं।।
(सू० १, २ (१) . १)

वोध प्राप्त करो। क्यों नहीं वोध प्राप्त करते ? मनुष्य-भव वीत जाने पर परभव मे सम्वोधि निश्चय ही दुर्लभ है। वीती हुई रातें नहीं फिरतीं और न मनुष्य-जीवन पुन सुलभ होता है।

२. वुज्झाहि जतू ! इह माणवेसु दट्ठुं भयं वालिएणं अलंभे।
एगंतदुक्खे जरिए हु लोए सकम्मुणा विप्परियासुवेति।।
(सू० १, ७ : ११)

हे जीव ! चारो गतियो मे केवल भय है। विवेकहीन जीव को शीघ्र वोध नहीं होता । यह देखकर मनुष्य-भव मे सवोध को प्राप्त करो। यह संसार ज्वराक्रान्त की तरह एकांत दुःखी हे। जीव अपने कृत्यो से ही ससार मे पर्यटन करता है।

३. अतं करेंति दुक्खाणं इहमेगेसि आहितं।
आघातं पुण एगेसिं दुल्लभेऽयं समुस्सए।। (सू० १, १५ : १७)

कइयो का कथन है कि देव ही दु.खो का अन्त कर सकते है, ज्ञानियो का कथन है कि यह मनुष्यदेह दुर्लभ है। (जो प्राणी मनुष्य नहीं वे अपने समस्त दु.खों का नाश नहीं कर सकते)।

४ इत्तो विद्धसमाणस्स पुणो सवोहि दुल्लभा।
दुल्लभाओ तहच्चाओ जे धम्मट्ठं वियागरे ।। (सू० ३, १५ . १८)

इस मनुष्य-शरीर से जो भ्रष्ट होता है, उसके लिए पुन मनुष्यदेह पाना सरल नहीं होता। उसके बिना सबोधि दुर्लभ होती है और ऐसी लेश्या या चित्तवृत्ति भी दुर्लभ होती है, जो धर्म की आराधना के योग्य व्यक्तियो की होती है।

५ उप्पज्जदि सण्णाण जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्ल होदि।। (कुन्द० अ० ८३)

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, उस उपाय की चिता होती है, क्योकि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

६ संसारह्मि अणते जीवाणं दुल्लह मणुस्सत्त।
जुगसमिलासजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव।। (मू० ७५५)

इस अनन्त ससार मे जीवो के लिए मनुष्य-जन्म का मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसा कि लवण-समुद्र मे युग और समिलाका सयोग।

७. लद्धेसुवि एदेसु अ बोधी जिणसासणह्मि ण हु सुलहा।
कुपहाणमाकुलत्ता ज बलिया रागदोसा य।। (मू० ७५७)

मनुष्य जन्म के मिलने पर भी जिन-शासन मे सम्यक्श्रद्धा सुलभ नहीं है, क्योकि कुमार्गो की आकुलता से यह जगत् आकुल हो रहा है। उसमे राग-द्वेष ये दोनो बलवान है।

८ सेय भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्धा।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तह्मा ण खमं पमादो मे।। (मू० ७५८)

ससार के भय को नाश करनेवाली सब गुणो की आधारभूत यह बोधि मैने पाई है। वह कदाचित् ससार-समुद्र मे हाथ से छूट गई तो फिर निश्चय ही उसका मिलना सुलभ नहीं है। अत मेरे लिए प्रमाद करना उचित नहीं है।

९. दुल्लहलाह उद्धूण बोधि जो णरो पमादेज्जो।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदि गदो सतो।। (मू० ७५९)

जो मनुष्य दुर्लभ बोधि को प्राप्त कर प्रमाद करता है वह कापुरुष है और कुगति को प्राप्त हो दुखी होता है।

१२. धर्म भावना

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।। (द० १ : १)

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिसा, तप और संजम उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म मे रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

२. पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य खंती बभचेरं च।।
(द० ४ : २७ के बाद)

जिन्हे तप, संजम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, फिर भले ही उन्होंने पिछली अवस्था में सयम ग्रहण किया हो।

३. इमं च मे अत्थिं इमं च नत्थि इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं हरा हरंति त्ति कहं पमाए ?
(उ० १४ : १५)

यह मेरे पास है और यह मेरे पास नहीं है, यह मुझे करना है और यह मुझे नहीं करना है—ऐसा विचार करते-करते ही कालरूपी चोर प्राणो को हर लेता है। फिर यह प्रमाद क्यो ?

४. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो दु कंखे सुर सिंया।। (उ० १४ : २७)

जिस मनुष्य की मृत्यु से मैत्री हो, जो उसके पंजे से भागकर निकलने का सामर्थ्य रखता हो, जो 'नहीं मरूँगा' यह निश्चय रूप से जानता हो, वही आगामी काल का भरोसा कर सकता है।

५. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहि पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं।।
(उ० १४ : २८)

हम आज ही धर्म अंगीकार करेगे, जिसे प्राप्त करने पर पुनर्भव नहीं होता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो अप्राप्त हो—जिसे हमने नहीं भोगा। श्रद्धा हमे राग से मुक्त करेगी।

६ जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे।। (द० ८ : ३५)

जरा जब तक पीडित नहीं करती, व्याधि जब तक नहीं बढती, इन्द्रियॉ जब तक हीन (शिथिल) नहीं होतीं, वहॉ तक धर्म का भलीभॉति आचरण कर।

७ जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
अहम्म कुणमाणस्स अफला जंति राइओ।। (द० १४ · २४)

जो-जो रात्रि बीतती है, वह लौटकर नही आती। अधर्म करनेवाले की रात्रियाँ निष्फल जाती हैं।

८ जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जति राइओ।। (द० १४ . २५)

जो-जो रात्रि बीतती है, वह लौटकर नहीं आती। धर्म करनेवाले की रात्रियाँ सफल जाती हैं।

६. अद्धाणं जो महत तु अपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ।।
एवं धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो दुही होइ वाहीरोगेहिं पीडिओ।। (उ० १६ : १८-१६)

जैसे कोई लम्बी यात्रा के लिए निकले और साथ मे पाथेय (अन्न-जल) न ले तो जाता हुआ क्षुधा और तृषा से पीडित होकर दु खी होता है, वैसे ही जो धर्म न कर परभव को जाता है वह यात्रा मे व्याधि और रोग से पीडित होकर दुखी होता है।

१० अद्धाणं जो महंतं तु सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ।।
एव धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भव।
गच्छतो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे।। (उ० १६ २०-२१)

जैसे कोई लम्बी यात्रा के लिए निकलने पर साथ मे पाथेय (अन्न-जल) लेता है, तो जाता हुआ क्षुधा और तृषा से पीडित न होकर खुशी होता है, वैसे ही जो धर्म कर परभव को जाता है, वह प्राणी अल्प कर्म और अवेदना के कारण यात्रा मे सुखी रहता है।

११ जहा सागडिओ जाण सम हिच्चा महापह।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गमि सोयई।।
एव धम्म विउक्कम्म अहम्म पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुह पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई।। (उ० ५ . १४, १५)

जिस प्रकार कोई जानकार गाडीवान समतल विशाल मार्ग का परित्याग कर विषम मार्ग को ग्रहण करने पर गाडी की धुरी टूट जाने से खेद करता है, उसी प्रकार धर्म का उल्लघन कर अधर्म को अगीकार कर मूर्ख मृत्यु के मुँह को प्राप्त हो धुरी टूट जानेवाले गाडीवान की तरह खेद करता है।

१२. धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य।।
(भग० आ० १८५८)

धर्म से मनुष्य पूजनीय, विश्वसनीय, प्रिय और यशस्वी होता है। धर्म मनुष्य के लिए सुखसाध्य है। धर्म ही मनुष्य को शांति प्रदान करता है।

१३. खंतीमद्दवअज्ज्वलाघवतवसंजमो अकिंचणदा।
तह होइ बंभचेरं सच्चं चाओ य दसधम्मा।। (मू० ७५४)

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, सयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग धर्म के दश भेद है।

१४. उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जहसो।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ।। (मू० ७५३)

शांति, दया, क्षमा, वैराग्य-भाव ये सब जैसे-जैसे बढते जाते हैं वैसे-वैसे इस जीव के अविनाशी मोक्ष-सुख अनुभव-गोचर होता जाता है।

१५. धम्मं ण मुणदि जीवो अहवा जाणेइ कहव कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कादि मोहपिसाएण भोलविदो।।
(द्वा० अ० ४२६)

पहले तो जीव धर्म को जानता ही नहीं है अथवा किसी तरह बडे कष्ट से जान भी जाता है तो मोह-पिशाच से भ्रमित किया हुआ करने मे समर्थ नहीं होता है।

१६. जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुह लहदि।। (द्वा० अ० ४२७)

जैसे यह जीव पुत्र-कलत्र तथा कामभोग मे रति करता है वैसे ही यदि वह जिनेन्द्र-प्ररूपित धर्म मे करे तो लीलामात्र मे सुख को प्राप्त हो।

१७. लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयर कुणइ।
वीएण विणा कुत्थ वि किं दीसदि सस्सणिप्पत्ती।। (द्वा० अ० ४२८)

यह जीव लक्ष्मी को चाहता है पर अच्छे-अच्छे धर्म मे आदर-बुद्धि नहीं करता। क्या बीज के बिना भी कहीं धान्य की उत्पत्ति दिखाई देती है ?

१८. ता सव्वत्थ वि कित्तो ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो।
ता सव्वं पिय भासइ ता सुद्ध माणसं कुणई।।
(द्वा० अ० ४३०)

जो जीव धर्म मे स्थित है उसकी सर्वत्र कीर्ति होती है, उसका सब लोग विश्वास करते है, वह पुरुष सबको प्रिय वचन कहता है, वह पुरुष अपने तथा दूसरे के मन को शुद्ध करता है।

१६ जो धम्मत्थो जीवो सो रिउवग्गे वि कुणइ खमभाव।
ता परदव्वं वज्जइ जणणिसम गणइ परदार।।
(द्वा० अ० ४२६)

जो जीव धर्म मे स्थित है वह रिपुओ के समूह पर भी क्षमा-भाव करता है, वह परद्रव्य का त्याग करता है और परस्त्री को माता के समान समझता है।

२० उत्तमधम्मेण जुदो होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो।
चडालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण सभवदि।। (द्वा० अ० ४३१)

उत्तम धर्म से युक्त तिर्यंच भी उत्तम देव होता है। उत्तम धर्म से चाडाल भी सुरेन्द्र हो जाता है।

२१ अग्गी वि य होदि हिम होदि भुयगो वि उत्तम रयणं।
जीवस्स सुधम्मादो देवा वि य किकरा होति।।
(द्वा० अ० ४३२)

जीव के उत्तम धर्म के प्रभाव से अग्नि भी हिम हो जाती है, सर्प भी उत्तम रत्नो की माला हो जाता है, देव भी किकर हो जाते है।

२२. देवो वि धम्मोवत्तो मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए ण सपदे होदि।।
(द्वा० अ० ४३५)

धर्मरहित देव भी मिथ्यात्व के वश वृक्षरूपी एकेन्द्रिय जीव हो जाता है। धर्मरहित चक्रवर्ती भी नरक मे पडता है।

२३ इय पच्चक्ख पिच्छिय धम्माहम्माण विविहिमाहप्प।
धम्म आयरह सया पाव दूरेण परिहरह।। (द्वा० अ० ४३७)

हे प्राणियो! इस प्रकार से धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर तुम सदा धर्म का आदर करो और पाप को दूर ही से छोडो।

: ३२ :

श्रामण्य और प्रव्रज्या

१ दुष्कर श्रामण्य

१. विसएहि अरज्जन्तो रज्जंतो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म इमं वयणमब्बवी।। (उ० १६ : ६)

विषयो मे राग न रहने और संयम मे अनुरक्त हो जाने से वैरागी माता-पिता के पास आकर बोला—

२. सुयाणि मे पंच महव्वयाणि।
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णिकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो।। (उ० १६ : १०)

"हे माता! मैंने पॉच महाव्रत सुने हैं। नरक और तिर्यंच योनियो मे दुःख है। मैं इस संसार-रूपी समुद्र से निवृत्त होने की कामनावाला हो गया हूँ। हे माता! मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। मुझे आज्ञा दे।

३. असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे।। (उ० १६ · १३)

"यह शरीर फेन के बुद्‌बुद की तरह क्षणभगुर है। इसे पहले या पीछे अवश्य छोडना पडता है। इस अशाश्वत शरीर मे मुझे जरा भी आनन्द नहीं मिलता।

४. जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ।।
एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि तब्भेहिं अणुमन्निओ।। (उ० १६ · २२-२३)

"जैसे घर मे आग लग जाने पर उस घर का स्वामी सार उपकरणो को उसमे से निकालता है और असार को छोड देता है।

"वैसे ही जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस लोक से मै आपकी अनुमति से आत्मा का उद्धार करूँगा। हे माता-पिता! आप मुझे आज्ञा दे।"

५ त वितऽम्मापियरो सामण्ण पुत्त ! दुच्चर ।
गुणाण तु सहस्साइ धारेयव्वाइं भिक्खुणो ।। (उ० १६ २४)

माता-पिता बोले "हे पुत्र ! भिक्षु को सहस्रो गुण धारण करने पडते हैं। श्रामण्य बडा दुश्चर है।

६. समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करा ।। (उ० १६ . २५)

"शत्रु-मित्र—ससार के सभी प्राणियो के प्रति समभाव और यावज्जीवन प्राणातिपात से विरति—यह दुष्कर है।

७ निच्चकालऽप्पमत्तेण मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्व हियं सच्चं निच्चाउत्तेण दुक्करं ।। (उ० १६ २६)

"सदैव अप्रमत्त भाव से मृषावाद—झूठ का विसर्जन करना और सदा-उपयोग—सावधानीपूर्वक हितकारी सत्य बोलना—यह दुष्कर है।

८ दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जण ।
अणवज्जेसणिज्जस्स गेण्हणा अवि दुक्करं ।। (उ० १६ २७)

"दत-शोधन की शली जैसे पदार्थ का भी बिना दिए ग्रहण न करना तथा निरवद्य और एषणीय पदार्थ ही ग्रहण करना—यह दुष्कर है।

६ विरई अबम्भचेरस्स कामभोगरसन्नुणा ।
उग्ग महव्वयं बम्भं धारेयव्व सुदुक्करं ।। (उ० १६ २८)

"कर्मभोग के रस को जो जान चुका, उसके लिए अब्रह्मचर्य से विरति और यावज्जीवन उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

१० धणधन्नपेसवग्गेसु परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ निम्ममत्त सुदुक्करं ।। (उ० १६ २६)

"धन, धान्य, प्रेष्य वर्ग आदि परिग्रह का यावज्जीवन के लिए विवर्जन तथा सर्व आरम्भ का त्याग एव निर्ममत्व भाव दुष्कर है।

११ चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्कर ।। (उ० १६ ३०)

"चारो ही प्रकार के आहार का रात्रि-भोजन छोडना तथा दूसरे दिन के लिए सन्निधि और सचय का परिहार करना अति दुष्कर है।

१२ छुहा तण्हा य सीउण्ह दसमसगवेयणा।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य तणफासा जल्लमेव य।। (उ० १६ ३१)
तालाणा तज्जणा चेव वहबन्धपरीसहा।
दुक्ख भिक्खायरिया जायणा य अलाभया।। (उ० १६ ३२)

"क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डॉस और मच्छरो की वेदना, आक्रोश, कष्टप्रद स्थान, तृण का बिछौना, मैल, नाडना, तर्जना, बध और बध का परीषह और भिक्षाचर्या, चाचना और अलाभ—इन्हे सहन करना कठिन है।

१३ कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो।
दुक्ख बम्भवय घोरं धारेउ अ महप्पणो।। (उ० १६ ३३)

"यह जो कापोती वृत्ति है, दारुण केश-लोच और घोर ब्रह्मचर्य का धारण करना है, यह महान् आत्माओ के लिए भी कष्टकर है।

१४ सुहोइओ तुमं पुत्ता। सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुम पुत्ता। सामण्णमणुपालिउ।। (उ १६ ३४)

"हे पुत्र। तू सब भोगने योग्य है, सुकुमार है और साफ-सुथरा रहने वाला है। अत हे पुत्र। तू श्रामण्य पालन मे समर्थ नहीं है।

१५ जावज्जीवमविस्सामो गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व जो पुत्ता। होइ दुव्वहो।। (उ० १६ . ३५)

"हे पुत्र। इस श्रामण्य वृत्ति मे जीवनपर्यन्त विश्राम नही है। भारी लौह-भार की तरह यह गुणो का बडा बोझा है, जिसे वहन करना बड़ा दुष्कर है।

१६ आगासे गगसोउ व्व पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहि सागरो चेव तरियव्वो गुणोयही।। (उ० १६ ३६)

"आकाशगगा के स्रोत, प्रतिस्रोत और भुजाओ से सागर को तैरने की तरह गुणो-दधि—गुणो के सागर सयम का तैरना दुष्कर है।

१७ वालुयाकवले चेव निरस्साए उ सजमे।
असिधारागमण चेव दुक्कर चरिउ तवो।। (उ० १६ ३७)

"सयम बालू के कवल की तरह नीरस है तथा तप का आचरण असि-धार पर चलने के समान दुष्कर है।

१८ अहीवेगन्तदिट्ठीए चरित्ते पुत्त दुच्चरे।
जवालोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्कर।। (उ० १६ ३८)

"पुत्र ! सॉप जैसे एकाग्र-दृष्टि के चलता है, वैसे एकाग्र-दृष्टि से चरित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के जवो को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चरित्र का पालन करना कठिन है।

१६ जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउ होइ सुदुक्कर।
तह दुक्कर करेउ जे तारुण्णे समणत्तण।। (उ० १६ · ३६)

"जिस तरह प्रज्वलित अग्निशिखा को पीना अत्यत दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्था मे श्रमणत्व का पालन करना बडा दुष्कर है।

२० जहा दुक्ख भरेउं जे होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्ख करेउ जे कीवेणं समणत्तण।। (उ० १८ ४०)

"जैसे वायु से कोथला—थैला—भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीव (सत्त्वहीन) पुरुष के लिए श्रमणत्व-सयम का पालन करना कठिन है।

२१ जहा तुलाए तोलेउ दुक्करं मदरो गिरी।
तहा निहुय नीसक दुक्कर समणत्तण।। (उ० १६ ४१)

"जैसे मेरु पर्वत को तराजू मे तौलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चल और नि शक भाव से श्रमणत्व का पालन करना दुष्कार है।

२२ जहा भुयाहि तरिउ दुक्कर रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेण दुक्कर दमसागरो।। (उ० १६ ४२)

"जिस तरह भुजाओ से रत्नाकर—समुद्र का तैरना दुष्कर है उसी तरह अनुपशात आत्मा द्वारा दमरूपी समुद्र का तैरना दुष्कर है"

२३ त बित ऽम्मापियरो एवमेय जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किचि वि दुक्कर।। (उ० १६ ४४)

वैरागी बोला "हे माता-पिता ! आपने प्रव्रज्या के विषय मे कहा है, वह सत्य है,, पर इस लोक मे जो पिपासा (तृष्णा) रहित है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही।

२४ अग्ग वणिएहि आहिय धारेती रायाणया इह।
एव परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा।।
(सू० १, २ (३) ३)

"जिस तरह बनियो द्वारा दूर देश से लाए हुए रत्नादि बहुमूल्य और उत्तम द्रव्यो को राजा-महाराजा आदि धारण करते है उसी तरह ज्ञानियो द्वारा कहे हुए पॉच महाव्रत और छट्ठे रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को आत्मार्थी पुरुष ही धारण करते है।"

२५. भुज माणुस्सए भोगे पंचलक्खणए तुम।
भुत्तभोगी तओ जाया पच्छा धम्मं चरिस्ससि।। (उ० १६ : ४३)

माता-पिता वोले · "पुत्र ! तू मनुष्य-सम्बन्धी पाँच इन्द्रियो के भोगो का भोग कर। भुक्तभोगी हो, वाद मे मुनि-धर्म का आचरण करना।"

२६. अम्मताय ! मए भोगा भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा अणुबंधदुहावहा।। (उ० १६ · ११)

"हे माता-पिता ! मैं कामभोग भोग चुका। ये काममोग विषफल के समान हैं। वाद मे इनका फल वडा कटु होता है। ये निरन्तर दु.खावह हैं।

२७. माणुसुत्ते असारम्मि वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि खणं पि न रमामऽहं।। (उ० १६ : १४)

"मनुष्य-जीवन असार है। व्याधि और रोग का घर है। जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमे मुझे एक क्षण के लिए भी आनन्द-प्राप्ति नहीं है।"

२८ तं बिंत ऽम्मापियरो छन्देण पुत्तं ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया।। (उ० १६ : ७५)

माता-पिता ने उससे कहा : "तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ, परन्तु साधु-जीवन मे रोगा की चिकित्सा नहीं की जाती, यह भी दुष्कर है।"

२६. सो बित ऽम्मापियरो ! एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिण।। (उ० १६ : ७६)

वैरागी ने माता-पिता से कहा "आपने जो कहा वह ठीक है, किन्तु अरण्य में हरिण और पक्षियो की चिकित्सा कोन करता है ?

३०. एगभूओ अरण्णे वा जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्म चरिस्सामि संजमेण तवेण य।। (उ० १६ : ७७)

"जैसे जगल मे हरिण अकेला विचरता है, वैसे ही मैं सयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूँगा।

३१ जया मिगस्स आयंको सहारण्णम्मि जायई।
अच्छंन्तं रुक्खमूलम्मि को ण ताहे तिगिच्छई ? (उ० १६ : ७८)

"जव महावन मे हरिण के शरीर मे आतक उत्पन्न होता हे तव किसी वृक्ष के नीचे वैठे हुए उस हरिण की कोन चिकित्सा करता है ?"

३२ को वा से ओसह देई ? को वा से पुच्छई सुह ?
को से भत्त च पाण च आहरित्तु पणामए ? (उ० १६ : ७६)

"कौन उसे औषधि देता है ? कौन उससे सुख की बात पूछता है ? कौन उसे आहार-पानी लाकर देता है ?

३३. जया य से सुही होइ तया गच्छइ गोयरं।
भत्तपाणस्स अट्ठाए बल्लराणि सराणि य।। (उ० १६ : ८०)

"जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर मे जाता है। खाने-पीने के लिए लता-निकुजो और जलाशयो मे जाता है।

३४ खाइत्ता पाणियं पाउ वल्लरेहि सरेहि वा।
मिगचारिय चरित्ताणं गच्छई मिगचारियं।। (उ० १६ · ८१)

"लता-निकुजो और जलाशयो मे खा-पीकर वह मृग-चर्या के द्वारा कूद-फॉद करता हुआ मृग-चर्या—स्वतत्र-विहार के लिए चला जाता है।

३५ एवं समुट्ठिओ भिक्खू एवमेव अणेगओ।
मिगचारिय चरित्ताण उड्ढं पक्कमई दिस।। (उ० १६ ८२)

"इसी प्रकार सयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतंत्र विहार करता हुआ मृग-चर्या का आचरण कर ऊँची दिशा—मोक्ष को चला जाता है।

३६ जहा मिगे एग अणेगचारी अणेगवासे धुवगोयरे य।
एव मुणी गोयरिय पविट्ठे नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा।।
(उ० १६ . ८३)

"जिस प्रकार मृग अकेला अनेक स्थानो मे विचरनेवाला, अनेक स्थानो मे रहनेवाला और सदा गोचर से जीवन-यापन करनेवाला होता हे, वैसे ही श्रमण होता है। गोचर मे प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा या निदा नहीं करता।

३७ मियचारियं चरिस्सामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
तुब्भेहि अम्म ! ऽणुन्नाओ गच्छ पुत्त ! जहासुह।। (उ० १६ ८५)

"हे माता-पिता ! आप दोनो की अनुज्ञा पा मै मृग-चर्या का आचरण करूँगा। प्रव्रज्या सर्व दु खो से मुक्त करनेवाली है।"

माता-पिता बोले "हे पुत्र ! जाओ यथासुख करो।"

३८ एव सो अम्मापियरो अणुमणित्ताण बहुविह।
ममत्तं छिन्दई ताहे महानागो व्व कचुय।। (उ० १६ ८६)

इस प्रकार माता-पिता को सम्मत कर वह वैरागी अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोडता है जिस प्रकार महानाग कॉचली को छोडता है।

३६ इड्ढिं वित्त च मित्ते य पुत्तदार च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ।। (उ० १६ ८७)

जैसे कपडे मे लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार ऋद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनो के मोह को छिटकाकर वह वैरागी घर से निकल पडा।

२. प्रत्याख्यान और प्रव्रज्या

१ पढमे भंते ! महव्वए पाणइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुम वा बायर वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहि पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण। न करेमि न कारवेमि करतं पि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
पढमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सब्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण। (द० ४, सू० ११)

हे भन्ते ! प्रथम महाव्रत मे सर्व प्राणातिपात—हिसा से विरमण होता है।

हे भन्ते ! मै सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूॅ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी है, मैं स्वय उनके प्राणो का अतिपात—हिसा नहीं करूँगा, दूसरो से अतिपात नहीं कराऊंगा और अतिपात करनेवालो का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करनेवालो का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। प्राणातिपात का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भन्ते ! मैंने अतीत मे जो प्राणातिपात किया, उससे अलग होता हूॅ, उसकी निन्दा करता हूॅ, गर्हा करता हूॅ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूॅ।

हे भन्ते ! सर्व प्राणातिपात-विरमण के लिए प्रथम महाव्रत मे मैं उपस्थित हुआ हूॅ।

२. अहावरे दोच्चे भते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्व भंते ! मुसावाय पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुस वएज्जा नेवन्नेहि मुसं वायावेज्जा मुस वयते वि अन्ने न समणु-

जाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करत पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्सय भते। पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।
दोच्चे भते । महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमण।
(द० ४, सू० १२)

हे भन्ते । इसके बाद दूसरे महाव्रत मे मृषावाद—झूठ से विरमण होता है। हे भन्ते । मै सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से या भय से या हँसी मे मै स्वय झूठ नही बोलूँगा, दूसरो से झूठ नही बुलवाऊँगा और झूठ बोलनेवालो का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा और करनेवालो का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। मृषावाद का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भन्ते । मैने अतीत मे झूठ बोला है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भन्ते । मै सर्व मृषावाद से विरमण के लिए इस दूसरे महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ।

३ अहावरे तच्चे भंते । महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमण सव्व भते । अदिन्नादाण पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्प वा बहु वा अणु वा थूलं वा चित्तमत वा अचित्तमत वा, नेव सय अदिन्न गेण्हेज्जा नेवन्नेहि अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्न गेण्हते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करत पि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भते । पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।
तच्चे भते । महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण।
(द० ४, सू० १३)

हे भन्ते । इसके बाद तीसरे महाव्रत मे अदत्त—चोरी से विरमण होता है।

हे भन्ते । मैं सर्व अदत्त ग्रहण का प्रत्याख्यान करता हूँ। ग्राम मे, नगर मे या अरण्य मे—कही भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—किसी भी अदत्त-वस्तु को मैं स्वय ग्रहण नहीं करूँगा, अदत्त-वस्तु को दूसरे से ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करनेवालो का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से मन, वचन और काया से नही करूँगा, नहीं कराऊँगा, करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। अदत्त ग्रहण का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भन्ते। अतीत मे मैने अदत्त ग्रहण किया है—चोरी की है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग, करता हूँ।

हे भन्ते। मै सर्व अदत्त से विरमण के लिए इस तीसरे महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ।

४ अहावरे चउत्थे भते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते। मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्व वा माणुस वा तिरिक्खजोणिय वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहि मेहुण सेवावेज्जा मेहुणं सेवते वि अन्ने न समणु-जाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करतं पि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भंते। पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
चउत्थे भंते। महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण।

(द० ४, सू० १४)

हे भते। इसके बाद चौथे महाव्रत मे मैथुन से विरमण होता है।

हे भते। मैं सर्व मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च-सम्बन्धी—जो भी मैथुन है, मै उसका सेवन नहीं करूँगा, दूसरे से मैथुन का सेवन नही कराऊँगा और मैथुन सेवन करनेवालो का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नही करूँगा, नही कराऊँगा, करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा। मैथुन सेवन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भते। मैने अतीत मे मैथुन सेवन किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भते। मै सर्व मैथुन से विरमण के लिए इस चौथे महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ।

५ अहावरे पचमे भते। महव्वए परिग्गहाओ वेरमण सव्व भते। परिग्गह पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्प वा बहु वा अणु वा थूलं वा चित्तमत वा, अचित्तमत वा, नेव सय परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहि परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गह परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंत पि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भते। पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
पचमे भते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण।

(द० ४, सू० १५)

हे भते। इसके बाद पॉचवे महाव्रत मे परिग्रह से विरमण होता है।

हे भते। मैं सर्व प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गॉव मे, नगर मे

या अरण्य मे—कहीं भी अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त परिग्रह मै स्वय ग्रहण नही करूँगा, दूसरो से परिग्रह ग्रहण नही कराऊँगा और परिग्रह ग्रहण करनेवालो का अनुमोदन भी नही करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नही कराऊँगा, करनेवालो का अनुमोदन भी नही करूँगा। परिग्रह ग्रहण का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भते! मैने अतीत मे परिग्रह सेवन किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भते! मै सर्व परिग्रह से विरमण के लिए इस पाँचवे महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ।

६ अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमण सव्व भते! राई-भोयणं पच्चक्खामि—से असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा, नेव सय राइ भुजेज्जा नेवन्नेहि राइ भुजावेज्जा राइं भुजते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करत पि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भते! पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।
छटठे भते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमण।।
(द० ४, सू० १६)

हे भते! इसके बाद छठे व्रत मे रात्रि-भोजन से विरमण होता है।

हे भते! मै सर्व रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्य वस्तुओ का मै स्वय रात्रि मे भोजन नहीं करूँगा, न दूसरो से रात्रि मे भोजन कराऊँगा और रात्रि मे भोजन करनेवालो का अनुमोदन भी नही करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नही कराऊँगा, करनेवालो का अनुमोदन भी नही करूँगा। रात्रि-भोजन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान—त्याग है।

हे भते! मैने अतीत मे रात्रि-भोजन किया है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भते! मै सर्व रात्रि-भोजन से विरमण के लिए इस छठे व्रत मे उपस्थित हुआ हूँ।

७ इच्चेयाइ पच महव्वयाइ राईभोयण वेरमण छट्ठाइ अत्तहियट्ठयाए उव-सपज्जित्ताण विहरामि। (द० ४, सू० १७)

पूर्वोक्त पाँच महाव्रत और छठे इस रात्रि-भोजन विरमण व्रत को आत्महित के लिए ग्रहण कर मैं सयम मे विचरण करता हूँ।

३. प्रवचन-माताएँ

१ अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य।
पचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया।। (उ० २४ : १)

समिति ओर गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताएँ कही गई है। समितियाँ पॉच है और गुप्तियाँ तीन।

२ इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा।। (उ० २४ . २)

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति और उच्चार समिति तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये आठ प्रवचन-माताएँ है।

३. पणिधाणजोगजुत्तो पचसु समिदिसु तीसु गुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो।। (मू० २६७)

भावो के योग से युक्त पॉच समिति और तीन गुप्तियो मे जो प्रवृत्ति है, वही आठ प्रकार का चारित्राचार है—ऐसा जानना चाहिए।

४ एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदसणचरित्त।
रक्खति सदा मुणिणो मादा पुत्त व पयदाओ।।[१] (मू० ३३६)

ये आठ प्रवचन-माताएँ मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उसी प्रकार रक्षा करती है जिस प्रकार माता प्रयत्नपूर्वक पुत्र की।

५ एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खाय माय जत्थ उ पवयणं।। (उ० २४ . ३)

नीचे इन आठ—पॉच समितियो और तीन गुप्तियो का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। जिन-भाषित द्वादशाग उक्त आठो प्रवचन-माताओ मे समाया हुआ है।

१. ईर्या समिति

६ फासुयमग्गेण दिवा जुगतरप्पेहणा सकज्जेण।
जतूण परिहरति इरियासमिदि हवे गमण।। (मू० ११)

निर्जीव मार्ग से दिन मे चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए तथा प्राणियो का परिहार करते हुए अपने कार्य के लिए सयमी का जो गमन है, वह ईर्या समिति है।

---

१ भग० आ० १२०५।

७ आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्ध सजए इरिय रिए।। (उ० २४ ४)

सयमी आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणो से परिशुद्ध ईर्या से चले।

८. तत्थ आलम्बण नाण दसणं चरण तहा।
काले य दिबसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए।। (उ० २४ ५)

उनमे ईर्या का आलम्बन (हेतु) ज्ञान, दर्शन और चरण (चारित्र) है। ईर्या का काल दिन कहा गया है। ईर्या का मार्ग—उत्पथ-वर्जन—सुपथ है।

९ दब्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्त च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा उवउत्ते य भावओ।। (उ० २४ ७)

द्रव्य से—ऑखो से देखकर चले। क्षेत्र से—युग मात्र—गाडी के—धुरे—जितने मार्ग को देखकर चले। काल से—जब तक चलता रहे तब तक। भाव से—जब चले तब उपयोगपूर्वक चले।

१० इदियत्थे विवज्जित्ता सज्झायं चेव पचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरिय रिए।। (उ० २४ ८)

इन्द्रियो के विषय और पॉच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर ईया—चलने—मे ही तन्मय हो और उसी को प्रधान कर मार्ग मे उपयोगपूर्वक चले।

२ भाषा समिति

११ पेसुण्णहासकक्कसपरणिदाप्पप्पससविकहादि।
वज्जित्ता सपरहिद भासासमिदी हवे कहण।। (मू० १२)

पैशुन्य, हास्य, कर्कश वचन, पर-निन्दा, आत्म-प्रशसा और विकथा रूप वचनो का परिहार कर स्व-पर-हितकारी वचन कहना भाषा समिति कहलाती है।

१२ कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव च।। (उ० २४ ९)

क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा—वाणी के इन दोषो के सम्बन्ध मे उपयुक्तता—पूरा ध्यान रखना चाहिए।

१३. एयाइ अट्ठ ठाणाइ परिवज्जित्तु सजए।
असावज्जं मियं काले भास भासेज्ज पन्नव।। (उ० २४ १०)

प्रज्ञावान् संयमी (उक्त) आठ स्थानो का वर्जन करता हुआ यथासमय परिमित और असावद्य भाषा वोले।

१४. तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भयसा व माणवो न हासमाणो वि गिरं वएज्जा।।
(द० ७ : ५४)

इसी तरह जो भाषा सावद्य—पाप-कार्य की अनुमोदना करनेवाली हो, जो निश्चयात्मक हो, जो पर की घात करनेवाली हो, वैसी भाषा मुनि क्रोध से, लोभ से, भय से या हास-परिहास से न वोले।

१५. सच्च असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदि हवदि सुद्धा।। (भग० आ० ११६२)

अलीक आदि दोषो से रहित, अनवद्य वचन वोलनेवाले श्रमण के भाषा समिति होती है। श्रमण सत्य तथा न सत्य न असत्य (व्यवहार) भाषा वोलते हैं।

१६ सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिय अदुट्ठं अणुवीइ भासए सयाण मज्झे लहई पसंसण।।
(द० ७ : ५५)

जो मुनि वाक्य-शुद्धि की आलोचना कर दुष्टगिरा को सदा के लिए छोड देता है, और जो विचारकर मित और अदुष्ट भाषा वोलता है वह सत्पुरुषो मे प्रशसा प्राप्त करता है।

१७ भासाए दोसे य गुणे य जाणिया तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।।
(द० ७ : ५६)

षट्काय के जीवो के प्रति सयत तथा श्रामण्य मे सदा यतनाशील बुद्ध पुरुष भाषा के गुण और दोषो को भली भॉति जानकर दुष्ट भाषा को सदा के लिए छोड दे और हितकारी तथा आनुलोमिक—अनुकूल—सुमधुर भाषा वोले।

३ एषणा समिति

१८ कदकारिदाणुमोदणरहिद तह पासुगं पसत्थ च,
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी।। (नि० सा० ६३)

कृत, कारित और अनुमोदनरहित, प्रासुक प्रशस्त तथा दूसरे के द्वारा दिया गया भोजन समभावपूर्वक ग्रहण करना एषणा समिति है।

४ आदान समिति

१९ णाणुवहि सजमुवहि सौचुवहि अण्णमप्पमुवहि वा।
पयद गहणिक्खेवो समिदि आदाणणिक्खेवा।। (मू० १४)

ज्ञानोपकरण, सयमोपकरण, शौचोपकरण तथा अन्य उपकरणो का यत्नपूर्वक (देख-शोधकर) उठाना-रखना आदाननिक्षेपण समिति कही जाती है।

२० चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जय जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया।। (उ० २४ १४)

यतनाशील साधु औधिक और औपग्रहिक दोनो प्रकार के उपकरणो का ऑखो से प्रतिलेखन कर प्रमार्जन करे तथा उनके उठाने और रखने मे सदा समितियुक्त—सावधान हो।

२१ एगते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी।। (मू० १५)

एकान्त, जीवरहित, दूर, छिपे, विशाल और लोग जिसका विरोध न करे ऐसे स्थान मे मूत्र-विष्ठा आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति कही जाती है।

५ उत्सर्ग समिति

२२ उच्चार पासवण खेलं सिघाणजल्लिय।
आहार उवहि देह अन्न वावि तहाविह।। (उ० २४ १५)
अणावायमसलोए परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयमि य।। (उ० २४ · १७)
विथ्थिण्णे दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे।। (उ० २४ १८)

उच्चार—मल, प्रस्रवण—मूत्र, खखार,, नासिका का मैल, शरीर का मैल, आहार, उपधि, देह—शव तथा और इसी प्रकार की उत्सर्ग-योग्य वस्तुओ का मुनि उस स्थान मे—जहॉ न कोई आता हो और जहॉ से न कोई दीखता हो, जहॉ दूसरे जीवो की घात न हो, जो प्राय सम हो तथा जो पोला या दराररहित हो तथा जो कुछ काल से अचित्त हो, जो विस्तृत हो, काफी नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादि से अति समीप न हो, मूषकादि के बिल तथा त्रस प्राणी ओर बीजो से रहित हो—उत्सर्ग करे।

२३ समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरदि।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहि अच्छित्तो।। (भग० आ० १८४१)

पॉच समिति रूप दृढ नाव पर चढकर अप्रमत्त पुरुप छ. प्रकार के जीव-समूह की हिसा आदि पाप रूप मगरमच्छ से अस्पृष्ट होता हुआ ससाररूपी समुद्र को पार करता है।

२४ एदाहि सया जुत्तो समिदीहि महि विहरमाणोवि।
हिसादीहि ण लिप्पइ जीवणिकाआडले साहू।।[1] (मू० ३२६)

इन पॉच समितियो से सदा युक्त साधु जीव-समूह से भरी हुई पृथ्वी मे विहार करता हुआ भी हिसादि पापो से लिप्त नहीं होता।

२५. पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं।
तह समिदीहि ण लिप्पदि साधू काएसु इरियंतो।।[2]
(मू० ३२७)

जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता स्नेह-गुण युक्त होने के कारण जल से लिप्त नहीं होता, उसी तरह समितियो से युक्त पुरुप जीव-निकायो मे विहार करता हुआ भी पापो से लिप्त नहीं होता।

२६ सरवासेहि पडंतेहि जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहि।
तह सतिदीहि ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो।।[3] (मू० ३२८)

जिस प्रकार दृढ कवचधारी योद्धा वाणो की वर्षा होते हुए भी वाणो से विद्ध नहीं होता, उसी प्रकार समितियो से युक्त साधु जीव-समूह मे विहार करता हुआ भी आस्रवो से लिप्त नहीं होता।

६ मनोगुप्ति

२७ कालुस्समोहसण्णा-रागद्दोसाइ-असुहभावणं।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।। (नि० सा० ६६)

कलुषता, मोह, सज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावो के परिहार को व्यवहार-नय से मनोगुप्ति कहा हे।

२८ सरम्भसमारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मण पवत्तमाण तु नियत्तेज्ज जय जई।। (उ० २४ २१)

यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ ओर आरम्भ मे प्रवृत्त होते हुए मन को निवृत्त करे—हटाये।

---

१ भग० आ० १२००।
२ भग० आ० १२०१।
३ भग० आ० १२०२।

७ वचन गुप्ति

२६. थी-राज-चोर-भत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वयगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा।। (नि० सा० ६७)

पाप की हेतु स्त्री-कथा, राज-कथा, चोर-कथा और भोजन-कथा रूप वचनो का त्याग करना वचनगुप्ति है अथवा असत्य आदि दोषो से युक्त वचन न बोलना वचनगुप्ति है।

३० सरम्भसमारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई।। (उ० २४ · २३)

यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होते हुए वचन को निवृत्त करे—हटावे।

८. काय गुप्ति

३१ बधण-छेदण-मारण-आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति।। (नि० सा० ६८)

बॉधना, छेदना, मारना, सकोचना तथा फैलाना आदि काय-क्रियाओ से निवृत्ति कायगुप्ति कही गई है।

३२. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लघणे इन्दियाण य जुंजणे।। (उ० २४ २४)
सरम्भसमारम्भे आरम्भम्मि तहेव य।
काय पवत्तमाण तु नियत्तेज्ज जय जई।। (उ० २४ : २५)

यतनाशील व्यक्ति ठहरने के विषय मे, बैठने के विषय मे, शयन के विषय मे, उल्लघन-प्रलघन के विषय मे तथा इन्द्रियो के प्रयोग मे काया को सयम मे रखे तथा सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होती हुई काया को निवृत्त करे—हटावे।

३३ जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा मोण वा होदि वचिगुत्ती।। (मू० ३३२)

निश्चयनय से मन की जो रागादि से निवृत्ति है उसे ही मनोगुप्ति जानो—झूठ आदि से निवृत्ति अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति कहलाती है।

३४ कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा।।[1] (मू० ३३३)

---

१ भग० आ० ११८८।

निश्चयनय से शरीर सवधी चेष्टा की निवृत्ति अथवा कायोत्सर्ग या हिसादि से निवृत्त होना कायगुप्ति कहलाती है।

३५. मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहि दु गुत्तो हवदि एसो।। (मू० ३३१)

सावद्य-हिंसादि कार्यो से सयुक्त मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता हुआ साधु तीन गुप्ति का धारक होता है।

३६ गुत्तिपरिखाइगुत्त संजमणयरं य कम्मरिउसेणा।
बंधेइ सत्तुसेणा पुरं व परखादिहि सुगुत्तं।। (भग० आ० १८४०)

गुप्तिरूपी परिखा से रक्षित संयमरूपी नगर को कर्मरूपी शत्रुओ की सेना उसी प्रकार नहीं बॉध सकती, जिस प्रकार परिखा आदि से सुरक्षित नगर को शत्रुओ की सेना।

३७. खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पापस्स णिरोही ताओ गुत्तीओ साहुस्स।।[1] (मू० ३३४)

जैसे खेत के लिए वाड तथा नगर के लिए खाई और परकोटा होता है उसी प्रकार पापों को रोकने के लिए गुप्तियॉ होती हैं।

३८. तम्हा तिविहेण तुमं णिच्चं मणवयणकायजोगेहि।
होहिसु समाहिदमई णिरतरं झाण सज्झाए।। (मू० ३३५)

इस कारण हे पुरुष ! तू कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन और काया के योगो (प्रवृत्ति) से हमेशा ध्यान और स्वाध्याय मे सावधानी से चित्त को लगा।

३९. एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो।। (उ० २४ . २६)

उक्त पॉचो समितियॉ चरित्र की प्रवृत्ति के विषय मे कही गई हैं और तीनो गुप्तियॉ सर्व प्रकार के अशुभ अर्थो (मनोयोगादि) से निवृत्ति के विषय मे कही गई है।

४०. एया पवयणमाया जे सम्म आयरे मुणी।
से खिप्प सव्वससारा विप्पमुच्चइ पण्डिए।। (उ० २४ : २७)

जो मुनि इन प्रवचन-माताओ का सम्यक् भाव से आचरण करता है, वह पण्डित सर्व ससार-चक्र से शीघ्र ही छूट जाता है।

---

१ भग० आ० ११८६।

४. भिक्षाचर्या और आहार-विधि

१. सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं।
अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए।। (द० ५ (२) : ६)

भिक्षु भिक्षा का काल उपस्थित होने पर गोचरी के लिए जाय और यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे किन्तु सहज ही तप हुआ—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को सहन करे।

२. समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिन्दियं।
लाभालाभम्मि सतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी।। (उ० ३५ . १६)

मुनि सूत्र के नियमानुसार निर्दोष और सामुदायिक उञ्छ की गवेषणा करे। वह लाभालाभ मे सतुष्ट रहता हुआ भिक्षाचर्या करे।

३. कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे।।[1] (उ० १ . ३१)

साधु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर वापस आ जाय। अकाल को टालकर नियत काल पर कार्य करे।

४. सपत्ते भिक्खकालम्मि असंभतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण भत्तापाणं गवेसए।। (द० ५ (१) : १)

भिक्षा का काल प्राप्त होने पर साधु असभ्रांत, उद्वेगरहित और आहारादि मे मूर्च्छित न होता हुआ इस आगे बताई जाने वाली विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।

५. एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहि पिडवाय गवेसए।। (उ० ६ : १६)

एषणा समिति से युक्त सयमशील साधु अनियमित रूप से ग्राम मे विचरण करे और प्रमादरहित रह प्रमत्तो (गृहस्थो) से पिण्डपात (आहारादि) की गवेषणा करे।

६. से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा।। (द० ५ (१) . २)

गॉव मे अथवा नगर मे गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित, शातचित्त और मद गति से चले।

---

१ द० ५ (२) ४।

७ पुरओ जुर्गमायाए पेहमाणो महि चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइ पाणे य दगमट्टियं।। (द० ५ (१) · ३)

मुनि सामने युग-प्रमाण (चार हाथ प्रमाण) पृथ्वी को देखता हुआ बीज, हरित-वनस्पति, प्राणी, जल तथा मिट्टी को टालता हुआ चले।

८ न चरेज्ज वासे वासंते महियाए व पडंतीए।
महावाए व वायंते तिरिच्छसंपाइमेसु वा।। (द० ५ (१) . ८)

वर्षा बरस रही हो, धूँअर—कुहरा गिर रहा हो, महावात—ऑधी चल रही हो, पतग-कीट आदि अनेक सपातिम जीव उड रहे हो, उस समय साधु बाहर न जावे।

९ अणुन्नए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले।
इदियाणि जहाभाग दमइत्ता मुणी चरे।। (द० ५ (१) . १३)

मुनि न ऊपर की ओर मुँह कर और न नीचे की ओर ताकता हुआ चले। वह न हर्षित, न व्याकुल इन्द्रियो को यथाक्रम से दमन करता हुआ चले।

१०. दवदवस्स न गच्छेज्जा भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा कुलं उच्चावयं सया।। (द० ५ (१) . १४)

गोचरी मे निकला हुआ साधु दौडता हुआ न जाय और न हँसता हुआ तथा बोलता हुआ जाय, किन्तु हमेशा ऊँच-नीच कुल मे ईर्यासमितिपूर्वक गोचरी जाय।

११ समुयाण चरे भिक्खू कुल उच्चावय सया।
नीय कुलमइक्कम्म ऊसढ नाभिधारए।। (द० ५ (२) . २५)

भिक्षु सदा ऊँच और नीच—धनी और गरीब कुलो मे सामुदायिक रूप से भिक्षा के लिए जावे। नीच—गरीब कुलो को लॉघकर उच्च—धनवान के घर पर न जावे।

१२ पडिकुट्ठकुल न पविसे मामग परिवज्जए।
अचियत्तकुल न पविसे चियत्त पविसे कुलं।। (द० ५ (१) १७)

साधु शास्त्रनिषिद्ध कुल मे गोचरी के लिए न जाय, स्वामी ने ना कर दी हो तो उस घर मे न जाय तथा प्रीतिरहित कुल मे प्रवेश न करे। वह प्रतीतिवाले घर मे जाय।

१३ अदीणो वित्तिमेसेज्जा न विसीएज्ज पडिए।
अमुच्छिओ भोयणम्मि मायन्ने एसणारए।। (द० ५ (२) २६)

आहार-पान की मात्रा को जाननेवाला और आहार की शुद्धि मे तत्पर पडित साधु-भोजन मे गृद्धिभाव न रखता हुआ अदीनभाव से आहार आदि की गवेषणा करे। यदि आहारदि न मिले तो खेद न करे।

१४ असंसत्तं पलोएज्जा नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए नियट्टेज्ज अयंपिरो।। (द० ५ (१) · २३)

गोचरी के लिए गया हुआ साधु आसक्तिपूर्वक न देखे, दूर तक लम्बी दृष्टि डालकर न देखे, उत्फुल्ल आँखो से न देखे। यदि भिक्षा की ना कहे तो बडबडाहट न कर—चुपचाप वापस लौट आवे।

१५. नाइदूरमणासन्ने नन्नेसिं चक्खु-फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा लंघिया तं नइक्कमे।। (उ० १ ३३)

यदि गृहस्थ के घर मे पहले से ही कोई भिक्षु भिक्षा के लिए खडा हो तो साधु न अति दूर न अति नजदीक एकान्त मे ऐसे स्थान पर खडा रहे जहाँ दूसरो का दृष्टि-स्पर्श न हो। वह भिक्षा के लिए उपस्थित मनुष्य को उल्लघन कर घर मे प्रवेश न करे।

१६ अइभूमिं न गच्छेज्जा गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता मियं भूमिं परक्कमे।। (द० ५ (१) २४)

गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि अतिभूमि मे (गृहस्थ की मर्यादित भूमि से) आगे न जाय, किन्तु कुल की मर्यादित भूमि को जानकर सीमित भूमि मे ही रहे।

१७ दगमट्टियआयाणं बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा सव्विंदियसमाहिए।। (द० ५ (१) · २६)

सर्व इन्द्रियो को वश मे रखता हुआ मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी लाने के मार्ग को तथा बीज और हरितकाय को टालकर यतनापूर्वक खडा रहे।

१८ पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे ण य रुवेसु मणं करे।। (द० ८ १६)

जल के लिए अथवा भोजन के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करके साधु यतनापूर्वक खडा रहे, थोडा बोले, स्त्रियो के रूप मे मन को न लगावे।

१६ तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न इच्छेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं।। (द० ५ (१) २७)

वहाँ मर्यादित भूमि मे खडे हुए साधु को गृहस्थ आहार-पानी दे, वह काल्पनिक हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकाल्पनिक हो तो ग्रहण न करे।

२०. नाइउच्चे व नीए वा नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं पडिगाहेज्ज संजए।। (उ० १ ३४)

गृहस्थ के घर में जाकर संयमी न अति ऊँचे से, न अति नीचे से, न अति समीप से और न अति दूर से प्रासुक (अचित्त) और परकृत (दूसरों के निमित्त बने हुए) पिण्ड (आहार) को ग्रहण करे।

२१. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।।
एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया।। (द० १ : २-३)

जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के फूलों से रस पीता हुआ भी उन्हें ग्लान नहीं करता और अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लेता है, उसी प्रकार लोक में जो मुक्त—परिग्रहरहित श्रमण हैं वे दाता द्वारा दिए जानेवाले निर्दोष आहार की एषणा में रत होते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों में।

२२. अतिंतिणे अचवले अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते थोवं लद्धुं न खिंसए।। (द० ८ : २६)

साधु तिनतिनाहट न करनेवाला, चपलतारहित, अल्पभाषी, मित आहार करनेवाला और उदर का दमन करनेवाला हो तथा थोड़ा आहार मिलने पर क्रोधित न हो।

२३. बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा।। (द० ५ (२) : २७)

गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार के बहुत से खाद्य-स्वाद्य पदार्थ होते हैं। यदि गृहस्थ साधु को न दे तो बुद्धिमान साधु उस पर कोप न करे, पर विचार करे। वह गृहस्थ है यह उसकी इच्छा है कि दे या न दे।

२४. दोण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा छंदं से पडिलेहए।। (द० ५ (१) : ३७)

गृहस्थ के घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उनमें से यदि एक व्यक्ति निमन्त्रण करे तो साधु लेने की इच्छा न करे। दूसरे के अभिप्राय को देखे।

२५. गुव्विणीए उवन्नत्थं विविहं पाणभोयणं।
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा भुत्तसेसं पडिच्छए।। (द० ५ (१) : ३९)

गर्भवती स्त्री द्वारा अपने लिए बनाया हुआ विविध आहार-पान यदि वह खा रही हो तो साधु उन्हें न ले किन्तु यदि उसके खा चुकने के पश्चात् कुछ बचा हो तो साधु उसे ग्रहण करे।

२६. सिया य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा निसन्ना वा पुणुट्ठए।। (द० ५ (१) : ४०)

त भवे भत्तपाण तु सजयाण अकप्पिय।
देतिय पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं।। (द० ५ (१) · ४१

यदि कदाचित् कालप्राप्त गर्भवती स्त्री खडी हो और साधु को आहारादि देने के लिए बैठे अथवा पहले बैठी हो और फिर खडी हो तो वह आहार-पानी साधु के लिए अकल्प्य होता है। अत देनेवाली बाई से कहे—इस प्रकार दिया जाने वाला भक्त-पान लेना मुझे नही कल्पता।

२७. थणगं पिज्जेमाणी दारग वा कुमारियं।
त निक्खिवित्तु रोयतं आहरे पाणभोयण।।
तं भवे भत्तपाण तु सजयाण अकप्पिय।
देतिय पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिस।। (द० ५ (१) ४२-४३)

बालक को अथवा बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड भक्त-पान लाये तो वह आहार-पान साधु के लिए अकल्पनीय होता है। अत उस देनेवाली स्त्री से साधु कहे—इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता है।

२८ असण पाणग वा वि खाइम साइमं तहा।
ज जाणेज्ज सुणेज्जा वा दाणट्ठा पगडं इमं।।
त भवे भत्तपाण तु सजयाण अकप्पिय।
देतिय पढियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं।।(द० ५ (१) : ४७-४८)

जिस आहार, पान, खाद्य, स्वाद्य के विषय मे साधु इस प्रकार जान ले अथवा सुन ले कि यह दान के लिए, पुण्य के लिए, याचको के लिए तथा श्रमणो—भिक्षुओ के लिए बनाया गया है तो वह भक्त-पान साधु के लिए अकल्पनीय होता है। अत साधु दाता से कहे—इस प्रकार का आहारादि मुझे नहीं कल्पता।

२९ कद मूल पलबं वा आम छिन्न व सन्निरं।
तुबाग सिगबेर च आमग परिवज्जए।। (द० ५ (१) ७०)

कच्चा कद—जमीकन्द, मूल, फल अथवा काटी हुई भी सचित्त पत्तो की भाजी, घीया और अदरक साधु न ले।

३० न य भोयणम्मि गिद्धो चरे उछ अयपिरो।
अफासुय न भुजेज्जा कीयमुद्देसियाहड।। (द० ८ २३)

भोजन मे गृद्ध न हो। साधु केवल सम्पन्न दाताओ के घर मे ही भिक्षा के लिए न जाय। वाचालता-रहित होकर उछ ले। अप्रासुक साधु के लिए क्रीत—खरीदा हुआ, औद्देशिक साधु के लिए बनाया हुआ तथा आहृत—साधु के लिए सामने लाया हुआ आहार ग्रहण न करे। यदि कदाचित् भूल से ग्रहण कर ले तो उसे न भोगे।

३१ बहु सुणेइ कण्णेहि बहु अच्छीहि पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ।। (द० ८ : २०)

साधु कानो से बहुत बाते सुनता है, ऑखो से वहुत बाते देखता है, परंतु देखी हुई, सुनी हुई सारी बाते किसी से कहना साधु के लिए उचित नहीं है।

३२ निट्ठाणं रसनिज्जूढं भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा लाभालाभं न निद्दिसे।। (द० ८ . २२)

किसी के पूछने पर अथवा बिना पूछे यह आहार सरस है, यह नीरस है,, यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा न कहे। साधु लाभालाभ की चर्चा न करे।

३३. विणएण पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे।। (द० ५ (१) . ८८)

भिक्षा से वापिस आने पर मुनि विनयपूर्वक अपने स्थान मे प्रवेश करे और गुरु के पास आकर ईर्यावही सूत्र को पढकर प्रतिक्रमण करे।

३४. आभोएत्ताण नीसेसं अइयार जहक्कम।
गमणागमणे चेव भत्तपाणे व संजए।। (द० ५ (१) . ८६)
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे जं जहा गहिय भवे।। (द० ३ (१) ६०)

आने-जाने मे और आहारादि ग्रहण करने मे लगे हुए सव अतिचारो को तथा जो आहार-पानी जिस प्रकार से ग्रहण किया हो उसे यथाक्रम से उपयोगपूर्वक याद कर वह सरल बुद्धिवाला मुनि उद्वेग-रहित एकाग्र चित्त से गुरु के पास आलोचना करे।

३५ अहो जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा।। (द० ५ (१) ६२)

कायोत्सर्ग मे स्थित मुनि इस प्रकार विचार करे कि अहो । जिन भगवान ने मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत साधु के शरीर को धारण करने के लिए कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति का उपदेश किया है।

३६ नमोक्कारेण पारेत्ता करेत्ता जिणसंथव।
सज्झाय पट्ठवेत्ताणं वीसमेज्ज खण मुणी।। (द० ५ (१) · ६३)

मुनि 'णमो अरिहंताण' पाठ के उच्चारण द्वारा कायोत्सर्ग को पूरा कर, जिन-स्तुति करके स्वाध्याय करता हुआ कुछ समय के लिए विश्राम करे।

३७ वीसमतो इम चिते हियमट्ठ लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू होज्जामि तारिओ।। (द० ५ (१) · ६४)

निर्जरारूपी लाभ का इच्छुक साधु विश्राम करता हुआ अपने कल्याण के लिए इस प्रकार चितन करे कि यदि कोई साधु मुझ पर अनुग्रह करे—मेरे आहार मे से कुछ आहार ग्रहण करे तो मैं धन्य हो जाऊ—मानूँ कि उन्होने मुझे ससार-समुद्र से पार कर दिया।

३८. साहवो तो चियत्तेणं निमतेज्ज जहक्कमं।
जेइ तत्थ केइ इच्छेज्जा तेहि सद्धिं तु भुंजए।। (द० ५ (१) . ६५)

इस प्रकार विचार कर मुनि सब साधुओ को प्रीतिपूर्वक यथाक्रम से निमन्त्रित करे। यदि उनमे से कोई साधु आहार करना चाहे तो उनके साथ आहार करे।

३६ अह कोइ न इच्छेज्जा तओ भुजेज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू जय अप्परिसाडय।। (द० ५ (१) ६६)

इस प्रकार निमन्त्रित करने पर यदि कोई साधु आहार लेना न चाहे तो फिर वह साधु अकेला ही चौडे मुखवाले प्रकाशमय पात्र मे नीचे नहीं गिराता हुआ यतनापूर्वक आहार करे।

४०. तित्तग व कडुय व कसायं अंबिलं व महुरं लवण वा।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्त महु-घय व भुंजेज्ज संजए।।
(द० ५ (१) ६७)

गृहस्थ के लिए बना हुआ तथा शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त वह आहार तिक्त या कड़ुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन—चाहे जैसा भी हो, साधु उस को मधु-घृत की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।

४१ अलोले न रसे गिद्धे जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुजिज्जा जवणट्ठाए महामुणी।। (उ० ३५ १७)

लोलुपतारहित, रस मे गृद्धिरहित, जिह्वा-इन्द्रिय को दमन करनेवाला और आहार की मूर्च्छा से रहित महामुनि रस के लिए—स्वाद के लिए—आहार न करे, परतु सयम के निर्वाह के लिए ही आहार करे।

४२ अरस विरस वा वि सूइय वा असूइय।
उल्लं वा जइ वा सुक्क मन्थु-कुम्मास-भोयण।।
उप्पण्ण नाइहीलेज्जा अप्प पि बहु फासुय।
मुहालद्ध मुहाजीवी भुंजेज्जा दोषवज्जिय।। (द० ५ (१) · ६८-६६)

मुधाजीवी साधु शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त आहार की—चाहे वह रसरहित हो या विरस, बघार-छौक दिया हुआ हो अथवा बघाररहित, गीला हो अथवा सूखा, मथु का हो या कुल्माष का, थोडा हो या अधिक—निन्दा न करे। सयत साधु मुधालब्ध—दाता द्वारा विशद्ध रूप से दिए हुए दोषवर्जित, अल्प या बहुत प्रासुक आहार का केवल सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन करे।

४३. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठेत्ति सावज्ज वज्जए मुणी।। (उ० १ : ३६)

मुनि भोजन करते समय ऐसे सावद्य वचन न कहे कि यह अच्छा बनाया हुआ है, अच्छा पकाया हुआ है, अच्छा काटा हुआ है, इसका कडवापन अच्छी तरह दूर किया हुआ है, यह अच्छा मरा हुआ है—घी मे अच्छा चुरा हुआ है, यह अच्छे मसालो से बना हुआ है या मनोहर है।

४४. पडिग्गह संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए।
दुगंध वा सुगधं वा सव्व भुंजे न छड्डुए।। (द० ५ (२) · १)

सयत साधु लेपमात्र को भी—चाहे वह दुर्गन्धयुक्त हो अथवा सुगधयुक्त—पात्र को अगुली से पोछकर सब खा जाए और कुछ जूठा न छोडे।

४५ दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी बि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गचछति सोग्गई।। (द० ५ (१) : १००)

मुधादायी निश्चय ही दुर्लभ है और इसी तरह मुधजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनो ही सुगति को जाते है।

५. परिपूर्ण श्रामण्य

१ इह लोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।। (प्रव० ३ : २६)

श्रमण मान-सम्मान आदि रूप इस लोक की इच्छाओ से रहित होता है, परलोक मे सुख की कामना से बॅधा हुआ नही होता। उसका आहार-विहार युक्त होता है और वह कषाय-रहित होता है।

२ केवलदेहो समणो देहेवि ममत्तरहियपरिकम्मो।
आजुत्तो त तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्ति।। (प्रव० ३ : २८)

श्रमण के केवल शरीर ही का परिग्रह होता है और शरीर मे भी ममत्व रहित होता है तथा उसे अपनी शक्ति को छिपाये बिना तप से लगाये रखता है।

३ बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदि सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।।(प्रव० ३ . ३०)

श्रमण बालक हो या वृद्ध अथवा श्रम से थका हुआ हो या रोगी हो, उसे अपनी चर्या का पालन इस प्रकार करना चाहिए जिससे मूल सयम का छेद न हो।

४. एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।। (प्रव० ३ : ३२)

श्रमण एकाग्रचित्त होता है और एकाग्रचित्त वही होता है जिसे अर्थो का निश्चय होता है तथा अर्थो का निश्चय आगम से होता है, इसलिए आगम का अभ्यास करना ही श्रमण का प्रमुख कर्त्तव्य है।

५. आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह सजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किह समणो।। (प्रव० ३ · ३६)

'इस लोक मे जिसके शास्त्रज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसके सयम भी नहीं होता' ऐसा आगम कहता है। और, जो असयमी है वह श्रमण कैसे हो सकता हे ?

६. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खोपसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।। (प्रव० ३ : ४१)

जो शत्रु और बधुवर्ग मे सम है, सुख और दु.ख मे सम है, निन्दा और प्रशंसा मे सम है, मिट्टी के ढेले और सुवर्ण मे सम है तथा जीवन और मरण मे सम है वही श्रमण है।

७. दसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।। (प्रव० ३ ४२)

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो मे एक साथ उपस्थित है वह एकाग्रचित्त माना गया है। जो इस तरह एकाग्रचित्त है उसी का श्रामण्य परिपूर्ण है।

८ मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहि विविहेहि।।(प्रव० ३ · ४३)

यदि श्रमण परद्रव्य को लेकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी अनेक प्रकार के कर्मो से बॅधता है।

९ अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि।।
(प्रव० ३ : ४४)

यदि श्रमण पर-पदार्थो मे मोह नहीं करता, राग नही करता और न द्वेष करता हे, तो वह निश्चिय रूप से अनेक कर्मो का क्षय करता है।

१० उपरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स।। (प्रव० ३ · ५६)

जो पुरुष पाप से विरत है, सब धार्मिको मे समभाव रखता है और गुणो के समूह का सेवक है, वह सुमार्ग का—मोक्ष-मार्ग का भागी होता है

११ गुणदोधिगस्स विणय पडिच्छगो जो दु होमि समणोत्ति।
होज्ज गुणधरो जदि स होदि अणंतससारी।।
(प्रव० ३ : ६६)

जो स्वय गुणो से हीन होता हुआ भी 'मै भी श्रमण हूँ' इस अभिमान से गुणो मे अधिक अन्य तपस्वियो से अपना विनय कराना चाहता है वह अनन्त सागर मे भ्रमण करता है।

१२. अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहि किरियासु।
जदि ते मिच्छपउत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता।। (प्रव० ३ : ६७)

चरित्र से अधिक गुणवाले श्रमण यदि गुणहीन श्रमणो के साथ बन्दना आदि क्रियाओ मे प्रवृत्ति करते हैं, तो वे मिथ्यात्व से युक्त होते हुए चरित्रभ्रष्ट हो जाते हैं।

१३. णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तओधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।।(प्रव० ३ · ६८)

जो आत्मा आदि पदार्थो का कथन करनेवाले सूत्रार्थ पदो का ज्ञाता है और जिसका क्रोधादि कषाय शांत है तथा जो विशिष्ट तपस्वी भी है, फिर भी यदि यह लौकिक जनो की सगति नहीं छोडता है तो वह सयमी नहीं हो सकता।

१४. णिग्गथो पव्वयिदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगोत्ति भणिदो संजमतवसजुदो चावि।। (प्रव० ३ · ६९)

निर्ग्रन्थ और प्रव्रजित पुरुष सयम और तप से युक्त होने पर भी यदि इस लोक-सबधी कामो को करता है, तो उसे लौकिक कहा है।

१५. तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहि वा अहिय।
अधिवसदु तम्हि णिच्च इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख।।(प्रव० ३ · ७०)

अत यदि श्रमण दु ख से छूटना चाहता है तो उसे सदा अपने समान गुणवाले अथवा अपने से अधिक गुणवाले श्रमण के समीप रहना चाहिए।

: ३३ :
विनय-प्रतिपत्ति

१. आचार्य सुश्रूषा

१ लज्जा दया संजम बंभचेर कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
जे मे गुरू सययमणुसासयति ते ह गुरू सयय पूययामि।।
(द० ६ (१) : १३)

लज्जा, दया, सयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु के लिए विशाधिस्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते है, उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ।

२ जहा निसते तवणच्चिमाली पभासई केवलभारह तु।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए विरायई सुरमज्झे व इदो।।
(द० ६ (१) · १४)

जैसे दिन मे प्रदीप्त हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत (भारत-क्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है और जिस प्रकार देवताओ के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओ के बीच आचार्य सुशोभित होता है।

३ जहा ससी कोमुईजोगजुत्तो नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के एव गणी सोहइ भिक्खुमज्झे।।
(द० ६ (१) १५)

जिस प्रकार मेघयुक्त विमल आकाश मे नक्षत्र और तारागण से परिवृत, कार्तिक-पूर्णिमा मे उदित चन्द्रमा शोभित होता है,, उसी प्रकार भिक्षुओ के बीच गणी (आचार्य) शोभित होता है।

४ सोच्चाण मेहावी सुभासियाइ सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे से पावई सिद्धिमणुत्तरं।।
(द० ६ (१) १७)

मेघावी मुनि इन सुभाषितो को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणो की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

५ सग-पर-समयविदण्हू आगमदहेदूहि चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण।।
(दश० भ० ६ : २)

आचार्य स्व-दर्शन एव पर-दर्शन के जानकार, आगम और युक्तियो से पदार्थो को जाननेवाले, जिन भगवान के द्वारा कहे गए तत्त्वो का निरूपण करने मे पूरे समर्थ तथा प्राणियो की शक्ति के अनुसार विनय की प्ररूपणा करने वाले होते है।

६ बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाणथेरे य खमणसंजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता।।
(दश० भ० ६ : ३)

बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य, रोगी और स्थविर मुनियो के विषय मे आचार्य क्षमाशील होते हैं। वे अन्य शिष्यो को दु शील जानकर उन्हे सन्मार्ग मे लगाते हैं।

७ उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो।।
(दश० भ० ६ : ५)

उत्तम क्षमा मे वे पृथ्वी के समान क्षमाशील होते हैं। निर्मल परिणामो के कारण स्वच्छ जल के समान होते है। कर्मरूपी ईधन को जलाने के कारण अग्नि के तुल्य है और सब प्रकार के परिग्रह से रहित होने से वायु की तरह निस्सग होते हैं।

८ अविसुद्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्टे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्त।।
(दश० भ० ६ : ८)

आचार्य कृष्ण, नील और कापोत नामक अप्रशस्त लेश्याओ से रहित होते हैं और पीत, पद्म, शुक्ल नामक विशुद्ध लेश्याओ से युक्त, आर्त और रौद्र ध्यान से त्यागी और धर्म तथा शुक्ल ध्यान से युक्त होते है।

९ गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरु व्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाण पायं पणमामि सुद्धमणो।।
(दश० भ० ६ : ६)

मुनियो मे श्रेष्ठ वे आचार्य आकाश की तरह निर्लेप और सागर की तरह क्षोभरहित गम्भीर होते है। मै शुद्ध मन से इस प्रकार के गुणो के घर आचार्य परमेष्ठी के चरणो मे नमस्कार करता हूँ।

२. विनय-संहिता

१ सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पण्णं सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपण्णेसी धितिमता जिइंदिया।। (सू० १, ६ . ३३)

मुमुक्षु, पुरुष, प्रज्ञावान, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्म-ज्ञानी, धृतिमान और जितेन्द्रिय गुरु की शुश्रूषापूर्वक उपासना—सेवा करे।

२. जहाहियग्गी जलणं नमसे नाणाहुईमतपयाभिसित्त।
एवायरिय उवचिट्ठएज्जा अमतनाणोवगओ वि सतो।।
(द० ६ (१) ११)

अग्निहोत्री ब्राह्मण जिस तरह नाना प्रकार की आहुतियो और मत्र-पदो से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, उसी तरह अनन्त ज्ञानी होने पर भी शिष्य गुरु की विनय-पूर्वक सेवा करे।

३ जस्सतिए धम्मपयाइ सिक्खे तस्संतिए वेणइय पउजे।
सक्कारए सिरसा पजलीओ कायग्गिरा भो मणसा य निच्च।।
(द० ६ (१) १२)

जिसके समीप धर्म-पदो को सीखता हो उसके प्रति विनय रखना चाहिए तथा हमेशा सिर का नमा, हाथ जोड, मन-वचन-काया से उसका सत्कार करना चाहिए।

४ मणोगय वक्कगय जाणित्तायरियस्स उ।
त परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए।। (उ० १ ४३)

आचार्य के मन, वचन (और काया) गत भावो को समझकर, वचन द्वारा उन्हे स्वीकार कर शरीर द्वारा उन्हे पूरा करना चाहिए।

५ वित्ते अचोइए निच्च खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठ सुकयं किच्चाइ कुव्वई सया।। (उ० १ ४४)

विनय से प्रख्यात शिष्य बिना प्रेरणा किया हुआ ही नित्य प्रेरणा किये हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी होता है और गुरु के उपदेश के अनुसार ही सदा कार्यो को अच्छी तरह करता है।

६ आलवन्ते लवन्ते वा न निसीएज्ज कयाइ विं।
चइऊणमासण धीरो जओ जत्त पडिस्सुणे।। (उ० १ . २१)

गुरु एक बार बुलाए अथवा बार-बार, शिष्य कदाचित भी बैठा न रहे, किन्तु धीर शिष्य आसन छोडकर यत्न के साथ गुरु के वचन को सुने।

७ आयरिएहि वाहितो तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसाय-पेही नियागट्ठी उवचिट्ठे गुरुं सया।। (उ० १ : २०)

आचार्यो के द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मोन का अवलम्बन न करे; किन्तु गुरु-कृपा और मोक्ष का अभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

८. आसण-गओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जा-गओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो पुच्छेज्जा पंजलीउडो।। (उ० १ : २२)

साधु गुरु के आसन पर बैठे-बैठे कदाचित् भी कोई बात न पूछे तथा शय्या पर बैठा हुआ भी कभी न पूछे। समीप आ, उत्कुटुक आसन मे हो बद्धाजलिपूर्वक जो पूछना हो सो पूछे।

६ न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं सयणे नो पडिस्सुणे[1]।। (उ० १ : १८)

आचार्यो के बराबर न बैठे, आगे न बैठे, पीछे न बैठे, उनकी उरु से उरु सटाकर न बैठे, और शय्या पर बैठे-बैठे ही उनके वचन को ग्रहण न करे—न सुने।

१०. नेव पल्हत्थियं कुज्जा पक्खपिण्ड व संजए।
पाए पसारिए वावि न चिट्ठे गुरुणंतिए।। (उ० १ : १६)

विनीत शिष्य गुरु के समीप पल्हत्थी मार कर न बैठे, अपनी दोनों भुजाओ को जाघो पर रखकर न बैठे, उनके समाने पॉव पसार कर न बैठे तथा और भी अविनयसूचक आस-नादि से गुरु के निकट न बैठे।

११ आसणे उवचिट्ठेज्जा अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जप्पकुक्कुए।। (उ० १ : ३०)

शिष्य चाचल्यरहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरु से ऊँचा न हो, स्थिर हो, शब्द न करता हो और उक्त प्रकार के आसन पर बैठा हुआ विना प्रयोजन न उठे तथा प्रयोजन होने पर भी थोडा उठे। चपलता न करे।

१२ हत्थं पाय च काय च पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी।। (द० ८ : ४४)

जितेन्द्रिय मुनि गुरु के समक्ष हाथ, पॉव और शरीर को संयमित कर, आलीनगुप्त हो बैठे।

---

१ मिलावे द० ८।४५ ।
न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य उरु समासेज्जा चिट्ठेज्जा गुरुणतिए।।

१३. नीयं सेज्ज गइ ठाण नीय च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदेज्जा नीयं कुज्जा य अंजलिं।। (द० ६ (२) १७)

विनयी शिष्य अपनी शय्या, स्थान और आसन गुरु से नीचे रखे। चलते समय गुरु से पीछे, धीमी चाल से चले। नीचा झुककर पैरो मे वदना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे।

१४. विणयं पि जो उवाएणं चोइयो कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए।। (द० ६ (२) : ४)

मधुरतापूर्वक विविध उपाय से विनय मे प्रेरित किये जाने पर जो मनुष्य कुपित हो जाता है, वह घर आती हुई दिव्य लक्ष्मी को मानो दण्डो की मार से भगाता है।

१५ संघट्टइत्ता काएणं तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे वएज्ज न पुणो त्ति य।। (द० ६ (२) . १८)

अपनी काया से अथवा उपधि से या और किसी प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करे, मैं पुन ऐसा नहीं करूँगा।"

१६ जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ त पडिस्सुणे।। (उ० १ . २७)

ये जो बुद्ध पुरुष मुझे कोमल अथवा कठोर वाक्यो से अनुशासित करते हैं—यह मेरे लाभ के लिए ही है—इस प्रकार से विचार करता हुआ मुमुक्षु पुरुष प्रयत्नपूर्वक उनकी शिक्षा को ग्रहण करे।

१७. न कोवए आयरिय अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए।। (उ० १ . ४०)

शिष्य आचार्य को कुपित न करे, न अपने को कुपित करे। ज्ञानी पुरुषो की घात करनेवाला न हो और न केवल छिद्र देखनेवाला ही हो।

१८ आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंचलिउडो वएज्ज न पुणो त्ति य।। (उ० १ ४१)

आचार्य को कुपित हुआ जानकर प्रतीतिकारक वचनो से उन्हे प्रसन्न कर उनकी क्रोधाग्नि को शात करे और दोनो हाथ जोडकर कहे कि मै आगे ऐसा न करूँगा।

१६ जे आयरियउवज्झायाण सुस्सूसावयणकरा।
तेसि सिक्खा पवड्ढति जलसिता इव पावया।। (द० ६ (२) . १२)

जो शिष्य आचार्य और उपाध्याय की सेवा करता हे और उसकी आज्ञानुसार चलता है, उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढती है, जिस प्रकार जल से सींचे हुए वृक्ष।

२०. थभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ।।
(द० ६ (१) : १)

गर्व, क्रोध, माया और प्रमाद के कारण जो गुरु के पास रहकर विनय नहीं सीखता, उसकी यह कमी उसी के पतन के लिए होती है, जिस तरह बाँस का फल उसी के नाश के लिए होता है।

२१. जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।
(द० ६ (२) : २२)

जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता, जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय मे अकोविद है, जो असविमागी है उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

२२. निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय।।
(द० ६ (२) : २३)

और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय में कोविद हैं, वे इस दुस्तर ससार-समुद्र को तिर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

३. गुरु-विनय और पूज्यता

१. आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा।
आलोइय इंगिवमेव नच्चा जो छंदमाराहयइ स पुज्जो।।
(द० ६, (३) : १)

जैसे अहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है तथा जो आचार्य के आलोकित और इंगित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है, वह पूज्य है।

२ आयारमट्ठा विणय पउजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : २)

जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है और जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है।

३. राइणिएसु विणयं पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो।।
(द० ९ (३) : ३)

जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ है—उन पूजनीय साधुओ के प्रति विनय का प्रयोग करता हैं, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहनेवाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है।

४. अवण्णवायं च परम्मुहस्स पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो।।
(द० ९ (३) : ९)

जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता, जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है।

५. जे माणिया सययं माणयंति जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो।।
(द० ९ (३) : १३)

अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किये जाने पर जो शिष्यो को सतत सम्मानित करते हैं—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल मे स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग मे स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

६. गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी जिणमयनिउणे अभिगमकुसले।
धुणिय रयमलं पुरेकडं भासुरमउलं गइं गय।।
(द० ९ (३) · १५)

इस लोक मे गुरु की सतत सेवा कर, जिनमत-निपुण (आगम-निपुण) और अभिगम विनय-प्रतिपत्ति) मे कुशल शिष्य पूर्व संचित रज और मल को कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।

४. आशातना और दुष्परिणाम

१ जे यावि मदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा।
हीलति मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूण।।
(द० ६ (१) . २)

जो मुनि गुरु को—मद (बुद्धि) है, यह अल्पवयसक और अल्पश्रुत है—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते है, वे गुरु की आशा-तना करते है।

२ जे यावि नागं डहर ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ।
एवायरिय पि हु हीलयतो नियच्छई जाइपह खु मंदे।।
(द० ६ (१) : ४)

जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जजानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी तरह अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करनेवाला मद ससार मे परिभ्रमण करता है।

३ आसीविसो यावि पर सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो।।
(द० ६ (१) . ५)

आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी जीवन-नाश से अधिक क्या (अहित) कर सकता है ? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि करते है। अत गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता।

४ जो पावग जलियमवक्कमेजा आसीविस वा वि हु कोवएज्जा।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी एसोवमासायणया गुरूण।।
(द० ६ (१) ६)

कोई जलती अग्नि को लॉघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नही होती।

५ सिया हु वे पावय नो उहेज्जा आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।
सियाविस हालहल न मारे न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए।।
(द० ६ (१) ७)

सभव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सभव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सभव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सभव नहीं है।

६. जो पव्वग सिरसा भुत्तुमिचछे सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा।
जो वा दए सत्तअग्गे पहारं एसोवमासायणया गुरूणं।।
(द० ६ (१) . ८)

कोई शिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, यही उपमा गुरु की आशातना करनेवाले के प्रति लागू होती है।

७ सिया हु सीसेण गिरिं पि भिदे सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए।।
(द० ६ (१) · ६)

सभव है,, कदाचित् सिर से पर्वत को भी भेद डाले; सभव है, सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सभव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सभव नहीं है।।

८ आयरिय पाया पुण अप्पसन्ना अवोहिआसायण नत्थि मोक्खो।
तम्हा अणाबाह सुहाभिकंखी गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा।।
(द० ६ (१) १०)

आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि लाभ नही होता—गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए मोक्ष-सुख चाहनेवाला मुनि गुरु कृपा के लिए तत्पर रहे।

६ महागरा आयरिया महेसी समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइ आराहए तोसए धम्मकामी।।
(द० ६ (१) १६)

अनुत्तर ज्ञान आदि गुणो की सम्प्राप्ति की इच्छा रखनेवाला मुनि निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर, मोक्ष की एषणा करनेवाले आचार्य की आराधना करे और उन्हे प्रसन्न करे।

: ३४ :

उपसर्ग और समाधि

१. परीषह

१. छुहा तण्हा य सीउण्हं दंसमसगवेयणा।
अक्कोसा दुक्ख सेज्जा य तणफासा जल्लमेव य।।
तालणा तज्जणा चेव वहबंधपरीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया जायणा य अलाभया।। (उ० १६ : ३१-३२)

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाॅस और मच्छर का कष्ट, आक्रोश—कटुवचन, दुःखद-शय्या, तृणस्पर्श, मैल, ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन, भिक्षाचर्या, याचना और अलाभ—ये सब परीषह दुःसह हैं।

१. क्षुधा परीषह

२. दिगिंछा-परिगए देहे तवस्सी भिक्खु थामवं।
न छिंदे न छिंदावए न पए न पयावए।।
काली-पव्वंग-संकासे किसे धमणि-संतए।
मायन्ने असण-पाणस्स अदीण-मणसो चरे।। (उ० २ : २-३)

शरीर में क्षुधा व्याप्त हो जाय, बाहु, जंघा आदि अंग काक-जंघा नामक तृण की तरह पतले—कृश—हो जाएँ[1] और शरीर नसों से व्याप्त दीखने लगे तो भी आहार-पान के प्रमाण को जाननेवाला भिक्षु मनोबल रखे और अदीन भाव से संयम का पालन करे। वह स्वयं फलादि का छेदन न करे, न दूसरों से करावे। न स्वयं अन्नादि पकावे, न दूसरो से पकवावे।

२. तृषापरीषह

३. तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्ज.संजए।
सोओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे।।

---

१ परीषह २२ माने जाने जाते हैं। देखिये उत्त० अ० २। निम्न परीषह उपर्युक्त गाथाओं मे नहीं आये हैं—अचेलक परीषह, अरति परीषह, स्त्री परीषह, नैषेधिकी परीषह, रोग परीषह, सत्कार पुरस्कार परीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञान परीषह और दर्शन परीषह। इन गाथाओं मे आए ताडन, तर्जन और वन्धन नामक परीषह उत्त० अ० २ मे बताये गये २२ परीषह के उपरांत हैं। वैसे वे वध-परीषह के अन्तर्गत आ सकते हैं।

छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहेऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं।। (उ० २ : ४-५)

निर्जन पथ मे अत्यन्त तृषा से आतुर—व्याकुल—हो जाने और जिह्वा के सूख जाने पर भी भिक्षु प्यास परीषह को अदीन मन से सहन करे। ऐसी तृषा से स्पष्ट होने पर भी अनाचार से घृणा करनेवाला लज्जाशील संयत भिक्षु शीतोदकका सेवन न करे। विकृत—अचित्त—जल की गवेषणा करे।

३-४. शीत-उष्ण परीषह

४. न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिंतए।।
उसिण-परियावेणं परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए।।
उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं।। (उ० २ : ७-६)

शीत निवारण के लिए मेरे घरादि नहीं तथा शरीर के त्राण के लिए वस्त्रादि नहीं, अत. मैं अग्नि का सेवन करूँ—भिक्षु ऐसा कभी भी न सोचे।

ग्रीष्म ऋतु, बालू आदि उष्ण पदार्थों के परिताप, अन्तरदाह और सूर्य के आताप द्वारा तर्जित साधु, मुझे वायु आदि का सुख कब होगा, ऐसी इच्छा न करे।

गर्मी से परितप्त होने पर भी मेधावी भिक्षु स्नान की इच्छा न करे। शरीर को जलादि से न सींचे—और न पंखा आदि से शरीर पर हवा ले।

५. दंश-मशक परीषह

५. पुट्ठो य दंसमसएहिं समरेव महामुणी।
नागो संगाम-सीसे वा सूरो अभिहणे परं।।
न संतसे न वारेज्जा मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे भुंजंते मंस-सोणियं।। (उ० २ : १०-११)

डॉस और मच्छरो द्वारा स्पृष्ट होने—पीडित किए जाने—पर भी महामुनि समभाव रखे। संग्राम के मोर्चे पर जिस तरह नाग शत्रु का हनन करता है, उसी तरह शूरवीर साधु राग-द्वेषरूपी शत्रु का हनन करे।

मुनि डॉस, मच्छर आदि को भय उत्पन्न न करे, उन्हे दूर न हटावे और न मन मे भी उनके प्रति द्वेष-भाव आने दे। मांस और शोणित को खा रहे हो तो भी उपेक्षा करे और उन्हे न मारे।

६. आक्रोश परीषह

१२. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले।।
सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गाम-कण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे।। (उ० २ : २४-२५)

दूसरो से दुर्वचन द्वारा आक्रोश (तिरस्कार) किए जाने पर भिक्षु उन पर कोप न करे। कोप करने से भिक्षु भी उस मूर्ख के समान हो जाता है; अत भिक्षु प्रज्ज्वलित (कुपित) न हो।

भिक्षु कानो मे काँटो के समान चुभनेवाली प्रतिकूल, दारुण ओर अत्यन्त रूक्ष भाषा को सुनने पर मौन रह उपेक्षा करे और उसे मन मे स्थान न दे।

७. दु.ख शय्या परीषह

७. उच्चावयाहि सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा पावदिट्ठी विहन्नई।।
पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं कल्लाणं अदु पावगं।
किमेगरायं करिस्सइ एवं तत्थऽहियासए।। (उ० २ : २२-२३)

तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु अच्छे-बुरे स्थान के मिलने पर उसे सह ले। समभाव-रूपी मर्यादा का उल्लंघन कर संयम का घात न करे। पापदृष्टि भिक्षु संयमरूपी मर्यादा का उल्लघन कर देता है।

अच्छे हो या बुरे रिक्त उपाश्रय को पाकर भिक्षु यह विचार करता हुआ कि एक रात मे यह मेरा क्या कर लेगा, उसे समभाव से सहन करे।

८. तृण-स्पर्श परीषह

८. अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स हुज्जा गाय-विराहणा।।
आयवस्स निवाएण अउला हवइ वेयणा।
एवं नच्चा न सेवंति तंतुज तण-तज्जिया।। (उ० २ : ३४-३५)

अचेलक—निर्वस्त्र और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से गात्र-विराधना—शरीर मे व्यथा होती है। धूप पडने से अतुल वेदना होती है। यह जानकर भी तृण-स्पर्श से व्यथित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते।

६. जल्ल परीषह

६. किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण सायं नो परिदेवए।।
वेएज्ज निज्जरापेही आरिय धम्मऽणुत्तरं।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्लं काएण धारए।। (उ० २ : ३६-३७)

ग्रीष्मादि में अति गर्मी से पसीने के कारण शरीर मैल अथवा रज से लिप्त हो जाय तो भी मेधावी साधु सुख के लिए दीनभाव न लावे। सर्वोत्तम आर्यधर्म को प्राप्त कर निर्जरा का अर्थी भिक्षु इस परीषह को सहन करे और शरीर छोडने तक मैल को शरीर पर समभावपूर्वक धारण करे।

१०. वध परीषह

१० हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खूधम्मं विचिंतए।।
समणं सजयं दंतं हणेज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति एवं पेहेज्ज संजए।। (उ० २ : २६ : २७)

पीटे जाने पर साधु क्रोध न करे। मन मे भी द्वेष न लावे। तितिक्षा परम धर्म है, ऐसा सोचकर वह भिक्षु धर्म का चितन करे। यदि कोई कहीं पर संयत दमेन्द्रिय श्रमण को पीटे तो वह सयमी भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि जीव का कभी नाश नहीं होता।

११ चर्या परीषह

७. एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए।।
असमाणो चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं अणिएओ परिव्वए।। (उ० २ : १८-१६)

संयत भिक्षु परीषहो को जीतकर गॉव मे या नगर मे, निगम या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित) विचरण करे। वह असाधारण रूप से विहार करे, परिग्रह न करे। गृहयुक्त मुनि गृहस्थो से असंसक्त (अनासक्त) रहता हुआ विचरण करे।

१२. याचना परीषह

१२. दुक्करं खलु भो निच्चं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं।।

गोयरग्गपविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासु त्ति इइ भिक्खू न चिंतए।। (उ० २ : २८-२६)

हे शिष्य ! घररहित भिक्षु के पास सब कुछ मॉगा हुआ होता है। उसके पास कुछ भी अयाचित नहीं होता। निश्चय ही नित्य की याचना दुष्कर है।

भिक्षाचर्या के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट भिक्षु के लिए हाथ पसारना सहज नहीं होता, इससे 'गृहवास ही अच्छा है'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे।

१३. अलाभ परीषह

१३. परेसु घासमेसेज्जा भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा नाणुतप्पेज्ज संजए।।
अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंविक्खे अलाभो तं न तज्जए।। (उ० २ : ३०-३१)

गृहस्थो के घर भोजन तैयार हो जाने पर भिक्षु आहार की गवेषणा करे। आहार के मिलने या न मिलने पर विवेकी भिक्षु हर्ष-शोक न करे। 'आज मुझे नहीं मिला तो क्या ? कल मिलेगा'—जो भिक्षु इस प्रकार विचार करता है, उसे अलाभ परीषह कष्ट नहीं देता।

१४. अचेल परीषह

१४. परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अहुवा सचेलए होक्खं इइ भिक्खू न चिंतए।।
एगयाऽचेलए होइ सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए।। (उ० २ : १२-१३)

जीर्ण वस्त्रो के कारण मै अचेलक हो जाऊँगा अथवा मैं वस्त्र-सहित सचेलक बनूँगा—भिक्षु ऐसा चिंतन—हर्ष-शोक—न करे। भिक्षु एकदा—कभी—अचेलक हो जाता है और कभी सचेलक। इन दोनो अवस्थाओ को धर्म मे हितकारी जानकर ज्ञानी मुनि चिंता न करे—दीन न बने।

१५. अरति परीषड्

१५. नारतिं सहते वीरे वोरे णो सहते रतिं।
जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जति।। (आ० १,२ (६) : १६०)
अरइं पिट्ठओ किच्चा विरए आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे उवसन्ते मुणी चरे।। (उ० २ : १५)

वीर पुरुष धर्म उत्पन्न अरुचि भाव को सहन नहीं करता और न असंयम में उत्पन्न रुचि भाव को सहन करता है। वीर साधक जिस तरह धर्म के प्रति उदासीन वृत्तिवाला नहीं होता, उसी तरह वह अधर्म के प्रति रागवृत्तिवाला भी नहीं होता।

हिंसादि से विरत, निरारम्भी, उपशांत और आत्मरक्षक मुनि, अरति—सयम—के प्रति अरुचि भाव को हटाकर धर्मरूपी उद्यान में विचरे—रमण—करे।

१६. स्त्री परीषह

१६. संगो एस मणुस्साणं जाओ लोगंमि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया सुकडं तस्स सामण्णं।।
एवमादाय मेहावी पंकभूया उ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा चरेज्जत्तगवेसए।। (उ० २ : १६-१७)

लोक मे जो स्त्रियाँ हैं, वे मनुष्यों के लिए लेप हैं—जिसे यह ज्ञात है उसका श्रामण्य सफल है। स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए पंक के सदृश हैं, यह जानकर मेधावी उनसे अपने सयम का घात न होने दे। वह आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरे।

१७. निषीधिका परिषह

१४. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्ख-मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं।।
तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभिधारए।
संकाभोओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं।। (उ० २ : २० २१)

एकाकी—राग-द्वेषरहित—मुनि चंचलता को छोडकर श्मशान, शून्यगृह अथवा वृक्ष के मूल मे बैठे। दूसरे को संत्रस्त न करे। वहाँ बैठे हुए उसे उपसर्ग हो तो वह समभाव से सहन करे, किन्तु अनिष्ट की आशंका से भयमीत हो वहां से उठ कर अन्य स्थान पर न जाय।

१८. रोग परीषह

१८ नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थहियासए।।
तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा संचिक्खत्तगवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं जं न कुज्जा न कारवे।। (उ० २ : ३२-३३)

रोग को उत्पन्न देखकर उसकी वेदना से दुःखार्त भिक्षु अदीनभाव से 'ये मेरे ही कर्मों का फल है'—ऐसी प्रज्ञा मे अपने को स्थिर करे। रोग द्वारा आक्रांत होने पर

उसे सम-भावपूर्वक सहन करे। आत्मगवेषी भिक्षु चिकित्सा की अनुमोदना न करे। समाधिपूर्वक रहे। श्रमण का श्रमणत्व इसी मे है कि वह चिकित्सा न करे और न करावे।

१६. सत्कार-पुरस्कार परीषह

१६ अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमतणं।
जे ताइं पढिसेवंति न तेसिं पीहए मुणी।।
अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा नाणुतप्पेज्ज पन्नवं।। (उ० २ : ३८-३६)

जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमत्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्छा न करे—उन्हे धन्य न माने। अल्प कषायवाला, अल्प इच्छावाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेनेवाला और अलोलुप भिक्षु रसों मे गृद्ध न हो। प्रज्ञावान् भिक्षु दूसरों को सम्मानित देखकर अनुताप न करे।

२० प्रज्ञा परीषह

२०. से नूणं मए पुव्व कम्माणाणफला कडा।
जेणाह नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई।।
अह पच्छा उइज्जंति कम्माणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाण नच्चा कम्मविवागयं।।[1] (उ० २ . ४०-४१)

'कहीं पर किसी के द्वारा पूछे जाने पर जो मै उसका उत्तर नहीं जानता—यह निश्चय ही पूर्व मे मैंने जो अज्ञान फलवाले कर्म किये हैं, उन्हीं का फल है। अज्ञान फल के देनेवाले कृत कर्मो का फल बाद मे उदय मे आता है'—भिक्षु कर्म के विपाक को जानकर अपनी आत्मा को इसी तरह आश्वासन दे।

२१ अज्ञान परीषह

२१. निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मंण कल्ला पावगं।। (उ० २ . ४२)

'मैंने निरर्थक ही मैथुन आदि से निवृत्ति ली और इन्द्रियो को सवृत किया है,, जो छद्मस्यभाव को दूर कर साक्षात् कल्याण अथवा पापकारी धर्म को नहीं जान सकता'—भिक्षु ऐसा विचार कभी भी न करे।

---

१. प्रज्ञा परीषह दो प्रकार से होता है—प्रज्ञा के अपकर्ष से और प्रज्ञा के उत्कर्ष (गर्व) से। यह वर्णन प्रज्ञा के अपकर्ष के विषय में है। प्रज्ञा के उत्कर्ष मे गर्व न करना यह बात भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।

२२. दसण परीषह

२२ नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओ मि त्ति इइ भिक्खू न चिंतइ।। (उ० २ : ४४)
अभू जिणा अत्थि जिणा अदुवावि भविस्सई।
मुसं ते एवमाहंसु इइ भिक्खू न चिंतए।। (उ० २ : ४५)

'निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि नही है अथवा मैं ठगा गया हूँ'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे। 'जिन हुए थे, जिन है और जिन होगे—ऐसा जो कहते हैं, वे झूठ बोलते है—भिक्षु ऐसा चितन न करे।

१. उपसर्ग और कायरता

१ सूर मण्णइ अप्पाणं जाव जेयं ण पस्सई।
जुज्झंतं दढधम्माण सिसुपालो व महारहं।। (सू० १, ३ (१) : १)

कायर मनुष्य भी जब तक विजेता पुरुष को नहीं देखता तब तक अपने को शूर मानता है, परन्तु वास्तविक सग्राम के समय वह उसी तरह क्षोभ को प्राप्त होता है जिस तरह युद्ध मे प्रवृत्त दृढधर्मी महारथी कृष्ण को देखकर शिशुपाल हुआ था।

२ पापया सूरा रणसीसे संगामम्मि उवट्ठिए।
माया पुत्तं ण जाणाइ जेएण परिविच्छए।। (सू० १, ३ (१) : २)

अपने को शूर माननेवाला पुरुष संग्राम के अग्रभाग मे चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड जाता है और ऐसी घबराहट मचती है कि माता भी अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र की सुध न रख सके तब विजेता के प्रहार से क्षत-विक्षत वह अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है।

३ एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्खुचरिया-अकोविए।
सूरं मण्णइ अप्पाण जाव लूहं ण सेवए।। (सू० १, ३ (१) : ३)

जैसे कायर पुरुष जब तक वीरो से घायल नहीं किया जाता तभी तक शूर होता है, इसी तरह भिक्षाचर्या मे अनिपुण तथा परीषहो के द्वारा अस्पर्शित अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है जब तक रूक्ष सयम का सेवन नहीं करता।

४ जया हेमंतमासम्मि सीयं फुसइ सवायगं।
तत्थ मदा विसीयति रज्जहीणा व खत्तीया।। (सू० १, ३ (१) . ४)

जब हेमत ऋतु के महीने मे शीत सब अगो को स्पर्श करता है उस समय मन्द जीव उसी तरह का अनुभव करते है, जिस तरह राज्य-भ्रष्ट क्षत्रिय।

५. पुट्ठे गिम्हाहितावेणं विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा।। (सू० १, ३ (१) : ५)

ग्रीष्म ऋतु में अतिताप से पीड़ित होने पर जब अत्यन्त तृषा का अनुभव होता है उस समय अल्प पराक्रमी पुरुष उदास होकर उसी तरह विषाद को प्राप्त होते हैं, जैसे थोडे जल मे मछलियाँ।

६. समया दत्तेसणा दुक्खं जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मंता दुब्भगा चेव इच्चाहंसु पुढोजणा।। (सू० १, ३ (१) : ६)

भिक्षु-जीवन में दी हुई वस्तु को ही लेना—यह दुःख सदा रहता है। याचना का परीषह दु:सह होता है। साधारण मनुष्य कहते हैं कि ये भिक्षु कर्म का फल भोग रहे हैं और भाग्यहीन हैं।

७. एए सद्दे अचायंता गामेसु णगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति संगामम्मि व भीरुणो।। (सू० १, ३ (१) : ७)

ग्रामो मे या नगरों में कहे जाते हुए इन आक्रोशपूर्ण शब्दों को सहन कर सकने में असमर्थ मंदगति जीव उसी प्रकार विषाद करते हैं, जिस तरह भीरु मनुष्य संग्राम में।

८. अप्पेगे खुज्झियं भिक्खु सुणी डंसइ लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति ते उपुट्ठा व पाणिणो।। (सू० १, ३ (१ : ८)

भिक्षा के लिए निकले हुए क्षुधित साधु को जब कोई क्रूर प्राणी—कुत्ता आदि—काटता है तो उस समय मंदगति पुरुष उसी तरह विषाद को प्राप्त होता है, जिस तरह अग्नि से स्पर्श किए हुए प्राणी।

९. पुट्ठो य दंसमसगेहिं तणफासमचाइया।
ण मे दिट्ठे परे लोए किं परं मरणं सिया ? (सू० १, ३ (१) : १२)

दंश और मशकों से काटा जाकर तथा तृण की शय्या के रूक्ष स्पर्श को सहन कर सकने मे असमर्थ मंदगति पुरुष यह भी सोचने लगता कि मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है, परन्तु इस कष्ट से मरण तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

१०. संतत्ता कंसलोएणं बंभचेरपराइया।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छापविट्ठा व केयणे।। (सू० १, ३ (१) : १३)

केशलोच से पीडित और ब्रह्मचर्य पालन में हारे हुए मंदगति पुरुष उसी तरह विषाद का अनुभव करते हैं जिस तरह जाल में फँसी हुई मछली।

११. आयदडसमायारा मिच्छासठियभावणा।
हरिसप्पओसमावण्णा केई लूसंतिऽणारिया।। (सू० १, ३ (१) : १४)

कई अनार्य पुरुष अपनी आत्मा को दंड का भागी बनाते हुए मिथ्यात्व की भावना मे सुस्थित हो राग-द्वेष पूर्वक साधु को पीडा पहुँचाते हैं।

१२. अप्पेगे पलियंतंसि चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला कसायवसणेहि य।। (सू० १, ३ (१) : १५)

कई अज्ञानी पुरुष, पर्यटन करते हुए सुव्रती साधु को यह 'चर है', 'चोर है' ऐसा कहते हुए रस्सी आदि से बाँधते हैं और कटु वचन से पीडित करते हैं।

१३. अप्पेगे पडिभासंति पाडिपंथियमागया।
पडियारगया एए जे एए एवं जीविणो।। (सू० १, ३ (१) : ६)

कई सतो के प्रति द्वेष को प्राप्त मनुष्य साधु को देखकर कहते हैं कि भिक्षा मागकर इस तरह जीवन-निर्वाह करनेवाले ये लोग अपने पूर्व कृत पाप का फल भोग रहे हैं।

१४. तत्थ दंडेण संवीते मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
णाईणं सरई बाले इत्थी वा कुद्धगामिणी।।
(सू० १, ३ (१) : १६)

अनार्य देश मे अनार्य पुरुष द्वारा लाठी, मुक्का अथवा फलक के द्वारा पीटा जाता हुआ मन्दगति पुरुष उसी प्रकार अपने बन्धु-बान्धवो को स्मरण करता है, जिस तरह क्रोधवश घर से निकलकर भागी हुई स्त्री।

१५. एए भो कसिणा फासा फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवीता कीवावसगा गया गिहं।। (सू० १, ३ (१) : १७)

शिष्यो! पूर्वोक्त सभी परीषह कष्टदायी और दु:सह हैं। वाणो से प्रहार के घायल हुए हाथी की तरह कायर पुरुष इनसे घबराकर फिर गृहवास मे चला जाता है।

१६. जहा संगामकालम्मि पिट्ठओ भीरु वेहइ।
वलय गहणं णूमं को जाणइ पराजयं।। (सू० १, ३ (३) : १)

जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष, यह शका करता हुआ कि न जाने किसकी विजय होगी, पीछे की ओर ताकता है और गड्ढा, गहन और छिपा हुआ स्थान देखता है।

१७ एव तु समणा एगे अबल णच्चाण अप्पगं।
अणागयं भय दिस्स अवकप्पति मं सुयं।। (सू० १, ३ (३) . ३)

इसी प्रकार कई श्रमण अपने को सुयम पालन करने मे अवल समझकर तथा अनागत भय की आशंका से व्याकरण तथा ज्योतिष आदि की शरण लेते हैं।

१८. जे उ संगामकालम्मि णाया सूरपुरंगमा।
णं ते पिट्ठमुवेहिंति किं परं मरणं सिया।। (सू० १, ३ (३) : ६)

परन्तु जो पुरुष लड़ने मे प्रसिद्ध और शूरो मे अग्रगण्य होते हैं वे आगे की वात पर ध्यान नहीं देते हैं। वे समझते हैं कि मरण से अधिक और क्या होगा ?

१६. संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।
उवसग्गे णियमित्ता आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।। (सू०१, ३ (३) : २१)

दृष्टिमान् शान्त मुनि सुन्दर धर्म को जानकर उपसर्गों को जीतकर मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त संयम में उद्यत रहे।

३. स्नेह-पाश

१. अहिमे सुह मा संगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयंति ण चयंति जवित्तए।। (सू० १, (३) २ : १)

बंधु-बांधवों के स्नेह रूप उपसर्ग बडे सूक्ष्म होते हैं। ये अनुकूल परीषह साधु पुरुषो द्वारा भी दुर्लध्य होते हैं। ऐसे सूक्ष्म—अनुकूल परीषहो के उपस्थित होने पर कई खेदखिन्न हो जाते हैं और संयमी जीवन के निर्वाह मे समर्थ नहीं रहते।

२ वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं आउसो ! पूजयामु तं।। (सू० १, (३) २ : १७)

"हे आयुष्मान् ! वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियाँ और शय्या इन भोगो को आप भोगे। हम आपकी पूजा करते हैं।

३. जो तुमे णियमो चिण्णो भिक्खुभावम्मि सुव्वया।
अगारमावसंतस्स सव्वो संविज्जए तहा।।(सू० १, (३) २ : १८)

"हे सुन्दर व्रत वाले साधु ! आपने प्रवज्वा के समय जिन महाव्रत अदि रूप नियमो का पालन किया है, वे सव गृहवास करने पर भी उसी तरह बने रहेगे।

४. चिरं दूइज्जमाणस्स दोसो दाणिं कुओ तव ?
इच्चेव णं णिमंतेति णीवारेण व सूयरं।। (सू० १, (३) २ : १६)

"हे मुनिवर ! बहुत काल से सयमपूर्वक विहार करते हुए आपको इस समय दोष कैसे लग सकता है ?" इस प्रकार भोग भोगने का आमत्रण देकर लोग साधु को उसी तरह फँसा लेते हैं जैसे चावल के दानो से सूअर को।

५ अचयंता व लूहेण उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मंदा विसीयंति पकंसि व जरग्गवा।। (सू० १, (३) २ २१)

रूक्ष संयम पालन करने मे असमर्थ और बाह्याभ्यन्तर तपस्या से भय पाते हुए मन्द पराक्रमी जीव सयम-मार्ग। मे उसी प्रकार क्लेश पाते हैं, जिस प्रकार कीचड मे बूढा बैल।

६ तत्थ मदा विसीयंति वाहच्छिण्णा व गद्दभा।
पिट्ठओ परिसप्पंति पीढसप्पीव संभमे।। (सू० १, (३) २ : ५)

अनुकूल परीषह के उत्पन्न होने पर मन्द पराक्रमी मनुष्य भार से पीडित गधे की तरह खेद-खिन्न होते है। जैसे अग्नि के उपद्रव होने पर पृष्ठसर्पी (लकडी के टुकडो के सहारे सरककर चलनेवाला) भागनेवालो के पीछे रह जाता है, उसी तरह मूर्ख भी सयमियो की श्रेणी से पीछे रह जाते हैं।

७ इच्चेव ण सुसेहति कालुणीयउवट्ठिया।
विवद्धो णाइसंगेहि तओऽगार पहावइ।। (सू० १, (३) २ : ६)

करुणा के भरे हुए बन्धु-बान्धव एव राजादि साधु को उक्त रीति से शिक्षा देते है। पश्चात् उन ज्ञातियो के सग से बॅधा हुआ पामर साधु प्रव्रज्या छोड घर की ओर दौडता है।

८ जहा रुक्खं वणे जायं मालुया पडिबधइ।
एव णं पडिबधंति णायओ असमाहिए।। (सू० १, (३) २ १०)

जैसे वन मे उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी तरह असमाधि उत्पन्न कर ज्ञातिवर्ग साधु को बॉध लेते है।

९ विबद्धो णाइसंगेहि हत्थी वा वि णवग्गहे।
पिट्ठओ परिसप्पति सूती गो व्व अदूरगा।। (सू० १, (३) २ ११)

ज्ञातियो के स्नेह-पाश मे बॅधे हुए साधु की स्वजन उसी तरह चौकसी रखते हैं, जिस तरह नये पकडे हुए हाथी की। जैसे नई ब्याई हुई गाय, अपने बछडे से दूर नहीं हटती, उसी तरह परिवारवाले उसके पीछे-पीछे चलते है।

१० एए सगा मणुस्साण पायाला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्सति णाइसगेहि मुच्छिया।। (सू० १, (३) २ १२)

यह माता-पिता आदि का स्नेह-सम्बन्ध, मनुष्यो के लिए उसी तरह दुस्तर है, जिस तरह अथाह समुद्र। इस स्नेह मे मूर्च्छित—आसक्त—शक्तिहीन पुरुष ससार मे क्लेश भोगते हैं।

११. त च भिक्खू परिण्णाय सव्वे संगा महासवा।
जीवियं णावकंखेज्जा सोच्चा धम्ममणुत्तरं।। (सू० १, (३) २ : १३)

साधु ज्ञाति संसर्ग को ससार का कारण जानकर छोड देवे। सर्व सग—सम्बन्ध—कर्मों के महान् प्रवेश-द्वार हैं। सर्वोत्तम धर्म को सुनकर साधु असंयम जीवन की इच्छा न करे।

१२. अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए।। (सू० १, ६ : ३०)

उदार—मनोहर शव्दादि विषयो मे उत्सुक-उत्कण्ठित न हो मुमुक्षु यत्नपूर्वक सयम मे रमण करे। धर्मचर्या मे अप्रमादी हो और अनुकूल परीषहो से स्पृष्ट होने पर उन्हे दृढता से सहन करे।

१३. अह ण वतमाववण्णं फासा उच्चावया फुसे।
ण तहिं विणिहण्णेज्जा वातेण व महागिरी।। (सू० १, ११ : ३७)

जिस तरह महागिरि वायु के झोके से डोलायमान नहीं होता, उसी तरह व्रत-प्रतिपन्न पुरुष सम-विषय, ऊँच-नीच, अनुकूल, प्रतिकूल परीषहों के स्पर्श करने पर धर्मच्युत नहीं होता है।

४. चित्त-समाधि सूत्र

१. जया य चयई धम्मं अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले आयइ नावबुज्झइ।। (द० चू १ १)

जव अनार्य साधु भोग-लिप्सा से धर्म को छोडता है, उस समय काम-भोग मे मूर्च्छित मूर्ख अपने भविष्य को नहीं समझता।

२ जया य पूइमो होइ पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ।। (द० चू० १ . ४)

जव सयमी रहता है, तव साधु पूज्य होता है, किन्तु सयम से भ्रष्ट होने पर वह अपूज्य हो जाता है। राज्यच्युत राजा की तरह वह पीछे अनुताप करता है।

३ देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिण।
रयाण अरयाणं तु महानिरयसारिसो।। (द० चू० १ १०)

सयम मे रत महर्षियो के लिए चरित्र-पर्याय देवलोक के समान (सुखकारक) होती है जिन्हे सयम मे रति नही, उनके लिए वही चरित्र-पर्याय महानरक के सदृश कष्टदायक होती है।

४. धम्माउ भट्ठ सिरिओ ववेयं जन्नग्गि विज्झायमिव प्पतेय।
हीलति णं दुव्विहिय कुसीलं दाढुद्धियं घोरविसं व नाग।।
(द० चू० १ १२)

जिस तरह अल्पतेज, बुझी हुई यज्ञाग्नि और उखडे हुए दाढवाले घोर विषधर सर्प की हर कोई अवहेलना करते है, उसी तरह जो धर्म से भ्रष्ट और चरित्ररूपी लक्ष्मी से रहित होता है, उस साधु की दुष्ट और कुशील भी निन्दा करते है।

५ इहेवधम्मो अयसो अकित्ती दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई।।
(द० चू० १ १३)

जो धर्म से च्युत होता है और अधर्म का सेवन करता है उसका इस लोक मे साधारण लोगो मे भी दुर्नाम होता है। वह अधर्मी कही भी जाकर अयश और अकीर्ति का पात्र बनता है। व्रत भग करनेवाले की परलोक मे अधम गति होती है।

६ भुजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा तहाविह कट्टु असजम बहु।
गइ च गच्छे अणभिज्झिय दुह बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो।।
(द० चू० १ १४)

सयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्त से भोगो को भोगकर तथा अनेक प्रकार के असयम का सेवन कर दु खद अनिष्ट गति मे जाता है। बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नही होती।

७ इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवम झिज्जइ सागरोवम किमग पुण मज्झ इम मणोदुह ?।।
(द० चू० १ १५)

नरक मे गये हुए दु ख से पीडित और निरन्तर क्लेशवृत्ति वाले जीव की जब नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपम की आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर मेरा यह मनोदु ख तो कितने काल का है ?

८ न मे चिर दुक्खमिण भविस्सई असासया भोगपिवास जतुणो।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई अविस्सई जोवियपज्जवेण म।।
(द० चू० १ . १६)

यह मेरा दु ख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवो की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि विषय-तृष्णा इस शरीर से न जायेगी तो मेरे जीवन के अन्त मे अवश्य मिट जायेगी।

६ जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं।
त तारिसं नो पयलेति इदिया उवेतवाया व सुदंसणं गिरिं।।
(द० चू० १ . १७)

जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ होती है, वह देह को त्याग देता है, पर धर्म-शासन को नहीं छोडता। इन्द्रियॉ (विषय-सुख) ऐसे दृढधर्मी मनुष्य को उसी तरह विचलित नहीं कर सकतीं जिस तरह वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

: ३५ :

मरण-समाधि

१. अकाम-मरण : सकाम-मरण

१ सतिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणंतिया।
अकाम-मरणं चेव सकाम-मरण तहा।। (उ० ५ २)

मरणान्त के ये दो स्थान कहे गये हैं—एक अकाम-मरण और दूसरा सकाम-मरण।

२ बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पण्डियाण सकाम तु उक्कोसेण सइं भवे।। (उ० ५ ३)

बाल (मूर्खो) के अकाम-मरण निश्चय ही बार-बार होता है, पण्डितो के सकाम-मरण उत्कर्षत एक ही बार होता है।

३. हिसे बाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे।
भुजमाणे सुर मंसं सेयमेय ति मन्नई।। (उ० ५ : ६)

हिसा करने वाला, झूठ बोलनेवाला, छल-कपट करनेवाला, चुगली खानेवाला, शठता करनेवाला तथा मास और मन्दिरा खाने-पीनेवाला बाल (मूर्ख) जीव—ये कार्य श्रेय हैं—ऐसा मानता है।

४ तओ से दण्ड समारभई तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए भूयग्गामं विहिसई।। (उ० ५ ८)

फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवो को कष्ट पहुँचाना शुरू करता है तथा प्रयोजन से या बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिसा करता है।

५. कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मल सचिणइ सिसुणागु व्व मट्टिय।। (उ० ५ . १०)

जो काया और वाचा से मत्त—अभिमानी है और कामिनि-काचन मे गृद्ध है, वह राग और द्वेष दोनो से उसी प्रकार कर्म-फल का सचय करता है, जिस तरह शिशुनाग (अलस) मुख और शरीर दोनो से मिट्टी का।

६ तओ पुट्ठो आयकेणं गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स कम्मणुप्पेह अप्पणो।। (उ० ५ . ११)

फिर वह मूर्ख जीव आतक—रोग—से स्पृष्ट होने पर पीडित हो परिताप करता है तथा अपने कर्मो को देखता हुआ परलोक से भयभीत होता है।

७ सुया मे नरए ठाणा असीलाणं च जा गई।
बालाण कूर-कम्माणं पगाढा जत्थ वेयणा।। (उ० ५ : १२)
तओ से मरणंतंमि वाले संतस्सई भया।
अकाम-मरणं मरई धुत्ते व कलिना जिए।। (उ० ५ १८)

'शील-रहित क्रूरकर्म करने वाले मूर्ख मनुष्यो की जो गति होती है, वह मैंने सुनी है। उन्हे नरक मे स्थान मिलता है, जहाँ प्रगाढ वेदना है'—मरणान्त के समय मूर्ख मनुष्य इसी तरह भय से सत्रस्त होता है ओर आखिर एक ही दॉव मे हार जानेवाले जुआरी की तरह, अकाम-मरण से डरता है।

८ मरण पि सपुण्णाणं जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं सजयाणं वसीमओ।। (उ० ५ : १८)

बाल (मूर्ख) जीवो के अकाम-मरण को मुझसे सुना है, उसी तरह पुण्यवान और जितेन्द्रिय सयमियो के प्रसन्न ओर आघात-रहित सकाम-मरण को भी सुनो।

९ न इम सव्वेसु भिक्खू सु न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणासीला अगारत्था विसमसीला य भिक्खुणो।। (उ० ५ . १९)

यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओ को प्राप्त होता है और न सव गृहस्थो को, क्योकि गृहस्थ नाना (विविध) शीलवाले होते हैं और भिक्षु विषमशील—असमान गुणोवाले होते है।

१०. अगारि-सामाइयगाइ सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं एगरायं न हावए।। (उ० ५ . २३)

श्रद्धालु अगारी—गृहस्थ सामायिक के अगो का काया से सम्यक् रूप से पालन करे। दोनो पक्षो मे किये जानेवाले पौषध को एक रात को भी[१] बाद न दे।

११ एव सिक्खा-समावन्ने गिहवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वओ गच्छे जक्खसलोगय।। (उ० ५ : २४)

इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती गृहवास करता हुआ भी हाड-मास के इस शरीर को छोड पक्षलोक (देवलोक) को जाता है।

१२ अह जे संवुडे भिक्खू दोण्ह अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खप्पहीणे वा देवे वावि महिड्ढिए।। (उ० ५ . २५)

---

१ अमावस्था और पूर्णिमा मे से किसी भी दिन वाद न दे।

तथा जो सवृतात्मा भिक्षु है, वह दोनो मे से एक गति को पाता है—या तो वह सर्व दु ख क्षय हो गये है जिसके ऐसा सिद्ध होता है अथवा महाऋद्धि वाला देव होता हैं।

१३ ताणि ठाणाणि गच्छंति सिक्खित्ता सजम तव।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे संपरिनिव्वुडा।। (उ० ५ २८)

सयम और तप के अभ्यास द्वारा जो वासना से परिनिवृत्त हैं, वे भिक्षु हो या गृहस्थ, दिव्य देवगति को जाते है।

१४ तेसि सोच्चा सपुज्जाणं सजयाण वुसीमओ।
न सतसंति मरणते सीलवता बहुस्सुया।। (उ० ५ · २९)

उन सत्पूज्य जितेन्द्रिय सयमियो की मनोहर गति को सुनकर, शील-सम्पन्न और बहुश्रुत पुरुष मरणान्त के समय सत्रस्त नहीं होते।

१५ तुलिया विसेसमादाय दया-धम्मस्स खतिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी तहाभूएण अप्पणा।। (उ० ५ ३०)

अकाम और सकाम—इन दोनो मरणो को तोल, विवेकशील पुरुष सकाम-मरण को ग्रहण करे। क्षमा द्वारा दया-धर्म का प्रकाश कर मेधावी तथाभूत आत्मा से अपनी आत्मा को प्रसन्न करे।

१६ तओ काले अभिप्पेए सड्ढी तालिसमतिए।
विणएज्ज लोमहरिसं भेय देहस्स कखए।। (उ० ५ ३१)

बाद मे श्रद्धावान पुरुष काल—अवसर—आने पर गुरुजनो के समीप, रोमाचकारी मृत्यु-भय को दूर कर देह-भेद की चाह करे।

१७ अह कालमि संपत्ते आघायाय समुस्सय।
सकाम-मरण मरई तिण्हमन्नयर मुणी।। (उ० ५ ३१)

काल के उपस्थित होने पर, सलेखना आदि के द्वारा शरीर का त्याग करता हुआ साधु पण्डित-मरण के तीन प्रकारो मे से किसी एक के द्वारा सकाम-मृत्यु को प्राप्त करता है।

२. बाल-मरण : पण्डित-मरण

१ वीरेण वि मरिदव्व णिव्वीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहि वि मरिदव्व वर हि वीरत्तणेण मरिदव्व।। (मू० २ . ९९)

निश्चय ही जो वीर है उसे भी मरना होगा और जो कापुरुष है उसे भी मरना है। यदि दोनो को ही मरना होगा तो वीरता के साथ मरना ही श्रेयस्कर है।

२ तिविहं भणति मरण बालाण वालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरण जं केवलिओ अणुमरंति।। (मूल० २ : ३१)

वाल, वाल-पण्डित और पण्डितो के मरण के भेद से मरण तीन प्रकार का होता है—वाल-मरण, वाल-पण्डित-मरण और पण्डित-मरण। केवली पण्डित-मरण से मृत्यु प्राप्त करते हैं।

३. वालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति।। (मूल० २ . ७३)

जो जिन-वचन को नहीं जानते हैं वे मूर्ख वहुत से अनिष्ट वाल-मरणो से मृत्यु को प्राप्त करेंगे, उनके अनेक अकाम-करण होंगे।

४. एगम्हि भवग्गणे समाहिमरणं लभेज्ज जदि जीवो।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि।। (मूल० २ : ५४)

यदि एक भी भव मे जीव समाधि-मरण को प्राप्त कर लेता है तो सात-आठ भवों मे ही अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

५. एक्कं पंडिदमरणं छिंदंदि जादीसयाणि बहुगाणि।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि।। (मूल० २ ˙ ६४)

एक पण्डित-मरण अनेक जन्मो का नाश करता हे। अत ऐसे मरण से मृत्यु प्राप्त करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो।

६. सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेस्समोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही।। (मूल० २ : ७१)

जो सम्यग्दर्शन मे रत होते हैं, जो निदान—फल-कामना—नहीं करते, जो शुक्ल-लेश्या के धारक होते हैं—इस प्रकार जो मृत्यु को प्राप्त होने है उन्हे वोधि सुलभ होती है।

७. जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण।
असबल असंकिलिठ्ठा ते होंति परित्तससारा।। (मूल० २ : ७२)

जो जिन-वचनो मे अनुरक्त होते हैं और जो अन्तरमन से गुरुवचनो के अनुसार चलते हैं वे अशवल और असंक्लिष्ट पुरुष संसार को संक्षिप्त करने वाले होते हैं।

८. उड्ढमधोतिरियम्हि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दंसणणाणसहगदों पंडियमरणं अणुमरिस्से।।(मूल० २ : ७५)

मैने ऊर्ध्व, अध और तिर्यक् लोक मे अनेक बार बाल-मरण किए है, अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक पण्डित-मरण से मरण प्राप्त करूँगा।

६ उव्वेयमरणजादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य।
एदाणि संमरतो पडियमरण अणुमरिस्से।। (मूल० २ · ७६)

उद्वेगमरण, जातिमरण तथा नरक मे अनेक वेदनाएँ होती हैं। इन मरणो और वेदनाओ का स्मरण करता हुआ मैं पण्डित-मरण से मरण को प्राप्त होऊँगा।

३. शरीर-आसक्ति त्याग

१ जावंति किंचि दुक्खं सारीरे माणसं च ससारे।
पत्तो ९ अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण।। (भग० आ० १६६७)

इस अनादि ससार मे अनत बार जो शारीरिक अथवा मानसिक दु ख तुझे प्राप्त हुए है, वे सब शरीर के प्रति ममत्वदोष से ही प्राप्त हुए है।

२. एण्ह पि जदि ममत्ति कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं।
दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणतयं काल।।
(भग० आ० १६६८)

यदि इस समय भी, जब अन्त समीप है, तू शरीर मे ममत्त्व करेगा तो तू पुन अनन्त काल तक संसार मे उन्हीं दु खो को प्राप्त करेगा।

३ णत्थि भयं मरणसम जम्मणसमय ण विज्जजदे दुक्खं।
जम्मणमरणादक छिंदि ममत्ति सरीरादो।।[१] (मू० ११६)

इस जगत् मे मृत्यु के समान कोई भय नहीं है। भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म के समान कोई दूसरा दु ख नहीं है। तू जन्म और मरण दोनों का अन्त कर। ये दोनो जन्म-मरण रूपी आतक शरीर के होने से होते है अत शरीर से ममत्व का छेदन कर।

४ अण्णं इमं सरीरं अण्णे जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ।
दुक्खभयकिलेसयरीं मा हु ममत्ति कुण सरीरे।।
(भग० आ० १६७०)

यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है, ऐसा निश्चयपूर्वक समझकर दु ख, भय और क्लेश को उत्पन्न करने वाली शरीर-ममता को मत करे

---

१ भग० आ० ११६६।

५ सव्व अधियासतो उवसग्गविधि परीसहविधि च।
णिस्सगदाए सल्लिह असकिलेसेण त मोहं।।
(भग० आ० १६७१)

सर्व प्रकार के उपसर्ग और परीषहो को समभाव से सहते हुए नि संगत्व की भावना से और सक्लेश-रहित परिणामो से तू मोह को क्षीण कर।

४. आहार उपेक्षा

१ आहारत्थ हिसइ भणइ असच्चं करेइ तेणक्कं।
रूसइ लुब्भइ मायां करेइ परिगिण्हदि य संगे।। (भग० आ० १६४२)

आहार के लिए मनुष्य हिसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, लोभ करता है, माया करता है और परिग्रह ग्रहण करता है।

२ होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्त।
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स।।
(भग० आ० १६४३)

आहार के लिए मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है। तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को छोड देता है और आहार-संज्ञारूपी पाप के वश होकर कुल की शोभा को मलिन करता है।

३ णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि।
जोणिगसिलेसलग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो।।
(भग० आ० १६४४)

जो मनुष्य जिह्वा के वश होता है, उसकी बुद्धि नाश को प्राप्त होती है उसकी तीक्ष्णबुद्धि भी मद हो जाती है। यह वज्रलेप के बंधन से बँधे हुए पुरुष की तरह बिल्कुल परवश हो जाता है।

४ आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि।
ससारमणादीय दुक्खसहस्साणि पावंतो।।
(भग० आ० १६५१)

हे मनुष्य! आहार मे गृद्ध होकर तूने अनेक पाप-कर्म कर अनादि संसार मे सहस्रो दुखो को प्राप्त करते हुए भ्रमण किया है।

५. जह इधणेहि अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहि।
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदु इमो जीवो।।
(भग० आ० १६५४)

जैसे ईधनो से अग्नि और सहस्रो नदियो से समुद्र तृप्त नही होता, वैसे ही यह जीव भी आहार से कभी भी तृप्त नहीं होता है।

६. उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण सुह उद्धुदचित्तस्स घण्णस्स।।
(भग० आ० १६५६)

आहार के विषय मे जिसका मन चचल रहता है, उसे रति की प्राप्ति नहीं होती। बिना रति के प्रीति कैसे हो सकती है ? और प्रीति के बिना आहार-लंपट पुरुष को सुख नहीं होगा।

७ सव्वाहारविधाणेहि तुमे ते सव्वपुग्गला बहुसो।
आहारिदा अदीदे काले तित्ति च सि ण पत्तो।। (भग० आ० १६५७)

हे मनुष्य ! अतीत काल मे तूने सर्व पुद्गलो का सर्व प्रकार के आहार के रूप मे बहुत बार भक्षण किया है तो भी तृप्ति नही हुई।

८ को एत्थ विभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि।
जुज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे।। (भग० आ० १६५६)

कभी जिसका भक्षण नही किया उस वस्तु मे तो जीव की अभिलाषा हो सकती है, लेकिन जो आहार पूर्वकाल मे अनेक बार भक्षण किया है, उसमे तुम्हारे लिए कौतूहल की क्या बात है ?

६ आवादमेत्तसोक्खो आहारेण हु सुख बहु अत्थि।
दु ख चेवत्थ बहु आहट्टतस्स गिद्धीए।।
(भग० आ० १६६०)

जिह्वा के अग्र-भाग पर आहार होता है, उतनी ही देर सुखानुभव होता है। वह सुख भी अत्यल्प है। गृद्धिपूर्वक आहार करने से दु ख ही अधिक होता है।

१० जिब्भामूल बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो।
तत्थेव रस जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो।।
(भग० आ० १६६१)

जैसे उत्तम घोडा वेग से दौडता है वैसे ही आहार भी जिह्वा के अग्र-भाग का उल्लघन कर शीघ्र ही पेट मे प्रवेश करता है जिह्व का अग्र-भाग ही आहार के रस को जानता है उसके बाद का जिह्वा का भाग अथवा कण्ठादि भाग स्वाद को नहीं जानते।

११ अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुखं।।
(भग० आ० १६६२)

आहार के रसानुभाव से जो सुख मिलता है उसकी अवधि आँख के निमेष मात्र है। जीव गृद्धिवश आहार को शीघ्रता से निगल जाता है। गृद्धि बिगना इन्द्रिय-सुख नहीं होता।

१२. किं पुण कंठप्पाणो आहारेदूण अज्जमाहारं।
लभिहिसि तित्तिं पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव।। (भग० आ० १६५८)

यदि कोई मनुष्य समुद्र को पीकर भी तृप्त नहीं हुआ तो क्या यह एकाब हिमबिंदु का आस्वादन कर तृप्त होगा ? वैसे ही हे मनुष्य ! तू आज तक तृप्त नहीं हुआ तब आज जब तेरे प्राण कंठ मे आ चुके हैं तब आहार ग्रहण कर अपनी तृप्ति कर सकेगा ?

१३. पुणरवि तहेव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं।
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते।।
(भग० आ० १६५२)

हे मनुष्य ! तू अब भी आहाराभिलाषा को नहीं छोडता तब क्या तू पुन उस अनन्त ससार मे भ्रमण करना चाहती है ?

५. तीन पण्डित-मरण

१. आणुपुव्वी.विमोहाइं जाइं धीरा समासज्ज।
वसुमतो मइमंतो सव्वं नच्चा अणेलिसं।। (आ० ८ (८) . १)

संयमी, प्राज्ञ और धीर पुरुष अनुपूर्वी से (साधना करता हुआ) सभी अनुपम धार्मीक मरणो को जान, मोहरहित मरणो मे से (शक्ति अनुसार) किसी एक का अपना (समाधिमरण करे)।

२. दुविहं पि विदित्ताणं बुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए संखाए आरंभाओ तिउट्टति।। (आ० ८ (८) . २)

धर्म के पारगामी बुद्ध पंडित और अपडित द्विविध मरणो को समझ, यथाक्रम से सयम का पालन करते हुए मृत्यु के समय को जान आरम्भो से निवृत्त होते है।

३ कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं।। (आ० ८ (८) . ३)

वह कषायो को प्रतनु—क्षीण कर अल्पाहार करता हुआ रहे तथा तितिक्षा भाव रखे। जब भिक्षु ग्लान हो तो वह आहार के समीप न जाय—उसका सर्वथा त्याग कर दे।

४ जीविय णाभिकंखेज्जा मरण णोवि पत्थए।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा।। (आ० ८ (८) : ४)

वह जीने की आकाक्षा न करे और न मरने की ही कामना करे। वह जीवन और मृत्यु दोनो मे ही आसक्त न हो।

५ मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अंतो बहि विउसिज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए।। (आ० ८ (८) : ५)

वह समभाव मे स्थित हो, निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ समाधि का पालन करे। अभ्यन्तर और बाह्य ममत्व का त्याग कर वह विशुद्ध अध्यात्म का अन्वेषण करे।

६ जं किचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरद्धाए खिप्प सिक्खेज्ज पडिए।। (आ० ८ (८) : ६)

यदि अपने आयु-क्षेम मे किंचित् भी विघ्न मालूम दे तो उसके अतर काल मे पडित साधक शीघ्र ही भक्त-परिज्ञा आदि को ग्रहण करे।

७. गामे या अदुवा रण्णे थंडिल पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विण्णाय तणाइ संथरे मुणी।। (आ० ८ (८) : ७)

ग्राम अथवा अरण्य मे प्रासुक भूमि का प्रतिलेखन कर प्राणि-रहित जगह जान कर मुनि तृण बिछावे।

८ अण्णाहारो तुअट्टेज्जा पुट्ठो तत्थहियासए।
णातिवेलं उवचरे माणुस्सेहि वि पुट्ठओ।। (आ० ८ (८) : ८)

आहार का त्याग कर तृणो पर शयन करे, वहाँ परीषहो से स्पृष्ट होने पर उन्हे सहन करे और मानुषिक उपसर्गो से स्पृष्ट होने पर मर्यादा का उलघन न करे।

९ ससप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुंजति मंससोणिय ण छणे ण पमज्जए।। (आ० ८ (८) : ९)

सरीसृप, ऊर्ध्वचर अथवा अध चर प्राणी मास को नोचें अथवा शोणित का पान करे। तो उनको न मारे और न उन्हे दूर करे।

१० पाणा देह विहिसति ठाणाओ ण विउब्भमे।
आसवेहि विवित्तेहि तिप्पमाणेऽहियासए।। (आ० ८ (८) . १०)

जीव-जन्तु देह की हिसा करते हो, तव भी मुनि उस स्थान से अन्यत्र न जावे। हिसा आदि आस्रवो से दूर रहकर तुष्ट हृदय से कष्टो को सहन करे।

११. गंथेहि विवित्तेहि आउकालस्स पारए।
पग्गहियतरगं चेय दवियस्स वियाणतो।। (आ० ८ (८) : ११)

वाह्य और अभ्यन्तर ग्रथियो से दूर रहकर समाधिपूर्वक आयुष्य को पूरा करे। गीतार्थ सयमी के लिए यह दूसरा इगित-मरण विशेष ग्राह्य है।

१२ अयं से अवरे धम्मे णायपुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं विजहिज्जा तिहा तिहा।। (आ० ८ (८) : १२)

ज्ञातपुत्र के द्वारा अच्छी तरह कहा गया दूसरा इगति-मरण धर्म है, इसमे खुद को छोड अन्य से प्रतिचार (सेवा) कराने का त्रियोग से त्याग करे।

१३ हरिएसु ण णिवज्जेज्जा थडिलं मुणिआ सए।
विउसिज्ज अणाहारो पुट्ठो तत्थहियासए।। (आ० ८ (८) : १३)

मुनि हरित—दूर्वादियुक्त—भूमि आदि पर न सोए भूमि को प्राशुक जानकर सोए। शरीर का व्युत्सर्ग कर अनशन करे। वहॉ उपसर्गो से स्पृष्ट होने पर उन्हे सहन करे।

१४ इंदिएहि गिलायंते समिय साहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे अचले जे समाहिए।। (आ० ८ (८) : १४)

(निराहार के कारण) इन्द्रियो के ग्लान होने पर मुनि चित्त के स्थैर्य को रखे।इगित-मरण मे अपने स्थान मे हलन-चलन आदि करता हुआ वह निद्य नहीं होता, यदि वह भावना मे अचल और समाहित होता है।

१५ अभिक्कमे पडिक्कमे संकुचए पसारए।
कायसाहारणट्ठाए एत्थ वावि अचेयणे।। (आ० ८ (८) : १५)

इगित-मरण मे मुनि काया को सहारा देने के लिए चंक्रमण करे, टहले, अगोपागो को सकुचित करे, प्रसारित करे अथवा इसमे भी अचतेन—जडवत् निश्चल रहे।

१६ परक्कमे परिकिलंते अदुवा चिट्ठे अहायते।
ठाणेण परिकिलंते णिसीएज्जा य अतसो।। (आ० ८ (८) १६)

परिक्लान्त होने पर वह टहले अथवा यथावत् खडा रहे। यदि खडा रहने से परिक्लान्त हो तो वह अन्त मे पुन बैठे।

१७ आसीणे णेलिसं मरण इंदियाणि समीरए।
कोलवास समासज्ज वितह पाउरेसए।। (आ० ८ (८) १७)

अनुपम मरण मे आसीन मुनि इन्द्रियो को विषयो से हटावे, घुनवाले पाटे के प्राप्त होने पर अन्य जीवरहित पाटे की गवेषणा करे।

१८ जओ बज्जं समुप्पज्जे ण तत्थ अवलबए।
ततो उक्कसे अप्पाण सव्वे फासेहियासए।। (आ० ८ (८) : १८)

जिससे पाप की उत्पत्ति हो, उसका अवलम्बन न करे। पाप-कार्यो से बच अपनी आत्मा का उत्कष्र करे। परीषहो से स्पृष्ट होने पर उन्हे सहन करे।

१६ अयं चायततरे सिया जो एवं अणुपालए।
सव्वगायणिरोधेवि ठाणातो ण विउब्भमे।। (आ० ८ (८) . १६)

अब आगे कहा जानेवाला पादोपगमन मरण इगित-मरण से भी बढकर है। जो इसका पालन करता है, वह सारे अगो के जकड जाने पर भी अपने स्थान से किचित्मात्र भी नहीं हटता।

२० अयं से उत्तमे धम्मे पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिर पडिलेहित्ता विहरे चिट्ठ माहणे।। (आ० ८ (८) : २०)

यह आत्मधर्म पादापगमन-मरण पूर्व-कथित मरणो से भी विशेष रूप से ग्राह्य है। प्रासुक भूमि को देखकर माहन—मुनि, वहीं रह पादोपगमन मरण का पालन करे।

२१ अचित्तं तु समासज्ज ठावए तत्थ अप्पग।
बोसिरे सव्वसो कायं ण मे देहे परीसहा।। (आ० ८ (८) . २१)

अचित्त स्थान को प्राप्त कर वहॉ अपने-आपको स्थित करे। काया को सर्वश व्युतसर्ग करे और परीषहो के आने पर सोचे—मेरे शरीर मे परीषह नहीं है।

२२ यावज्जीव परीसहा उवसग्गा य संखाय।
संवुडे देहभेयाए इति पण्णेहियासए।। (आ० ८ (८) : २२)

जब तक यह जीवन है तब तक ये परीषह और उपसर्ग है, ऐसा जानकर-देह-भेद के लिए सवृत, प्राज्ञ उनको समभाव से सहन करे।

२३. भेउरेसु न रज्जेज्जा कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छा-लोभं न सेवेज्जा सुहुम वण्ण सपेहिया।। (आ० ८ (८) . २३)

वह नश्वर विपुल कामभोगो मे रजित न हो। सूक्ष्म-वर्ण—मोक्ष की ओर दृष्टि रख, वह इच्छा और लोभ का सेवन न करे।

२४. सासएहि णिमतेज्जा दिव्व माय ण सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे सव्व नूमं विधूणिया।। (आ० ८ (८) . २४)

कोई जीवनपर्यन्त नहीं नाश होनेवाले शाश्वत ऐश्वर्य के लिए निमन्त्रित करे, तो भी मुनि उस देव-माया मे विश्वास न करे। उसको अच्छी तरह समझ, वह सब प्रपच का मुत्याग करे।

२५ सव्वट्ठेहि अमुच्छिए आउकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं णच्चा विमोहण्णतरं हितं।। (आ० ८ (८) : २५)

सव्र इनिद्रय विषयो मे मूर्च्छित न होता हुआ, वह आयुष्य को पूर्ण करे। तितिक्षा को परम धर्म समझकर मोहरहित मरणो मे से किसी एक को धारण करना, अत्यन्त हितकर है।

२६. जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहि रयणपुण्णहि।
पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति।।
सल्लेहणा विसुद्धा केइ तह चेव विवहसंगेहि।
संथारे विहरता वि सकिलिट्ठा विवज्जति।। (भग०आ० १६७३-७४)

जैस्रे वणिक् पत्तन (बन्दरगाह) के समीप पहुँकर भी प्रमादवश मूढ हो रत्नो से भरी हुई नौका के साथ डूब मरते हैं वैसे ही विशुद्ध सल्लेखनापूर्वक सस्तारक पर आरूढ होने पर भी कई राग-द्वेष आदि विविध भाव-परिग्रह द्वारा संक्लिष्ट परिणामो से युक्त होते हुए विनाश को प्राप्त होते है।

१. अहिंसा और माधुकरी वृत्ति

[१]

१ जावति लोए पाणा तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा न हणे णो वि घायए।। (द० ६ ६)

इस लोक मे जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ उन्हे जान या अजान मे न मारे न मरवाए।

२. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोर निग्गथा वज्जयंति णं।। (द० ६ : १०)

सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। अत निर्ग्रन्थ निर्दय प्राण-वध का सर्वथा त्याग करते हैं।

३. पुढवि दग अगणि मारुय तणरुक्ख सबीयगा।
तसा य पाणा जीव त्ति इइ वुत्तं महेसिणा।। (द० ८ · २)

पृथ्वी, अप्—जल, अग्नि, वायु, बीज सहित तृण और वृक्ष तथा त्रस प्राणी—ये जीव हैं, ऐसा महर्षि ने कहा है।

४. तेसिं अच्छणजोएण निच्च होयव्वय सिया।
मणसा कायवक्केण एव भवइ सजए।। (द० ८ : ३)

भिक्षु को मन, वचन और काया से इनके प्रति सदा अहिसक होना चाहिए। इसी प्रकार अहिसक रहनेवाला सयत होता है।

५ पुढविकाय न हिसति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण सजया सुसमाहिया।। (द० ६ : २६)

सुसमाहित सयमी मन, वचन और काया रूप तीनो योगों से तथा कृत, कारित और अनुमोदनरूप तीनो करण से पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय की हिसा नहीं करते।

६. पुढविकायं विहिंसंतो हिसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अच्क्खुसे।। (द० ६ . २७)

पृथ्वीकाय, (अप्काय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और तसकाय—इन जीवो) की हिंसा करता हुआ प्राणी उनके आश्रित अनेक प्रकार के चक्षुओं द्वारा दिखाई देनेवाले या न दिखाई देनेवाले त्रस और स्थावर प्राणियो की हिसा करता है।

७. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए।। (द० ६ : २८)

इसलिए इसे दुर्गतिवर्धक दोष जानकर मुमुक्षु यावज्जीवन पृथ्वीकाय आदि छह प्रकार के जीवों के समारंभ का वर्जन करे।

८. तसे पाणे न हिंसेज्जा वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु पासेज्ज विविहं जगं।। (द० ८ : १२)

मुनि मन, वचन और काया से त्रस प्राणियों की हिसा न करे। सर्वभूतो की हिसा से विरत साधु सारे जगत् को—सर्व प्राणियो को—आत्मवत् देखे।

९. इच्चेयं छज्जीवणियं सम्मद्दिठी सया जए।
दुलहं लभित्तु सामण्णं कम्मुणा न विराहेज्जासि।। (द० ४ : २८)

दुर्लभ रमण-भाव को प्राप्त करके समदृष्टि और सदा यत्न से प्रवृत्ति करनेवाले मुनि इन षट् जीव-निकाय के जीवों की मन, वचन और काया से कभी भी विराधना न करे।

[२]

१० अट्ठ सुहुमाइं पेहाए जाइं जाणित्तू।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहि वा।। (द० ८ . १३)

संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवो को जानने से सर्व जीवो के प्रति दया—अहिंसा का अधिकारी होता हे इन जीवों को भलीभाँति देखकर मुनि बैठे, खडा हो और सोए।

११ सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं वीय हरियं च अडसुहुमं च अट्ठमं।। (द० ८ . १५)

सूक्ष्म स्नेह—ओस, वर्फ, धॅअर आदि, पुष्प, प्राणी, उत्तिग—चींटी आदि का नगर, पनग—काई, वीज, हरितकाय और अण्डे—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव हें।

१२. एदमेयाणि जाणित्ता सव्वभावेण सजए।
अप्पमत्तो जए निच्च सव्विंदियसमाहिए।। (द० ८ . १६)

साधु इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवो को जानकर सर्व इन्द्रियो का दमन करता हुआ एव प्रमादरहित होकर हमेशा सर्व भावो से—तीन करण तीन योग से—इनकी यतना करे।

१३ तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घदणं किच्चा।
पयिार कादुजे मा तं चितेसु लभसु सदि।।(भग० आ० ७७८)

तृषा, क्षुधा आदि से पीडित होने पर भी जीवो का घात कर तृषा आदि को शान्त करने का विचार मन मे भी मत ला। ऐसे दु ख के अवसर पर आगम का स्मरण कर।

१४ रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि।
भोगपरिभोगहेदुं मा हि विचितेहि जीववह।। (भग० आ० ७७६)

रति, अरति, हास्य, भय, उत्सुकता, दीनत्व आदि भाव आत्मा मे उत्पन्न होने पर भी भोगोपभोग के लिए तू जीव-वध का विचार मन मे भी मत कर।

१५ जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रस।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।। (द० १ २)

जिस प्रकार भ्रम द्रुम-पुष्पो से थोडा रस पीता है—किसी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त करता है (वैसे श्री श्रमण अनेक घरो से सहज उत्पन्न आहार बिना किसी को खिन्न किये थोडा-थोडा ग्रहण कर जीवन चलता है।)

१६ वयं च वित्ति लब्भामो न य कोइ उवहम्मई।
अहागडेसु रीयंति पुप्फेसु भमरा जहा।। (द० १ · ४)

(भिक्षु की प्रतिज्ञा होती है)—"हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेगे कि किसी जीव का उपहनन न हो।" श्रमण यथाकृत—गृहस्थ के यहॉ सहज रूप से बना आहार लेते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पो से रस।

१७ एइदियादिपाणा पचविधावज्जभीरुणा सम्म।
ते खलु ण हिसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ।। (मू० २८६)

पॉच प्रकार के पापो से डरनेवाले पुरुष को सम्यक् आचरण करते हुए सर्वत्र एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय प्राणियो को कभी भी हिसा नहीं करनी चाहिए। यही अहिसा महाव्रत है।

२. अपरिग्रह और असंग्रह

[१]

१ अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि।
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं।।

(भग० आ० १११७)

हे क्षपक ! तू सपूर्ण अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहो का मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदन से त्याग कर।

२. मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा।।

(भग० आ० १११८)

मिथ्यात्व, तीन वेव (स्त्री वेद, पुरुष वेद नपुसक वेद), छ दोष (हास्य, रति, अरति, शोच, भय, जुगुप्सा) और चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

३. बाहिरसंगा खेत्तं वत्थं धणधण्णकुप्पभंडाणि।
दुपयचउप्पय जाणामि चेव सयणासणे य तहा।।

(भग० आ० १११९)

क्षेत्र वास्तु, धन, धान्य, कुप्य-भाड, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन और आसन—ये दस बाह्य परिग्रह हैं।

४ लूहवित्ती सुसंतुट्ठे . अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा सोच्चाणं जिणसासणं।। (द० ८ : २५)

भिक्षु, रूक्षवृत्ति, सुसतुष्ट, अल्प इच्छावाला और थोडे आहार से तृप्त होनेवाला हो। जिन-शासन को सुनकर वह कभी असुरवृत्ति को धारण न करे—क्रुद्ध न हो।

५ ण य होदि सजदो वत्थमित्तचागेण सेससगेहि।
तह्मा आचेलक्क चाओ सव्वेसि होइ संगाण।। (भग० आ० ११२४)

यदि अन्य सारे परग्रिह हैं तो केवल वस्त्र मात्र के त्याग से कोई सयती नहीं होता। अत सभी परिग्रह का त्याग ही अचेलकत्व हे।

६ अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरति ममाइय। (द० ६ २१)

बुद्ध पुरुष अधिक क्या अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते।

७ परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धि ण लहदि सव्वागमधरोवि।।
(प्र० सा० ३ ३९)

जिस पुरुष का शरीर आदि मे एक परमाणु के बारबर भी ममत्व है वह समस्त आगमो का जाननेवाला होने पर भी मुक्ति को प्राप्त नही करता।

८ कि किचणत्ति तक्क अपुणब्भवकामिणोध देहोवि।
सगोत्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा।।
(प्र० सा० ३ २४)

जिनवर भगवान् ने पुनर्जन्म को न चाहनेवाले मुमुक्षु को अपने शरीर के प्रति भी 'यह परिग्रह है' ऐसा मान कर उपेक्षा करने का ही उपदेश किया है ऐसी स्थिति मे यह विचार होता है कि क्या कुछ परिग्रह है ?

९ णिस्सगो चेव सदा कसायल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
सगा हु उदीरति कसाए अग्गीव कठ्ठाणि।।
(भग० आ० ११७५)

जो परिग्रह-रहित है वही भिक्षु सदा अपने कषाय को क्षीण कर सकता है। जो परिग्रही है, उसकी कषाये वैसे ही उद्दीप्त होती रहती है जैसे काष्ठ से अग्नि।

१० गथच्चाओ इदियणिवारणे अकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य इदियगुत्ती असगत्त।। (भग० आ० ११६८)

जिस प्रकार हाथी के नियंत्रण के लिए अकुश होता है, उसी प्रकार इन्द्रियो के नियत्रण के लिए अपरिग्रह है जिस प्रकार नगर की रक्षा के लिए खाई जाती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-गुप्ति के लिए अपरिग्रह है।

[२]

११ सन्निहि च न कुव्वेजजा अणुमाय पि सजए।
मुहाजीवी असबद्धे हवेज्ज जगनिस्सिए।। (द० ८ २४)

सयमी मुनि अणुमात्र भी सग्रह न करे। वह मुधाजीवी, असबद्ध और जगत् (लोगो) पर—आश्रित हो।

१२ लोभस्सेसो अणुफासो मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से।। (द० ६ . १८)

सग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो किसी भी वस्तु के सग्रह की कामना करता है, वह गृहस्थ है, साधु नहीं। ऐसा मै मानता हूँ।

१३ सन्निहि च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए।। (उ० ६ ' १५)

सयमी मुनि लेप मात्र भी सचय न करे। पक्षी की भाँति दूसरे दिन का ध्यान न रखते हुए पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे।

३. ब्रह्मचर्य-समाधि

१. अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठिय।
नायरंति मुणी लोए भेयाययणवज्जिणो।। (द० ६ . १५)

चरित्र को भग करनेवाली वातो का वर्जन करनेवाला—उनसे सदा सशंक रहने वाला—मुनि इस लोक मे प्रमाद के घर, घोर दुष्परिणाम वाले और असेव्य अब्रह्मर्य का सेवन नहीं करते।

२ मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणससग्गिं निग्गंथा वज्जयंति णं।। (द० ६ . १६)

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल ओर महा दोषो की राशि है। अत. निर्ग्रन्थ मुनि सब प्रकार के मैथुन-ससर्ग का वर्जन करते हैं—उनसे दूर रहते हैं।

३. नारीसु नोपगिज्झेज्जा इत्थी विप्पजहे अणगारे।
धम्म च पेसल नच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।। (उ० ८ . १६)

स्त्रियो को त्यागनेवाला अनगार उनमे आसक्त न हो। धर्म को मनोहर जानकर भिक्षु अपनी आत्मा को उसमे स्थापित करे।

४ न रूवलावण्णविलासहास न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तसि निवेसइत्ता दट्ठ ववस्से समणे तवस्सी।।
(उ० ३२ : १४)

तपस्वी श्रमण स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास, प्रिय भाषण, सकेत और कटाक्षपूर्ण दृष्टिपात को चित्त मे स्थान न दे और न स्त्रियो को देखने की अभिलाषा करे।

५ कामं तु देवीहि विभूसियाहि न चाइया खोभइउ तिगुत्ता।
तहा वि एगतहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो।।
(उ० ३२ . १६)

मन, वचन, और काया से गुप्त जिस परम सयमी को विभूषित देवाग्ङनाएँ भी काम से विह्वल नही कर सकती, ऐसे मुनि के लिए भी एकांतवास ही हितकर जानकर स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान मे निवास करना ही प्रशस्त कहा है।

६. जउकुम्भे जोइसुवगूढे आसुभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहि अणगारा सवासेण णासमुवयंति।।
(सू० १, ४ (१) २७)

जैसे अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घडा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियो के सहवास से अनगार का सयमरूपी जीवन नाश को प्राप्त हो जाता है।

७ हत्थपायपडिच्छिन्न कण्णनासविगप्पिय।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए।।[1] (द० ८ ५५)

अधिक क्या, जिसके हाथ-पैर प्रतिछिन्न हो—कटे हो, जो नकटी और बूची—विकृत अगवाली हो तथा जो सौ वर्ष की वृद्धा हो वैसी स्त्री के ससर्ग से भी ब्रह्मचारी बचे।

८ ज विवित्तमणाइण्ण रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलय तु निसेवए।। (उ० १६ १)

मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उस आलय—स्थान मे रहे, जो विविक्त, अनाकीर्ण और स्त्रियो से रहित हो।

६ मणपल्हायजणणि कामरागविवड्ढणि।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकह तु विवज्जए।। (उ० १६ २)

ब्रह्मचर्य से अनुरक्त मुनि मन को चचल करनेवाली और विषय-राग को बढानेवाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।

---

१ मू० ६६३।

१० सम च सथवं थीहि संकहं च अभिक्खण।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए।। (उ० १६ . ३)

स्त्रियो की सगति, उनके साथ परिचय और उनसे वार-वार बातचीत करने से ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु हमेशा बचे।

११ अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहिय।
बम्भचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए।। (उ० १६ . ४)

ब्रह्मचर्य मे रत रहनेवाला भिक्षु स्त्रियो के चक्षुग्राह्य अग-प्रत्यग, सस्थान—आकार, बोलने की मनोहर मुद्रा और चितवन को देखने का वर्जन करे।

१२ कुइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकंदियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए।। (उ० १६ ५)

ब्रह्मचर्य मे रत पुरुष स्त्रियो के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, क्रदन अथवा विषय-प्रेम के शब्दो को सुनने से दूर रहे।

१३ हास किड्ड रइ दप्पं सहसाऽवत्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीण नाणुचिंते कयाइ वि।। (उ० १६ . ६)

ब्रह्मचर्य मे रत पुरुष पूर्व मे स्त्री के साथ भोगे हुए हास्य, क्रीडा, रति—मैथुन, दर्प और सहसा वित्तासन आदि के प्रसगो का कभी भी स्मरण न करे।

१४ पणीय भत्तपाण तु खिप्पं मयविवड्ढण।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवजजए।। (उ० १६ · ७)

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु-विकार को शीघ्र बढानेवाले प्रणीत खान-पान का सदा वर्जन करे।

१५ धम्मलद्धं मिय काले जत्तत्थ पणिहाणव।
नाइमत्तं तु भुजेज्जा ब्बम्भचेररओ सया।। (उ० १६ ८)

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु गोचरी मे धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए नियत समय और मित मात्रा मे ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रा मे आहार का सेवन न करे।

१६ विभूस परिवज्जेज्जा सरीरपडिमण्डण।
बम्भचेररओ भिक्खू सिगारत्थ न धारए।। (उ० १६ ६)

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु विभूषा और शरीर-सस्कार—बनाव-शृगार को छोड दे। वह कोई भी वस्तु शृगार—शोभा—के लिए धारण न करे।

१७. सद्दे रुवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए।। (उ० १६ १०)

ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पॉच प्रकार के इन्द्रियो के विषयो का सदा वर्जन करे।

१८ धम्मारामे चरे भिक्खू धिइम धम्मसारही।
धम्मारामरए दते बम्भचेरसमाहिए।। (उ० १६ . १५)

धैर्यवान् और धर्मरूपी रथ को चलाने मे सारथी के समान भिक्षु धर्मरूपी बगीचे मे विहार करे। धर्मरूपी बगीचे मे आनन्दित रह इन्द्रियो का दमन करता हुआ भिक्षु ब्रह्मचर्य मे समाधि प्राप्त करे।

४ रात्रि-भोजन परित्याग

१ अहो निच्च तवोकम्म सव्वबुद्धेहि वण्णिय।
जा य लज्जासमा वित्ती एगभत्त च भोयण।। (द० ६ २२)

अहो ! साधु पुरुषो के लिए यह कैसा सुन्दर नित्य तपकर्म है जो उन्हे सयम निर्वाह-भर के लिए और केवल एक बार भोजन करना होता हे। सब ज्ञानियो ने इस रात्रिभोजन विरमण रूप व्रत का वर्णन किया है।

२. संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइ राओ अपासतो कहमेसणिय चरे ? (द० ६ २३)

ससार मे बहुत-से त्रस और स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते है कि वे रात्रि मे नहीं देखे जा सकते। फिर वह रात्रि मे उन्हे न देखता हुआ किस प्रकार एषणीय—निर्दोष आहार को ला या भोग सकेगा।

३ अत्थगयम्मि आइच्चे पुरत्था च अणुग्गए।
आहारमइयं सव्व मणसा वि न पत्थए।। (द० ६ २८)

सूर्य के अस्त होने से प्रात काल सूर्य के पुन उदय न होने तक सर्व प्रकार के आहारदि की मन से भी इच्छा न करे।

४. तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठ रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठयपवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ।। (मू० २९५)

रात्रिभोजन निवृत्ति का विधान अहिसा पॉच महाव्रतो की रक्षा के लिए हे, जेसे आठ प्रवचन-माताओ और सर्व भावनाओ का।

५ तेसिं पचण्हंपि य वयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण।। (मू २९६)

रात्रि-भोजन के प्रसग से मुनि के उन अहिसादि पॉच महाव्रतो मे मलिनता आती है, उनका नाश होता है, गृहस्थो को शका होती हे और आत्म-विपत्ति उत्पन्न होती है।

५. कौन संसार-भ्रमण नहीं करता ?

१ रागदोसे य दो पावे पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुम्भई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ३)

राग और द्वेष—ये दो पाप है, जो ज्ञानावरणीय आदि पाप-कर्मो के प्रवर्त्तक हैं। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता हे, वह ससार मे नही रहता।

२. दण्डाण गारवाण च सल्लाणं च तिय तिय।
जे भिक्खू चयई निच्च से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ४)

तीन दण्ड[1], तीन गौरव[2] तथा तीन शल्य[3]—इन तीन-तीन का जो भिक्षु नित्य त्याग करता है, वह ससार मे नहीं रहता।

३ दिव्वे य जे उवसग्गे तहा तेरिच्छमाणुसे।
जे भिक्खू सहई निच्च से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ · ४)

जो मनुष्य देव, तिर्यञ्च और मनुष्य-सम्बन्धी उपसर्ग—परीषहो को सदा सहता है। वह ससार मे नहीं रहता।

---

१ मन-दड, वचन-दड ओर काय-दड।

२ ऋद्धि का गर्व, रस का गर्व ओर सात—सुख का गर्व।

३ माया, निदान (फल-कामना) और मिथ्यात्व।

४ विगहाकसायसन्नाण झाणाण च दुय तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्च से न अच्छइ मडले।। (उ० ३१ ६)

चार विकथा[1], चार कषाय[2], चार सज्ञा[3] और चार ध्यान मे से दो ध्यान[4] को जो भिक्षु नित्य टालता है, वह ससार मे नही रहता।

५ वएसु इन्दियत्थेसु समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मडले।। (उ० ३१ · ७)

जो भिक्षु महाव्रतो[5], समितियो[6], के पालन मे, इन्द्रिय-विषयो[7] और क्रियाओ[8] के परिहार मे यत्न करता है, वह ससार मे नही रहता।

६. मयेसु बम्भगुत्तीसु भिक्खुधम्ममि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मडले।। (उ० ३१ १०)

आठ प्रकार के मद[9]-त्याग, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ती[10] और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म[11] के प्रति जो भिक्षु यत्न करता है—वह ससार मे नही रहता।

६. समत्व-साधना

१ ण सक्का ण सोउ सद्दा सोयविसयमागता।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।।(आ० चू० २, १५ ७२)

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। कान मे पडे हुए शब्दो को न सुनना शक्य नहीं है। भिक्षु कान मे पडे हुए शब्दो मे राग-द्वेष का परित्याग करे।

---

१ राजकथा, देशकथा, भोजकथा और स्त्रीकथा।
२ क्रोध, मान, माया और लोभ।
३ आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा।
४ आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान—इन चार मे से प्रथम दो।
५ पॉच महाव्रत। इनके लिए देखिए पृ० २३६-२५६।
६ पॉच समिमतियॉ। इनके लिए देखिए पृ० २६०-२६४।
७ श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श—इन पॉच के विषय।
८ कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी और प्राणातिपातिकी।
६ जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, ऐश्वर्यमद, श्रुतमद और लाभमद।
१० देखिए पृ० ३१८-३२१।
११ क्षाति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति—निर्लोभता, तप, सयम, सत्य, शौच अकिचन्य और ब्रह्मचर्य।

२ णो सक्का रूवमदट्ठु चक्खुविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७३)

रूप चक्षु का विषय है। ऑखो के सामने आये हुए रूप को न देखना शक्य नहीं। भिक्षु ऑखो के सामने आये हुए रूप मे राग-द्वेष का परित्याग करे।

३ णो सक्का ण गधमग्घाउ णासाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७४)

गध नाक का विषय है। नाक के समीप आई गध को न सूँघना शक्य नहीं। भिक्षु नाक के समीप आई हुई गध मे राग-द्वेष का परित्याग करे।

४ णो सक्का रसमणासाउं जीहाविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७५)

रस जिह्वा का विषय हे।। जिह्वा पर आये हुए रस का आस्वाद न लेना शक्य नहीं। भिक्षु जिह्वा पर आये हुएरस मे राग-द्वेष का परित्याग करे।

५ णो सक्का ण सवेदेउं फासविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७६)

स्पर्श शरीर का विषय हे। स्पर्श विषय के उपस्थित होने पर उसका अनुभव न करना शक्य नहीं। स्पर्श विषय के उपस्थित होने पर भिक्षु उसमे राग-द्वेष का परित्याग करे।

[२]

६. जे न वंदे न से कुप्पे वदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठई।। (द० ५ (२) : ३०)

जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष (गर्व) न लाए। इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्वाध भाव से टिकता है।

७ सयणासण वत्थं वा भत्तपाणं व संजए।
अदेतस्स न कुप्पेज्जा पच्चक्खे वि य दीसओ।। (द० ५ (२) · २८)

सयमी मुनि सामने दीख रहे शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे।

८ लद्धे ण होंति तुट्ठा णवि य अलद्धेण दुम्मणा होंति।
दुक्खे सुहेसु मुणिणो मज्झत्थमणाकुला होंति।। (मू० ८१६)

मुनि आहार के मिलने पर प्रसन्न नही होते और न मिलने पर मलिन-चित्त नहीं होते। दु ख और सुख मे मुनि मध्यस्थ और अनाकुल होते है।

६. किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववसो।
अज्झयमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।।(नि० सा० १२४)

जो श्रमण समतारहित है, उसके वनवास, काय, क्लेश, विविध उपवास, अध्ययन, मौन आदि से क्या लाभ ?

७. ण तस्स जाति व कुलं व ताणं

१ जे यावि अप्प वसुम ति मता सखाय वाय अपरिच्छ कुज्जा।
तवेण वाह अहिए ति मता अण्ण जण पस्सति बिबभूत।।
एगंतकूडेण तु से पलेइ ण विज्जं मोणपदंसि गोते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा वसुमण्णतरेण।।
(सू० १, १३ ८-६)

अपने को सयमी समझकर परमार्थ की परख न होने पर भी जो अपने को ज्ञानी मानता हुआ बडाई करता है और मै तो तप से अधिक हूँ, ऐसा गुमान करता हुआ दूसरे को परछाई की नॉई देखता है, वह कर्म-पाश मे जकडा जाकर—जन्म-मरण के एकान्त दु खपूर्ण चक्र मे घूमता है। ऐसा पुरुष सयमरूपी सर्वज्ञ मान्य गोत्र मे अधिष्ठित नहीं होता। जो मान का भूखा अपनी बडाई करता है और सयमधारण करने पर भी अभिमानी होता है, वह परमार्थ को नहीं समझता।

२ जे माहणे खत्तिए जाइए वा तहुग्गपुत्ते तह लेच्छवी वा।
जे पव्वइए खत्तिए परदत्तभोई गोतेण जे थब्भति माणबद्धे।।
ण तस्स जाती व कुलं व ताण णण्णत्थ विज्जाचरण सुचिण्णं।
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मे ण से पारए होति विमोयणाए।।
(सू० १, १३ १०-११)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र व लेच्छवी कोई भी हो जिसने घरवार छोड प्रव्रज्या ले ली है और दूसरे के दिये हुए भोजन पर ही जीवन चलाता है, ऐसे गोत्राभिमानी को उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नहीं हो सकते। सुआचरति विद्या और चरण—धर्म के सिवा अन्य वस्तु नही, जो उसकी रक्षा कर सके। जो घरबार से निकल चुकने पर भी गृही-कर्मो का सेवन करता है, वह कर्म-मुक्त होकर ससार के पार नहीं पहुँचता।

३. णिक्किचणे भिक्खू सुलूहजीवी जे गारवं होइ सिलोगगामी।
आजीवमेय तु अबुज्झमाणो पुणो-पुणो विप्परियासुवेति।।
(सू० १, १३ : १२)

निष्किचन और रूखे-सूखे आहार पर जीवन चलाने वाला भिक्षु होकर भी जो मानप्रिय ओर स्तुति की कामना वाला होता है, उसका वेष केवल आजीविका के लिए होता है। परमार्थ को न जानकर वह बार-बार संसार भ्रमण करता है।

४ जे भासव भिक्खु सुसाहुवादी पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगाढपण्णे सुय-भावियप्पा अण्णं जणं पण्णसा परिहवेज्जा।।
एवं ण से होति समाहिपत्ते जे पण्णसा भिकखु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमदावलित्ते अण्णं जणं खिंसति बालपण्णे।।
(सू० १, १३ : १३-१४)

भाषा का जानकार, हित-मित बोलने वाला, प्रतिभगवान् विशारद, स्थिर-प्रज्ञ और आत्मा को धर्म-भाव मे लीन रहने वाला—ऐसा भी जो साधु अपनी प्रज्ञा से दूसरे का तिरस्कार करता है, जो लाभ-मद से अवलिप्त हो दूसरे की निन्दा करता है और अपनी प्रज्ञा का अभिमान रखता है वह मूर्ख बुद्धि वाला पुरुष समाधि प्राप्त नहीं कर सकता।

५ पण्णामद चेव तृवोमदं च, णिण्णामए गोयमदं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से।।
(सू० १, १३ · १५)

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गोत्र-मद और चौथा आजीविका का मद—इन चारो मदो को नही करने वाला भिक्षु सच्चा पण्डित और उत्तम आत्मा वाला होता है।

६ एयाइ मदाइं विगिच धीरा णेताणि सेवति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोतावगता महेसी उच्च अगोत च गतिं वयंति।।
(सू० १, १३ १६)

जो धीर पुरुष इन मदो को दूर कर धर्म मे स्थिर बुद्धि हो इनका सेवन नहीं करते वे सर्व गोत्र से पार पहुँचे हुए महर्षि उच्च अगोत्र—मोक्ष को पाते है।

७ तय सं व जहाइ से रय इइ संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयण्णतरेण माहणे अहऽसेयकरी अंण्णेसि इखिणी।।
(सू० १, २ (२) . १)

जिस तरह सर्प कॉचली को छोडता है उसी तरह सन्त पुरुष पाप-रज को झाड देते है। यह जानकर मुनि गोत्र या अन्य बातो का अभिमान न करे और न दूसरो की अश्रेयस्कारी निदा करे।

८ जो परिभवई पर जण ससारे परिवत्तई मह।
अदु इखिणिया उ पाविया इह सखाय मुणी य मज्जई।।

(सू० १, २ (२) २)

जो दूसरो का तिरस्कार करता है, वह ससार मे अत्यन्त परिभ्रमण करता है। परनिदा को पापकारी समझकर मुनि किसी प्रकार का मद न करे।

९ जे यावि अणायगे, सिया जे वि य पेसगपेसगे सिया।
इद मोणपय उवट्ठिए णो. लज्जे समय सया चरे।।

(सू० १, २ (२) ३)

कोई नौकर का नौकर, तो भी सयम ग्रहण कर लेने पर मुनि परस्पर वदनादि करने मे नि सकोच भाव हो सदा परस्पर समभाव रखे।

८. उपदेश और चर्चा विधि

[१]

१ सखाए धम्मं च वियागरति बुद्धा हु ते अतकरा भवति।
ते पारगा दोण्ह विमायणाए ससोधिय पणहमुदाहरति।।

(सू० १, १४ १८)

धर्म को अच्छी तरह जानकर जो बुद्ध पुरुष उपदेश देते है, वे ही सर्व सशये का अन्त कर सकते है। अपनी और दूसरो की—दोनो की मुक्ति साधने वाले पारगामी पुरुष ही गूढ प्रश्नो का सोच-विचार कर उत्तर दे सकते है।

२ णो छादए णो वि य लूयएज्जा माण ण सेवेज्ज पगासण च।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा।।

(सू० १, १४ १९)

बुद्ध पुरुष सत्य को नही छिपाते, न उसका लोप करते है, वे मान नही करते, न अपनी बढाई करते है। बुद्धिमान होकर वे दूसरो का परिहास नही करते और न आशीर्वाद देते है।

३ भूयाभिसकाए दुगुछमाणे ण णिव्वहे मतपएण गोय।
ण किचिमिच्छे मणुए पयासु असाहुधम्माणि ण सवएज्जा।।

(सू० १, १४ २०)

साधु प्राणियो के विनाश की शका से सावद्य वचन से घृणा करता है। वह मत्रविद्या के द्वारा अपने गोत्र—सयम—को नष्ट न करे। लोगो को धर्मोपदेश करता हुआ उनसे किसी चीज की चाह न करे तथा असाधुओ के धर्म का उपदेश न दे।

४ हास पि णो संधए पावधम्मे ओए तहिय फरुसं वियाणे।
णो तुच्छए णो य विकत्थएज्जा अणाइले या अकसाइ भिक्खू।।
(सू० १, १४ · २१)

साधु हास्य उत्पन्न हो ऐसा शब्द या मन, वचन, काया की चेष्टा न करे। तथ्य होने पर भी दूसरे को कठोर लगने शब्द न कहे। विकथा न करे। वह लोभ आदि कषाय-रहित हो।

५ सकेज्ज या ऽसंकितभाव भिक्खू विभज्जवाय च वियागरेज्जा।
भासादुग धम्म्समुट्ठितेहि वियागरेज्जा समयाऽसुपण्णे।।
(सू० १, १४ · २२)

अर्थ आदि के विषय-रहित भी भिक्षु सभल कर बोले। वह विभज्यवाद (स्याद्वादमय) वचन बोले। धर्म मे समुपस्थित मनुष्यो मे रहता हुआ दो भाषा—सत्य भाषा और व्यवहार का प्रयोग करे। सुप्रज्ञ समभाव से सबको धर्म कहे।

६ अणुगच्छमाणे वितह ऽभिजाणे तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थई भास विहिसएज्जा णिरुद्धग वावि ण दीहएज्जा।।
(सू० १, १४ . २३)

कई साधु के अर्थ को ठीक समझा लेते है। साधु अकर्कश शब्दो से वस्तु तत्त्व समझावे। कठोर बात न कहे। प्रश्नकर्त्ता की भाषा का उपहास न करे और न छोटे अर्थ को लम्बा करे।

७ अहाबुइयाइ सुसिक्खएज्जा या णाइवेल वएजजा।
से दिट्ठिम दिट्ठि ण लूसएजजा से जाणइ भासिउं त समाहि।।
(सू० १, १४ · २५)

उपदेशक बुद्ध वचनो को अच्छी तरह सीखे। गूढार्थ जानने के लिए यत्न करे। मर्यादा उपरान्त न बोले। वह दृष्टिवान् ज्ञानियो की दृष्टि न करे। ऐसा उपदेशक ही सच्ची भाव-समाधि जानता है।

८ अलूसए णो पच्छण्णभासी णो सुत्तमत्थ च करेच्च अण्णं।
सत्थारभत्ती अणुवीचि वाय सुय च सम्म पडिवादएजजा।।
(सू० १, १४ · २६)

उपदेशक सिद्धान्त का लोप न करे, वह प्रच्छन्न भाषी न हो। वह सूत्र और अर्थ को विकृत न करे परन्तु उनकी अच्छी तरह रक्षा करने वाला हो। वह गुरु के प्रति अच्छी तरह भक्ति रखता हुआ, गुरु की बात का विचार कर सुनी हुई बारत को यथातथ्य कहे।

९ से सुद्धसुत्ते उवहाणव च धम्म च जे विदति तत्थ तत्थ।
आएज्जवक्के कुसले वियत्ते से अरिहइ भासिउ तं समाहि।।
(सू० १, १४ . २७)

जो आगम सूत्रो को शुद्ध रूप से समझता हो, जो धर्म को यथातथ्य जानता हो, जो प्रामाणिक बोलता हो, जो कुशल हो तथा विवेकयुक्त हो वही समाधि-साधना (मोक्ष-मार्ग) का उपदेश देने योग्य है।

१० केसिचि तक्काए अबुज्झ भाव खुद्द पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालतियार वघात लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे।।
(सू० १, १३ · २०)

तर्क से दूसरे के भाव को न समझकर उपदेश करने से दूसरा पुरुष श्रद्धा न कर क्षुद्रता धारण कर सकता है और आयुक्षय भी कर सकता है, इसलिए अनुमान से दूसरे का अभिप्राय समझकर धर्मोपदेश करे।

११. ण पूयण चेव सिलोय कामे पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयते अणाइले या अकसाइ भिक्खू।।
(सू० १, १३ २२)

भिक्षु धर्मोपदेश के द्वारा अपनी पूजा और स्तुति की कामना न करे तथा किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे एव सब अनर्थो को टालता हुआ अनाकुल और कषाय-रहित होकर धर्मोपदेश करे।

१२ आयगुत्ते सया दते छिण्णसोए णिरासवे।
जे धम्म सुद्धमक्खाति पडिपुण्णमणेलिस।। (सू० १, ११ . २४)

जो आत्मगुप्त है, सदा इन्द्रि-दमन करने वाला है, छिन्नस्रोत है एव अनास्रव है एव अनास्रव है, वही शुद्ध, प्रतिपूर्ण एव अनुपम धर्म का उपदेश करता है।

[२]

१३ रागदोसाभिभूयप्पा मिच्छत्तेण अभिद्दुया।
अक्कोसे सरण जति अकणा इव पव्वयं।। (सू० १, ३ (३) १८)

राग और द्वेष से पराजित तथा मिथ्यात्व से व्याप्त अन्यतीर्थी युक्तियो द्वारा वाद करने मे असमर्थ होने पर आक्रोश और मारपीट आदि का वेसे ही आश्रय लेते हैं जेसे टडकण नामक म्लेच्छ जाति हारकर पहाड का आश्रय लेती है।

१४. बहुगुणप्पकप्पाइं कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणण्णे ण विरुज्झेज्जा तेणं तं तं समायरे।। (सू० १, ३ (३) : १६)

आत्म-समाधि मे लीन मुनि वाद करते समय ऐसी बातें करें जो अनेक गुण उत्पन्न करने वाली हो। मुनि, प्रतिवादी विरोधी न बने, ऐसा कार्य अथवा भाषण करे।

६. मार्ग-स्थित भिक्षु

१. जहित्तु संगं च महाकिलेसं महंतमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएजा वयाणि सीलाणि परीसहे य।।
(उ० २१ : ११)

मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करनेवाले कृष्ण और भयावह ममत्व को छोडकर पर्याय-धर्म (संयम), व्रत और शील परीषहो में अभिसरुचि रखे।

२. अहिंस सच्चं व अतेणगं च तत्तो य बम्भं अपरिग्गाहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसिय विऊ।।
(उ० २१ : १२)

विद्वान् अहिसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन पॉच महाव्रतो को ग्रहण कर जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

३ सव्वेहि भूएहिं दयाणकुम्पी खंतिक्खमे संजयबम्भयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो चरिज्जा भिक्खू सुसमाहिइंदिए य।।
(उ० २१ : १३)

सुसमाहित-इन्द्रिय भिक्षु भूतो के प्रति दयानुकम्पी हो। वह क्षमाशील हो, संयत हो, ब्रह्मचारी हो। वह सर्व सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरे।

४. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु।।
(उ० २१ . १४)

मुनि अपने बलाबल को जानकर कालोचित कर्त्तव्य करता हुआ राष्ट्र मे विहार करे। वह सिह की तरह भयानक शब्दो से संत्रस्त न हो। वह अयोग्य वचन सुनकर असभ्य वचन न बोले।

५ अरइरइसहे पहीणसथवे विरए आयहिए पहाणव।
परमट्ठपएहि चिट्ठई छिन्नसोए अममे अकिचणे।। (उ० २१ २१)

जो रति और अरति को सहन करनेवाला है, जो गृहस्थ के परिचय का नाश कर चुका, जो पापो से विरत है, जो आत्महितैषी है, सयम जिसका प्रधान लक्ष्य है, जो छिन्नशोक है तथा जो ममत्वरहित और अकिचन है—वही परमार्थ-पदो मे—निर्माण-मार्ग पर अवस्थित है।

६ सीओसिणा दंसमसा य फासा आयका विविहा फुसति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा रयाइ खेवेज्ज पुरेकडाइ।।
(उ० २१ १८)

सर्दी, गर्मी, दश, मशक, कठोर-तीक्ष्ण स्पर्श तथा विविध आतक आदि अनेक परीषह मनुष्य शरीर को स्पर्श करते है। साधु इन सबको बिना किसी विकृति के सहन करे। इस प्रकार वह पूर्व सचित रज का क्षय करे।

७ उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोएज्जा न यावि पूय गरह च सजए।।
(उ० २१ · १५)

सयमी मुनि विरोधियों की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे। प्रिय और अप्रिय सब सहन करे। जहॉ जो हो सब मे अभिरुचि न करे, न पूजा एव गर्हा की स्पृहा करे।

८ अणेगछन्दाइह माणेवहि जे भावओ सपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइंति भीमा दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा।।
(उ० २१ १६)

इस लोक मे मनुष्य के अनेक अभिप्राय होते है। यहॉ देवताओ के, मनुष्यो के और तिर्यचो के अनेक भयकर भय-भैरव उत्पन्न होते है। भिक्षु उन सबको समभाव से ले और सहन करे।

९ परीसहा दुव्विसहा अणेगे सीयति जत्था बहुकाया नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्जा भिक्खू सगामसीसे इव नागराया।।
(उ० २१ १७)

ऐसे अनेक दु सह परीषह है, जिनके सम्मुख बहुत-से कायर पुरुष व्यथित हो जाते है, पर भिक्षु उनके उपस्थित होने पर उसी तरह व्यथित नही होता, जिस तरह सग्राम के अग्र-मुख पर रहा हुआ नागराज।

१० जो सहइ हु गामकटए अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसपहासे समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू।।
(द० १० ११)

जो कॉटे के समान चुभनेवाले इन्द्रिय-विपयो, आक्रोश- वचनो, प्रहारो, तर्जनाओ और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शव्दयुक्त अट्टहासो को सहन करता हे तथा सुख और दु ख को समभावपूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है।

११ पडिम पडिवज्जिया मसाणे नो भायए भयभेरवाइं दिस्स।
विविहगुणतवोरए य निच्च न सरीरं चाभिकंखई जे स भिकखू।।
(द० १० : १२)

जो श्मशान मे प्रतिमा को ग्रहण कर अत्यन्त भयजनक दृश्यो को देखकर नहीं डरता, जो विविध गुणो ओर तपो मे रत होता है, जो शरीर की आकाक्षा नहीं करता, वह भिक्षु है।

१२. पहाय रागं च तहेव दोसं मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएणं अकम्पमाणो परीसहे आयुगुत्ते सहेज्जा।।
(द० २१ . १६)

विचक्षण भिक्षु, राग, द्वेष तथा मोह को सतत् छोडे तथा जिस तरह मेरु वायु से कम्पित नहीं होता उसी तरह आत्मगुप्त परीषहो को अकम्पित भाव से सहन करे।

१३ अणुन्नए नावणए महेसी न यावि पूय गरह च संजए।
स उज्जुभाव पडिवज्ज सजए निव्वाणमग्गं विरए उवेइ।।
(द० २१ . २०)

जो न अभिमानी है और न दीनवृत्तिवाला हे—जिसका पूजा मे उन्नत भाव नहीं ओर न निन्दा मे अवनत भाव है, जो इनमे लिप्त नही होता, वह ऋजुभाव को प्राप्त सयमी महर्षि पापो मे विरत होकर निर्वाण-मार्ग को प्राप्त करता है।

१४ सन्नाणनाणोवगए महेसी अणुत्तर चरिउ धम्मसचय।
अणुत्तरेनाणधरे जससी ओभासई सूरिए वतलिक्खे।।
(द० २१ २३)

सद्ज्ञान से ज्ञान- प्राप्त महर्षि मुनि अनुत्तर धर्म-सचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अन्तरिक्ष मे सूर्य की भॉति चमकता है।

१०. ऋजुधर्मा

१ माता पिता ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
णाल ते मम ताणाए लुप्पतस्स सकम्मुणा।।
एयमट्ठ सपेहाए परमट्ठाणुगामियं।
णिम्ममो णिरहंकारो चरे भिक्खू जिणाहियं।। (सू० १, ६ ५-६)

'अपने कर्मो से ससार-चक्रवाल मे पीडित मेरी—माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, स्त्री और पुत्र भी रक्षा करने मे समर्थ नही हैं'—इस तथ्य को विचार कर परमार्थ का अनुगामी भिक्षु ममता और अहकार-रहित होकर जिन-कथित धर्म का आचरण करे।

२ सतिमा तहिया भासा जं वइत्ताणुतप्पई।
ज छण तं ण वत्तव्वं एसा आणा णियंठिया।। (सू० १, ६ २६)

चार प्रकार की भाषाओ मे से तृतीय भाषा (झूठ मिश्रित सत्यभाषा) साधु न बोले। जिसे बोलने से बाद मे अनुताप हो वैसी भाषा भी न बोले। जो भाषा छन्न—हिसाप्रध ान हो उसे न बोले। यही निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा है।

३ होलावाय सहीवाय गोयवाय च णो वए।
तुम तुम ति अमणुण्ण सव्वसो तं ण वत्तए।। (सू० १, ६ २७)

'होला'वाद, 'सखि'वाद, 'गोत्र'वाद भाषा न बोले। 'तू-तू' आत्मक भाषा न बोले। जो भाषा अमनोज्ञ हो, साधु उसका सर्वश प्रयोग न करे।

४ अकुसीले सदा भिक्खू णो य ससग्गिय भए।
सुहरूवा तत्थुवसग्गा पडिबुज्झेज्ज ते विदू।। (सू० १, ६ २८)

भिक्षु स्वय सदा अकुशील रहे। वह कुशील—दुराचारियो का ससर्ग न करे। कुशीलो की सगति मे सुखरूप—अनुकूल विपद रहती है—यह विद्वान पुरुष जाने।

५ अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए।। (सू० १, ६ ३०)

साधु मनोहर शब्दादि विषयो मे अनुत्सुक हो। यतना पूर्वक रहे। अपनी चर्या मे अप्रमत्त हो। परीषहो से स्पृष्ट होने पर उन्हे समभावपूर्वक सहन करे।

६ गिहे दीवमपासता पुरिसादाणिया णरा।
ते वीरा बधणुम्मुक्का णावकखति जीवियं।। (सू० १, ६ ३४)

गृह मे ज्ञानरूपी दीपक न देख जो पुरुप प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, वे पुरुपानीय—वडे से वडे आश्रय स्थल हो जाते हैं। ऐसे पुरुष वधन से मुक्त होते है। वे वीर पुरुष असयममय जीवन की इच्छा नहीं करते।

७. लद्धे कामे ण पत्थेज्जा विवेगे एव माहिए।
आयरियाई सिक्खेज्जा बुद्धाणं अंतिए सया।। (सू० १, ६ . ३२)

काम-भोग प्राप्त हो, तो भी उनकी कामना न करे। ज्ञानियो ने त्यागियो के लिए ऐसा ही विवेक वतलाया है। वुद्ध पुरुप के समीप रहकर मुनि सदा आर्यधर्म (सदाचार) सीखे।

८. अगिद्धे सद्दफासेसु आरंभेसु अणिरिस्सए।
सव्वं तं समयातीत जमेत्तं लवियं बहु।। (सू० १, ६ : ३५)

सत्य मार्ग की गवेषणा करनेवाला पुरुष शव्द, स्पर्श प्रमुख विपयो मे अनासक्त रहता हे तथा छह काया की हिसावाले कार्यो मे प्रवृत्ति नहीं करता। जो सव वाते निषेध की गई हैं। वे दर्शन से विरूद्ध होने के कारण निषेध की गई हैं।

६. णिव्वाण-परमा बुद्धा णक्खत्ताण व चंदमा।
तम्हा सया जए दंते णिव्वाणं संधए मुणी।। (सू० १, ११ : २२)

बुद्ध पुरुषो ने निर्वाण को वैसे ही परम श्रेष्ठ कहा है, जैसे नक्षत्रो मे चन्द्रमा होता है। अत मुनि सदा यतनाशील और जितेन्द्रिय रहकर मोक्ष की साधना करे।

१० वुज्झमाणाण पाणाणं किच्चंताणं सकम्मणा।
आघाति साधुतं दीवं पतिट्ठेसा पवुच्चई।। (सू० १, ११ : २३)

अपने धर्मो से कष्ट पाते हुए तथा संसार सागर मे डूवते हुए प्राणियो के लिए तीर्थंकर धर्म को ही उत्तम द्वीप कहते हैं। उनके द्वारा धर्म को ही प्रतिष्ठा—आधार—कहा गया है।

११ संधए साहुधम्मं च पावधम्मं णिराकरे।
उवाधाणवीरिए भिक्खू कोहं माणं ण पत्थर।। (सू० १, ११ . ३५)

भिक्षु क्षान्ति आदि साधु-धर्मो की वृद्धि करे। पाप धर्म का त्याग करे। तप करने मे यथाशक्य पराक्रमी भिक्षु क्रोध और मान का वर्जन करे।

११. विमुक्त

१ अणिच्चमावासमुवेति जतुणो पलोयए सोच्चमिदं अणुत्तरं।
विऊसिरे विष्णु अगारबंधण अभीरु आरभपरिग्गहं चए।।
(आ० चू० १६ : १)

प्राणी चार गतियो मे जो भी आवास प्राप्त करते है वह अनित्य है। इस अनुत्तर उपदेश को सुनकर, उस पर विचार कर विद्वान व्यक्ति गृहबधन का परित्याग करे और निर्भय हो आरभ और परिग्रह को छोडे।

२ तहागअ भिक्खु मणतसजय अणेलिस विण्णु चरंतमेसण।
तुदंति वायाहि अभिद्दवं णरा सरेहिं सगामगय व कुंजरं।।
(आ० चू० १६ २)

उत्तम भावना से भावित अनन्त जीवो के प्रति सयत विद्वान् भिक्षु को अनुपम भिक्षाचर्या करते समय कई मनुष्य, सग्राम मे गये हुए हाथी को वाणो से बींधने के समान असभ्य वचनो से व्यथित करते है और उस पर अन्य उपद्रव करते है।

३ तहप्पगारेहि जणेहि हीलिए ससद्दफासा फरुसा उदीरिया।
तितिक्खए णाणि अदुट्ठचेयसा गिरिव्व वाएण ण संपवेवए।।
(आ० चू० १६ : ३)

उसी प्रकार लोगो द्वारा तर्जित और कर्कश शब्द और स्पर्श द्वारा व्यथित किया जाता हुआ ज्ञानी भिक्षु इन कष्टो को वैसे ही अदुष्टचित से सहन करे जैसे पर्वत वायु से प्रकम्पित नहीं होता हुआ उसे सहन करता है।

४ उवेहमाणे कुसलेहि संवसे अकतदुक्खी तसथावरा दुही।
अलूसए सव्वसहे महामुणी तहा हि से सुस्समणे समाहिए।।
(आ० चू० १६ . ४)

भिक्षु परीषहो को सहन करता हुआ कुशल मुनियो के साथ रहे। अनेक प्रकार के अप्रिय दु खो से दु खित त्रस और स्थावर जीवो को किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ सर्वसह हो। इस तरह करनेवाला और सर्वसह होने के कारण ही वह महामुनि श्रेष्ठ श्रमण कहा जाता है।

५ विदू णते धम्मपयं पणुत्तरं विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा तवो य पण्णा य जसो य वड्ढइ।।
(आ० चू० १६ : ५)

अनुत्तर धर्मपदो का अनुसरण करनेवाला, विनीत, विद्वान्, विनीततृष्ण, समाहित ओर ध्यानयुक्त मुनि के तप, प्रज्ञा और यश उसी तरह वृद्धि को प्राप्त होते हें जिस तरह अग्नि-शिखा प्रकाश से।

६ सितेहि भिक्खू असिते परिव्वए असज्जमित्थीसु चएज्ज पूअणं।
अणिस्सिओ लोगमिण तहा पर ण मिज्जति कामगुणेहि पंडिए।।
(आ० चू० १६ : ७)

भिक्षु वॅधे हुओ मे अवद्ध रहे। स्त्रियो मे आसक्त न हो। पूजा—सत्कार.सम्मान की इच्छा का त्याग करे। इस लोक तथा परलोक की कामना से रहित हो। पडित साधु कामगुणो मे न फॅसे।

७. तहा विमुक्कस्स परिण्णचारिणो धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो।
विसुज्झई जसि मलं पुरेकडं समीरिय रुप्पमलं व जोइणा।।
(आ० चू० १६ : ८)

इस तरह विमुक्त तथा विवेकपूर्वक आचरण करनेवाले उस धृतिमान और दु खसह भिक्षु से पूर्वकृत सारे पाप कर्म उसी तरह दूर हो जाते हैं जिस तरह अग्नि के ताप द्वारा चॉदी का मैल।

८. से हु प्परिण्णा समयमि वट्टइ णिराससे उवरय-मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा जहे विमुच्चइ से दुहसेज्ज माहणे।।
(आ० चू० १६ : ६)

विवेक और ज्ञान के अनुसार चलनेवाला, आशसा-आकाक्षा रहित और मैथुन से उपरत वह माहन—किसी की हिसा न करनेवाला मुनि जिस तरह सर्प जीर्ण कॉचली को छोडता है, उसी तरह दु खशय्या से मुक्त हो जाता है।

६ जमाहु ओहं सलिलं अपारग महासमुद्द व भुयाहि दुत्तर।
अहे य ण परिजाणाहि पंडिए से हु मुणी अतकडे त्ति वुच्चइ।।
(आ० चू० १६ · १०)

अपार सलिल से भरे महासमुद्र को भुजाओ से तैरना कठिन होता है वैसे ही ससार का पार पाना कठिन कहा गया है। उस ससार के स्वरूप को जानकर ज्ञानी उसका त्याग करे। जो ऐसा करता है, वह मुनि ही अन्तकृत (ससार का अन्त लानेवाला) कहलाता है।

१० जहा हि बद्ध इह माणवेहि य जहा य तेसि विमोक्ख आहिओ।
अहा तहा बधविमोक्ख जे विऊ से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चइ।।
(आ० चू० १६ . ११)

इस ससार मे मनुष्य द्वारा जिस तरह कर्मो का बन्धन होता है, उसी तरह उस बधन से उसकी मृत्यु भी कही गई है। बध और मोक्ष की प्रक्रिया के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला वह मुनि अन्तकृत कहा गया है।

११ इममि लोए परए य दोसुवि ण विज्जइ बधण जस्स किचिवि।
से हु णिरालंबणे अप्पइट्ठिए कलकली भावपह विमुच्चइ।।
(आ० चू० १६ १२)

जिसे इस लोक और परलोक दोनो मे किचित् भी बधन नहीं है तथा जो सर्व पदार्थो की आकाक्षा से रहित—निरालब और अप्रतिबद्ध है वह कलकलीभूत जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाता है।

१२. निर्मोह

१. विजहित्तु पुव्वसजोगं न सिणेह कहिचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहि दोसपओसेहि मुच्चए भिक्खू।। (उ० ८ २)

पूर्व सयोगो को छोड चुकने पर फिर किसी भी वस्तु मे स्नेह न करे। स्नेह (मोह) करनेवालो के साथ भी नि स्नेह (निर्मोह) होता है, वह भिक्षु दोष-प्रदोषो से मुक्त हो जाता है।

२ दुपरिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहि।
अह सति सुव्वया साहू जे तरति अतरं वणिया व।। (उ० ८ ६)

ये काम दुस्त्यज है। अधीर पुरुषो द्वारा सहज मे त्याज्य नही। जो सुव्रती साधु होते है, वे इन दुस्तर कामभोगो को उसी तरह तैर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को।

३ समणा मु एगे वयमाणा पाणवह मिया अयाणता।
मदा निरय गच्छंति बाला पावियाहि दिट्ठीहि।। (उ० ८ ७)

हम साधु हैं—ऐसा कहनेवाले पर प्राणी-वध मे पाप नहीं जाननेवाले मृग के समान मन्द-बुद्धि पुरुष अपनी पापपूर्ण दृष्टि से नरक मे जाते है।

४ न हु पाणवह अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाण।
एवारिएहि अक्खायं जेहि इमो साहुधम्मो पन्नत्तो।।(उ० ८ ८)

जिन आर्यो ने इस साधु धर्म का कथन किया है, उन्होने कहा है कि प्राणि वध का अनुमोदन करनेवाला अवश्य ही कभी भी सर्व दु खो से नहीं छूट सकता।

५ इहजीविय अणियमेत्ता पब्भट्ठा समाहिजोएहि।
ते कामभोगरसगिद्धा उववज्जंति आसुरे काए।। (उ० ८ : १४)

जो इस जन्म मे जीवन को वश मे न रख समाधियोग से परिभ्रष्ट होते हैं,, वे काम-भोग और रसो मे गृद्ध जीव असुरकाय मे उत्पन्न होते है।

६ तत्तो वि य उवट्टित्ता संसारं वहुं अणुपरियडंति।
बहुकम्मलेवलित्ताण बोही होइ सुदुल्लहा तेसि।। (उ० ८ : १५)

वहॉ से निकल जाने पर भी वे ससार मे वहु पर्यटन करते हैं। वहुत कर्मो के लेप से लिप्त उनके लिए पुन वोधि का पाना अत्यन्त दुर्लभ होता है।

१३. शैक्ष-बोध

१ गथं विहाय इह सिक्खमाणो उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणय सुसिक्खे जे छेए से विप्पमादं ण कुज्जा।।
(सू० १, १४ . १)

आत्मार्थी ससार मे आत्म-कल्याण के लिए उद्यत हो धन-धान्यादि का त्याग करे। (नव प्रव्रजित साधु) धर्म-शिक्षा का वोध पाता हुआ, व्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करे। वह गुरु की आज्ञा का पालन करता हुआ विनय सीखे। निपुण साधु कभी भी प्रमाद न करे।

२ सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि अणासवे तेसु परिव्वाएज्जा।
णिद्द च भिक्खू ण पमाय कुज्जा कहं कह वी वितिगिच्छ तिण्णे।।
(सू० १, १४ . ६)

मधुर या भयकर शब्दो को सुनकर शिष्य उनमे राग-द्वेष रहित होकर विचरे। साधु निद्रा और प्रमाद न करे और किसी विषय मे भ्रम होने पर हर उपाय से मन की डॉवा-डोल स्थिति से उत्तीर्ण हो।

३ डहरेण वुड्ढेण ऽणुसासिते तु रातिणिएणाऽवि समव्वएणं।
सम्म तय थिरतो णाभिगच्छे णिज्जंतए वावि अपारए से।।
(सू० १, १४ . ७)

जो बालक या वृद्ध, बडे या समवस्क साधु द्वारा भूल सुधार के लिए कहे जाने पर अपने को सम्यक् रूप से स्थिर नहीं करता है, वह ससार-प्रवाह मे बह जाता है और उसका पार नहीं पा सकता।

४ विउट्ठितेण समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेण ऽणुसासिते तु।
अब्भुट्ठिताए घडदासिए वा अगारिण वा समयाणुसिट्ठे।।
ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेजा ण यावि किची फरुस वदेज्जा।
तहा करिस्स ति पडिस्सुणेज्जा सेय खु मेय ण पमाद कुज्जा।।
(सू० १, १४ ८-६)

परतीर्थिक आदि द्वारा, किसी दूसरे छोटे, बडे या समवस्क द्वारा, अत्यन्त हल्का काम करनेवाली दासी या घटवासी द्वारा अथवा गृहस्थ द्वारा भी अर्हत्-दर्शन की ओर अनुशासित किया हुआ साधु उन पर क्रोध न करे और न उन्हे पीडित करे। वह उनके प्रति कटु शब्द न कहे, पर 'मै अब से ऐसा ही करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करे। वह यह सोचकर कि यह मेरे स्वय के भले के लिए है, कभी प्रमाद न करे।

५ वणसि मूढस्स जहा अमूढा मग्गाणुसासंति हित पयाण।
तेणा वि मज्झ इणमेव सेय जं मे बुधा सम्मऽणुसासयति।।
(सू० १, १४ १०)

वन मे दिग्मूढ मनुष्य को दिशा-निर्देश करनेवाला अमूढ मनुष्य जैसे उसका हित करता है, उसी तरह मेरे लिए भी यह श्रेयस्कर है कि बुद्ध पुरुष शिक्षा देते है।

१४. अनासक्ति

१ अण्णयपिडेणऽहियासएज्जा णो पूयण तवसा आवहेज्जा।
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे सव्वेहि कामेहि विणीय गेहि।।
(सू० १, ७ · २७)

साधु अज्ञात पिण्ड से जीवन चलावे। तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा न करे। वह शब्द और रूप मे आसक्त न हो और सर्व कामना से चित्त को हटावे।

२ सव्वाइ सगाइ अइच्च धीरे सव्वाइं दुक्खाइ तितिक्खमाण।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी अभयकरे भिक्खु अणाविलप्पा।।
(सू० १, ७ २८)

धीर भिक्षु सब सम्बन्धो को छोडकर सब प्रकार के दु खो को सहन करता हुआ चारित्र मे सम्पूर्ण होता है। वह अगृद्ध और अप्रतिबंध-विहारी होता है। वह प्राणियो को अभय देता हुआ विषयो मे अनाकुल रहता है।

३ भारस्स जाता मुणि भुजएज्जा कखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा संगामसीसे व परं दमेज्जा।।
(सू० १, ७ : २६)

मुनि संयम-भार के निर्वाह के लिए आहार करे। वह पूर्व पापो के विनाश की इच्छा करे। परीषह या उपसर्ग आ पडने पर धर्म मे ध्यान रखे। जैसे सुभट युद्धभूमि मे शत्रु को दमन करता है, उसी तरह वह अपनी आत्मा का दमन करे।

४ अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी समागम कंखइ अंतगस्स।
णिद्धूय कम्मं ण पवचुवेइ अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि।।
(सू० १, ७ : ३०)

हनन किया जाता हुआ साधु छिली जाती हुई लकडी की तरह राग-द्वेष रहित होता है। वह शान्त भाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार कर्म-क्षय करनेवाला साधु उसी प्रकार भव-प्रपञ्च मे नहीं पडता जिस प्रकार गाडी धुरा टूटने पर आगे नहीं चलती।

५ सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे रसेसु गधेसु अदुस्समाणे।
णो जीवियं णो मरणाभिकखे आयाणगुत्ते वलया विमुक्के।।
(सू० १, १२ : २२)

मनोहर शब्द ओर रूप मे आसक्त न होता हुआ, बुरे रस ओर गन्ध मे द्वेष न करता हुआ तथा जीने ओर मरण की इच्छा न करता हुआ साधु संयम से गुप्त और माया से रहित रहे।

६ ण य संखयमाहु जीवियं तह वि य वालजणो पगब्भई।
बाले पावेहि मिज्जई इइ संखाय मुणी ण मज्जई।।
(सू० १, २ (२) . २१)

यह जीवन साँधा नही जा सकता—ऐसा कहा गया है, तो भी मूर्ख प्राणी प्रगल्भता वश पाप करते रहते है। मूर्ख पापो के ढँक जाता है—यह जानकर मुनि मद न करे।

१५. बहु खु मुणिणो भद्दं

१ सुह वसामो जीवामो जेसि मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण।। (उ० ९ . १४)

वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है, उसमे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

२ चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पिय न विज्जई किचि अप्पिय पि न विज्जए।। (उ० ९ · १५)

जो भिक्षु पुत्र और कलत्र को छोड चुका और जो व्यापार से रहित है, उसके लिए कोई चीज प्रिय नहीं होती और न कोई अप्रिय।

३ बहुं खु मुणिणो भद्द अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगंतमणुपस्सओ।। (उ० ९ . १६)

जो सर्व प्रकार से मुक्त है, 'कोई किसी का नही होता'—इस प्रकार एकान्तदर्शी है, जो गृह-मुक्त है, जो भिक्षु है, उस मुनि को सदा विपुल भद्र (कल्याण) है।

४ छंद निरोहेण उवेइ मोक्ख आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइ वासाइं चरप्पमत्तो तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्ख।।
(उ० ४ ८)

स्वच्छन्दता के विरोध से जीव उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है जिस प्रकार शिक्षित कवचधारी योद्धा युद्ध मे विजय। अत मुनि पूर्व जीवन मे अप्रमत्त होकर रहे। ऐसा कार्य करने से वचित कर्मो से छुटकारा पाकर वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है।

५ मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा तह-प्पगारेसु मण न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोह विणएज्ज माणं माय न सेवे पयहेज्ज लोहं।।
(उ० ४ १२)

बुद्धि को मन्द करनेवाले और बहुत लुभानेवाले स्पर्शो मे साधु अपने मन को न लगावे। क्रोध को दूर से ही छोडे, मान को जीते, कपट का सेवन न करे और लोभ को छोड दे।

६ मुहु मुहु मोह-गुणे जयत अणेग-रूवा समण चरत।
फासा फुसतो असमजस च न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से।।
(उ० ४ ११)

बार-बार मोह गुण को जीतकर चलनेवाले श्रमण को जीवन मे अनेक प्रकार के दु खदायी स्पर्श पीडित करते हैं। भिक्षु उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

---

१ राजर्षि नमि, जो एक समय मिथिला के स्वामी थे, का साधु होने के बाद इन्द्र के प्रति यह कथन है। 'मिथिला जल रही है' ऐसा दृश्य वताकर इन्द्र नमि से कहता है कि तुम वापस जाओ और मिथिला को पूर्ववत् सम्हालो। नमि राजर्षि इसका उत्तर दे रहे हैं।

१६. निर्ग्रन्थ

१. पंचासवपरिन्नाया तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा निग्गंथा उज्जुदंसिणो।। (उ० ३ : ११)

निर्ग्रन्थ पचास्त्रव का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियो से गुप्त, छह प्रकार के जीवों के प्रति सयत, पॉचों इन्द्रियो का निग्रह करने वाले तथा धीर और ऋजुदर्शी होते हैं।

२. आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया।। (उ० ३ : १२)

सुसमाहित संयमी निर्ग्रन्थ, ग्रीष्मकाल मे सूर्य की आतापना लेते हैं, शीतकाल मे अप्रावृत अथवा अल्पाच्छन्न होते हैं और वर्षा मे प्रतिसंलीन—इन्द्रियों को वश में कर अंदर रहते हैं।

३. परीसहरिऊदंता धुयमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो।। (उ० ३ : १३)

महर्षि निर्ग्रन्थ परीषहरूपी शत्रुओ को जीतने वाले, धुतमोह और जितेन्द्रिय होते हैं तथा सर्व दु.खो के नाश के लिए पराक्रम करते हैं।

४. दुक्कराइं करेत्ताणं दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु केई सिज्झंति नीरया।। (उ० ३ : १४)

दुष्कर करनी करते हुए और दु.सह कष्टो को सहते हुए कई निर्ग्रन्थ देवलोक को जाते है और कई सम्पूर्णत. निरज—कर्मरज से रहित हो सिद्ध हो जाते हैं।

५. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुडा।। (उ० ३ : १५)

त्रायी निर्ग्रन्थ, सयम और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मो का क्षय कर, सिद्धि.मार्ग को प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त—मुक्त होते हैं।

१७. साधु-जीवन-समुच्चय

१. अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि।
अवि णीएवि सरीरे ण करंति मुणी ममत्तिं ते।। (मू० ७८३)

परिग्रह-रहित, इच्छा-रहित, संतोषी, चारित्र मे सुस्थित—ऐसे मुनि अपने शरीर मे भी ममत्व नहीं करते।

२. वसुधम्मिवि विहरता पीडं ण करेति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु।। (मू० ७६८)

पुत्रो के प्रति माता की तरह सब जीवो के प्रति दया को प्राप्त साधु पृथ्वी पर विहार करते हुए भी किसी जीव को पीडित नहीं करते।

३. तो परिहरंति धीरा सावज्ज जेत्तियं किंचिं। (मू० ७६६)

जीव और अजीव को जानकर धीर पुरुष यत्किंचित् भी सावद्य होता है, उसका परिहार करता है।

४. णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु।
अप्पट्ठं चितंता हवंति अव्वावडा साहू।। (मू० ८०३)

हिंसा के कारणभूत शस्त्र, दण्ड आदि सब जिन्होने छोड दिए हैं, जो सर्व प्राणियो और भूतो के प्रति सम है, सावद्य व्यापार-रहित हैं, वे श्रमण आत्मार्थ का ही चितन करते रहते है।

५ उवसंतादीणमणा उवेक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अविभिया कामभोगेसु।। (मू० ८०४)

साधु उपशात, दीनचित्तरहित, उपेक्षाशील, समदर्शी, हाथ पॉव को सयम मे रखने वाले, अलोलुप, अशठ, मायारहित और काम-भोग मे अनुत्सुक होते है।

६ जिणवयणमणुगणेता संसारमहाभयंपि चिंतता।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु।। (मू० ८०५)

मुनि जिन वचनो मे अत्यन्त प्रीति रखनेवाले, ससार के महाभय का चितन करनेवाले, गर्भ मे रहने से भयभीत और जन्म-मरण से भी भयभीत होते है।

७ दिट्ठपरमट्ठसारा विण्णाणवियक्खणाय बुद्धीए।
णाणकयदीवियाए अगब्भवसदी विमग्गंति।। (मू० ८०७)

जिन्होने ससार का असली स्वरूप देख लिया है, ऐसे साधु भेदज्ञान मे कुशल बुद्धि द्वारा ज्ञानरूपी दीप के सहारे गर्भरहित निवास की खोज करते रहते है।

८ भावेति भावणरदा वइरग्ग वीदरागयाण च।
णाणेण दंसणेण य् चरित्तजोएण विरिएण।। (मू० ८०८)

भावना मे लीन साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र, ध्यान और वीर्य से युक्त होकर वीतराग पुरुषो के वैराग्य का चितन करते है।

९. देहे णिरावयक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदति भवस्स मूलाई।। (मू० ८०६)

देह मे ममत्व-रहित, समभाव मे रुचिवाले मुनि आत्मा का दमन करते हुए धैर्यरूपी बल से युक्त हो ससार के मूल का छेदन करते है।

१०. अवगदमाणत्थभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दता मद्दवजुत्ता समयविदण्णू विणीदा य।। (मू० ८३४)

मुनि अभिमानरहित, मदरहित अनुत्सृत लेश्यावाले, गर्वरहित, क्रोधरहित, दांत, मार्दवयुक्त तथा स्वमत-परमत के ज्ञाता और विनयशील होते हैं।

११ ते छिण्णणेहबधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि। (मू० ८३६)

साधु स्नेह और बधन को छिन्न करने वाले होते हैं। अत. वे अपने शरीर के प्रति भी नि स्नेह होते है।

१२ ज वंत गिहवासे विसयसुहं इदियत्थपरिभोये।
तं खु ण कदाइभूदो भुंजति पुणोवि सप्पुरिसा।। (मू० ८५१)

गृह-वास मे रूप, रस, गंध, स्पर्श और भोग से उत्पन्न जिन विषय-सुखो को एक बार छोड दिया, उन्हे सत्पुरुष फिर कभी भी किसी भी कारण से नहीं भोगते।

१३ भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जये वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिद वा णवि ते भासंति सप्पुरिसा।। (मू० ८५३)

सत्पुरुष विनयरहित, कठोर भाषा का तथा धर्म से विरुद्ध वचनो का वर्जन करते हैं और पूछने अथवा न पूछने पर अन्यथा वचनो को कभी नहीं बोलते।

१४ अच्छीहिअ पेच्छता कण्णेहि य बहुविहाय सुणमाणा।
अत्थति मूमभूया ण ते करति हु लोइयकहाओ।। (मू० ८५४)

साधु नेत्रो से सब कुछ देखते हुए भी, कानो से बहुत प्रकार की बातो को सुनते हुए भी गूगे के समान रहते है। वे लौकिकी कथा नहीं करते।

१५. विकहाविसोत्तियाण खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति।
धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति।। (मू० ८५७)

मुनि विकथा और मिथ्याशास्त्र का मन से भी चिंनन नहीं करते। धर्म मे प्राप्त वुद्धि वाले मुनि विकथा को मन, वचन, काया से छोड देते है।

१६ णिच्च च अप्पमत्ता संजमसमिदीसमु झाणजोगेसु।
तवचरणकरणजुत्ता हवति सवणा समिदपावा।। (मू० ८६२)

श्रमण संयम, समिति, ध्यान, और योगो मे प्रमाद-रहित होते है। वे तप, चारित्र और करण मे उद्यमी होते है। पापो के नाश करने वाले होते है।

१७ जदिवि य करेति पावं एदे जिणवयणबाहिरा पुरिसा।
तं सव्वं सहिदव्वं कम्माण खय करतेण।। (मू० ८६६)

यद्यपि जिन वचनो से बाहर ये पुरुष पाप कर्म करते है तो भी जिसे कर्मो का नाश करना है, उस साधु को सब उपसंर्ग सह लेने चाहिए।

१८. सामयिक

[१]

१. उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स ज जो अप्पाण भए ण दंसए।।
(सू० १, २ (२) १७)

उसी के सामायिक कही है, जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुँचा दिया है, जो जीवो का त्राता है, जो शयनासन का सेवन करता है और जो अपनी आत्मा मे भय प्रदर्शित नहीं करता।

२ अपडिण्णस्स लवावसक्किणो।
सामाइयामाहु तस्स जं।। (सू० १, २ (२) . २०)

सामायिक उसके कही है, जिसके किसी प्रकार का प्रतिज्ञाफल (कामना) नहीं होता तथा जो कर्म-बध के हेतु-रूप कार्यो से दूर रहता है।

३ जीविदमरणे लाहालाभे सजोयविप्पओगे य।
बधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामायिय णाम।। (मू० २३)

जीवन-मरण मे, लाभ-अलाभ मे, सयोग-वियोग मे, बधु-शत्रु मे, सुख-दु ख मे, उष्ण-समत्व मे राग-द्वेष रहित समान परिणाम को ही सामायिक कहते है।

४ सम्मत्तणाणसजमतवेहि ज त पसत्यसमगमणं।
समयतु त तु भणिद तमेव सांमाइय जाणे।। (मू० ५१६)

सम्यक्त्व, ज्ञान, सयम और तप—इनसे जीव का जो प्रशस्त समभाव के प्रति गमन है उसको समय कहते हैं। उसी को तुम सामायिक जानो।

[२]

५. विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२५)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही कई है, जो सर्व सावद्य योग से निवृत्त है, तीन गुप्तियो से गुप्त हैं और जो इन्द्रियो को जीत चुका है।

६. जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२७)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही गई हे, जिसकी आत्मा सयम, नियम और तप मे सनिहित है।

७. जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेत्ति दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२८)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जिसमे राग, और द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते।

८. जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२६)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो सदा आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करता है।

६. जो दु पुण्ण च पाव च भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलसासणे।। (नि० सा० १३०)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो पुण्य और पाप के भावो का सदा वर्जन करता है।

१०. जो दु हस्सं रई सोग अरतिं व्रज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १३१)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो हास्य, रति, शोक और अरति का हमेशा वर्जन करता है।

११ जो दुगछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलसासणे।। (नि० सा० १३२)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर मे कही गई है, जो जुगुप्सा, भय और वेद—इन सब का हमेशा वर्जन करता है।

१२ जो दु धम्मं च सुक्कं च झाण झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १३३)

केवली भगवान् के शासन मे उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो सदा धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्याता है।

१६. अनीश्वर

१ गोपालो भंडबालो वा जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एय अणिस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि।। (उ० २२ : ४५)

जैसे ग्वाल गायो को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भाण्डपाल धन की संभाल करने से धन का मालिक, वैसे ही केवल वेष के रक्षामात्र से तू साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा।

२ कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो सकप्पस्स वस गओ।। (द० २ : १)

जो सकल्प के वश हो पद-पद पर विषाद-युक्त हो जाता है और काम—विषय-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे कर सकेगा ?

३. चालणिगयं व उदय सामण्ण गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण व वायाए जदि पि जधुत्त[1] चरदि भिक्खू।।
(भग० आ० १३३)

जिसका मन वश मे नहीं है, वह साधु भले ही काया और वचन से शास्त्रोक्त विधिपूर्वक सयम का पालन करता हो, पर उसका श्रामण्य वैसे ही जल जाता है, जैसे चालनी मे रहा हुआ जल।

४. खदेण आसणत्थ वहेज्ज गरुग सिल जहा कोइ।
तह भोगत्थ होदि हु सजयपहण णिदाणेण।।
(भग० आ० १२४७)

निदान करने से मुनि का महान् सयम भोग के लिए ही हो जाता है। उसका श्रामण्य पालन जैसा ही होता है जैसे कोई आसन (बैठने) के लिए भारी शिला को कधे पर ढोता हो।

१. समयकत्व-सार

१. णत्थि लोए अलोए वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १२)

ऐसा विश्वास मत रखो कि लोक और अलोक नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि लोक और अलोक हैं।

२. णत्थि जीवा अजीवा वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ . १३)

ऐसा विश्वास मत रखो कि जीव और अजीव नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि जीव और अजीव हैं।

३. णत्थि पुण्णे व पावे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १६)

ऐसा विश्वास मत रखो कि पुण्य और पाप नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि पुण्य और पाप हैं।

४. णत्थि आसवे संवरे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि आसवे व सवरे वा णेवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १७)

ऐसा विश्वास मत रखो कि आस्रव और सवर नहीं है, पर विश्वास रखो कि आस्रव और संवर हैं।

५. णत्थि वेयणा णिज्जरा वा णेव सण्णं णिवेसए।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा एवं सण्णं णिवेसए।।। (सू० २, ५ . १८)

ऐसा विश्वास मत रखो कि वेदना—कर्म-फल और निर्जरा नहीं है, पर विश्वास रखो कि कर्म-फल और निर्जरा हैं।

६ णत्थि बंधे व मोक्खे वा णेव सण्णं णिवेसए।
अत्थि बधे व मोक्खे वा एवं सण्णं णिवेसए।।। (सू० २, ५ : १५)

ऐसा विश्वास मत रखो कि बन्ध और मोक्ष नहीं है, पर विश्वास रखो कि बन्ध और मोक्ष है।

७ णत्थि धम्मे अधम्मे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १४)

ऐसा विश्वास मत रखो कि धर्म और अधर्म नहीं है, पर विश्वास रखो कि धर्म और अधर्म है।

८. णत्थि किरिया अकिरिया वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १६)

ऐसा विश्वास मत रखो कि क्रिया और अक्रिया नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि क्रिया और अक्रिया है।

६. णत्थि कोहे व माणे वा णेव सण्णं णिवेसए।
अत्थि कोहे ब माणे वा एव सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २०)

ऐसा विश्वास मत रखो कि क्रोध और मान नहीं है, पर विश्वास रखो कि क्रोध और मान है।

१०. णत्थि माया व लोभे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा एवं सण्ण णिवेसए।। (सू० २, ५ . २१)

ऐसा विश्वास मत रखो कि माया और लोभ नहीं हैं, पर विश्वास ग्खो कि माया और लोभ हैं।

११ णत्थि पेज्जे व दोसे वा णेवं सण्ण णिवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा एव सण्ण णिवेसए।। (सू० २, ५ · २२)

ऐसा विश्वास मत रखो कि राग और द्वेष नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि राग और द्वेष है।

१२. णत्थि चाउरंते ससारे णेव सण्णं णिवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे एवं सण्ण णिवेसए।। (सू० २, ५ : २३)

ऐसा विश्वास मत रखो कि चार अन्त—चार गति रूप संसार नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि चार अन्त—चार गति रूप ससार है।

१३ णत्थि सिद्धी असिद्धी वा णेवं सण्ण णिवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एव सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २५)

ऐसा विश्वास मत रखो कि मोक्ष और अमोक्ष नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि मोक्ष और अमोक्ष हैं।

१४. णत्थि सिद्धी णियं ठाणं णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि सिद्धी णियं ठाणं एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २६)

ऐसा विश्वास मत रखो कि सिद्धी—सिद्धो का निर्दिष्ट स्थान नहीं है, पर विश्वास रखो कि सिद्धि-सिद्धो का निर्दिष्ट स्थान है।

२. सम्यक्त्व का महत्त्व

१. सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठो मुणेयव्वो। (द० पा० १६)

जो पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है, उसे समयग्दृष्टि जानना चाहिए।

२. सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।। (द० पा० ७)

जिस पुरुष के हृदय में नित्य समयक्त्व रूपी जल का प्रवाह बहता रहता है, उसके पूर्वबद्ध कर्मरूपी बालु-कणों का आवरण नष्ट हो जाता है।

३. जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।
(द० पा० १०)

जैसे मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, आदि परिवार की वृद्धि नहीं होती, वैसे ही जो जिन-प्ररूपित समयग्दर्शन से भ्रष्ट है, वे मूल से विच्छिन्न हैं। उन्हे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

४. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।। (मो० पा० ३६)

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है। समयग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है उसे इच्छित वस्तु—मोक्ष का लाभ नहीं होता।

५. जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।। (द० पा० ११)

जैवे वृक्ष के मूल से शाखा, पत्र आदि परिवारवाला बहुगुणी स्कन्ध उत्पन्न होता है। वैसे ही जिन-दर्शन (सम्यग्दर्शन) को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

६ सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवतो वि।
सीलफलेणब्भुदय तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।[1] (द० पा० १६)

श्रेय और अश्रेय को जाननेवाला मनुष्य दु शील को छोड देता है। वह शीलवान् हो जाता है। शील के फलस्वरूप उसे आत्मिक अभ्युदय प्राप्त होता है। उससे फिर वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

७ इय णाउं गुणदोसं दसणरयण धरेह भावेण।
सार गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खम्स।।[1] (भा० पा० १४५)

इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के गुण और दोष को जानकर सम्यक्त्व रूप रत्न को शुद्ध भाव से धारण करो, जो सम्पूर्ण गुण-रत्नो मे उत्तम है और मोक्ष का प्रथम सोपान है।

८ सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठू वि उग्गं तव चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाह अवि वाससहस्सकोडीहि।। (द० पा० ५)

सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य भले प्रकार से कठोर तपश्चरण भी करे तो भी हजार करोडो वर्षो मे भी उन्हे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

९ सम्मत्तरयणभट्ठा जाणता बहुविहाइ सत्थाइ।
आराहणाविरहिया भमति तत्थेव तत्थेव।। (द० पा० ४)

जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से भ्रष्ट है वे अनेक प्रकार के शास्त्रो को जानते हुए भी दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप की आराधना से रहित होने के कारण नरकादि गतियो मे ही भ्रमण करते रहते है।

१०. दंसणभट्ठा भट्ठा दसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।। (द० पा० ३)

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वे ही भ्रष्ट है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य का निर्वाण नहीं होता। जो चारित्र से भ्रष्ट होते है वे (कालान्तर से) मोक्ष को प्राप्त होते हैं, किंतु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, उन्हे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

११ जीवविमुक्को सवओ दसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुओ लोउत्तरयम्मि चलसवओ।।(भा० पा० १४१)

लोक मे जीवरहित शरीर को मुर्दा कहते हैं, किन्तु जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलता फिरता मुर्दा है। मुर्दा लोक मे अपूज्य माना जाता है और चलता फिरता मुर्दा लोकोत्तर पुरुषो मे अथवा परलोक मे अपूज्य माना जाता है (इसे नीच गति मे जन्म लेना पडता है)।

---

१ मू० ६०४।

१२ रयणाण महारयण सव्वजोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धीण महारिद्धि सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं।। (द्वा० अ० ३२५)

सम्यक्त्व सब रत्नो मे महारत्न है। सब योगो मे उत्तम योग है। ऋद्धियो मे सबसे बडी ऋद्धि है। अधिक क्या, यह सम्यक्त्व ही सब सिद्धियो को प्राप्त करानेवाला है।

१३. सम्मत्तगुणपहाणो देविंदणरिंदवंदिओ होदि।
चत्तवओ वि य पावइ सग्गसुहं उत्तमं विविहं।। (द्वा० अ० ३२६)

जो समयक्त्व गुण से प्रधान होता है वह देवेन्द्र तथ नरेन्द्रो द्वारा वन्दनीय होता है। व्रतरहित होने पर भी वह अनेक प्रकार के उत्तम स्वर्गसुखों को प्राप्त करता है।

३. सम्यग्दृष्टि : मिथ्यादृष्टि

२. सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्त ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किकट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं।। (र० सा० ४७)

सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते। इसलिए रत्नत्रय के वीच सम्यक्त्व गुण ही उत्कृष्ट है ऐसा जिनवर भगवान् ने कहा है।

३. जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्त।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्तं।। (द० पा० २०)

जिनवर भगवान् ने जीव आदि पदार्थो के श्रद्धान को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन कहा है, किन्तु निश्चयनय से आत्मा (का श्रद्धान) ही सम्यक्त्व है।

४ जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ त च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणिय सद्दहमाणस्स सम्मत्त।।(द० पा० २२)

जो किया जा सके उसे करना चाहिए, जिसे करना शक्य न हो उसमे श्रद्धा करनी चाहिए। केवलि भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्व कहा है।

५ णिज्जिय दोसं देव सव्व-जिवाण दयावरं धम्मं।
वज्जिय गंथ च गुरु जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी।। (द्वा० अ० ३१७)

जो जीव वीतराग अर्हन्त को देव, सब जीवो की दया को श्रेष्ठ धर्म और निर्ग्रंथ को गुरु मानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

६ दोस सहियं पि देव जीव-हिसाइ-सजुद धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं जा` मण्णदि सो हु कद्दिट्ठी।। (द्वा० अ० ३१८)

४. धम्मो अहम्मो आगास दव्व इक्किक्कमाहिय।
अणताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलजतवो।। (उ० २८ . ८)

धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनन्त है।

५. धम्माधम्मे य दोऽवेए लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए।। (उ० ३६ ७)

धर्म और अधर्म ये समूचे लोक मे व्याप्त हैं। आकाश लोक-अलोक दोनो मे विस्तृत—फैला हुआ है और समय-समय क्षेत्र मे है।

६ एगत्तण पुहत्तेण खंधा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेत्तओ।। (उ० ३६ · ११)

अनेक परमाणुओ के एकत्व से स्कध बनता है। उसके पृथकत्व होने से परमाणु बनते है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे परमाणु लोक के एक प्रदेश मात्र मे और स्कध एक प्रदेश या समूचे लोक मे व्याप्त है।

७. धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्ध तु वियाहिया।। (उ० ३६ : ८)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीनो द्रव्य काल की अपेक्षा अनादि और अनंत है अर्थात् सदा काल शाश्वत है—ऐसा कहा गया है।

८ समए वि सतइ पप्प एवमेव वियाहिए।
आएस पप्प साईए सपज्जवसिए वि य।। (उ० ३६ . ६)

समय—काल—भी निरतर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनत हैं। एक-एक क्षत्र की अपेक्षा से सादि और अत सहित है।

६ सतइ पप्प तेऽणाई अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य।। (उ० ३६ १२)

प्रवाह की अपेक्षा से पुद्गल अनादि और अनन्त है, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सात है।

१० असखकालमुक्कोस एग समय जहन्निया।
अजीवाण य रूवीण ठिई एसा वियाहिया।। (उ० ३६ १३)

एक स्थान मे रहने की अपेक्षा से रूपी अजीव पुद्गलो की स्थिति कम से कम एक और अधिक से अधिक असख्यात काल की बतलाई है।

११ अणतकालमुक्कोस एग समय जहन्नय।
अजीवाण य रूवीण अतरेयं वियाहियं।। (उ० ३६ : १४)

अजीव रूपी पुद्‌गलो के अलग-अलग होकर फिर से मिलने का अतर कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अनन्त काल तक कहा गया है।

१२. वण्णओ गंधओ चेव रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ परिणामो तेसि पंचहा।। (उ० ३६ : १५)

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान (आकार) इनकी अपेक्षा से पुद्‌गलो के परिणाम—अवस्थान्तर भेद—पॉच प्रकार के होते हैं।

७. सिद्ध जीव

१ संसारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया। (उ० ३६ : ४८)

जीव दो तरह के बताए गए हैं—(१) ससारी और (२) सिद्ध।

२. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोदि चइत्ताण तत्थ गंतूण सिज्झई।। (उ० ३६ : ५६)

सिद्ध अलोक मे रुकते हैं। लोक के अग्र भाग मे स्थित होते है। मनुष्य लोक मे शरीर को छोडते है और लोक के अग्र भाग मे जाकर सिद्ध होते है।

३ तत्थ सिद्धा महाभागा लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंच उम्मुक्का सिद्धिं वरगइं गया।। (उ० ३६ . ६३)

महा भाग्यवत भव-प्रपच से मुक्त, श्रेष्ठ सिद्धिगति को प्राप्त होनेवाले सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग मे स्थित होते हैं।

४ उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे।। (उ० ३६ : ६४)

चरम भव मे जीव के शरीर की ऊँचाई होती है, उसके तीन भाग के एक भाग को छोडकर जो ऊँचाई रहती है, वही उस सिद्ध जीव की ऊँचाई रहती है।

५. एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य।। (उ० ३६ . ६५)

एक-एक जीव की अपेक्षा से सिद्ध सादि और अत-रहित हैं। समूचे समुदाय की दृष्टि से सिद्ध अनादि और अत-रहित है।

६ अरूविणो जीवघणा नाणदसणसन्निया।
अउल सुह सपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ।। (उ० ३६ ६६)

ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवनघन है। ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है। जिसकी उपमा नही, ऐसे अतुल सुख को वे प्राप्त है।

७. लोएगदेसे ते सव्वे नाणदसणसन्निया।
संसारपारनिच्छिन्ना सिद्धि वरगइ गया।। (उ० ३६ ६७)

सर्व सिद्ध जीव लोक के एक देश—भाग विशेष मे स्थित है। ये केवल ज्ञान और केवल दर्शनमय स्वरूप वाले है। ये ससार-समुद्र के पार पहुँचे हुए उत्तम सिद्धि नामक गति को प्राप्त है।

८. संसारी जीव

१ जीवा ससारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।। (पचा० १०६)

जीव दो प्रकार के है—ससारी और निर्वाण प्राप्त। दोनो ही प्रकार के जीव चैतन्य-स्वरूप और उपयोग लक्षणवाले होते है। ससारी जीव देह सहित होते है और मुक्त जीव देह-रहित होते है।

२ पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवससिदा काया।
देति खलु मोहबहुल फास वहुगा वि ते तेसि।।
(पचा० ११०)

जीवसहित पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पनिकाय अपने आश्रित जीवो को मोह से भरपूर स्पर्श विषय को देती है, इनके केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है।

३ ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइदिया णेया।। (पचा० १११)

इनमे से पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावरकाय के सयोग से स्थावर है। अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव त्रस है, क्योकि वे गतिशील है। ये सभी पॉच प्रकार के जीव मन से रहित एकेन्द्रिय है।

४ अडेसु पवड्ढता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेदिया णेया।। (पचा० ११३)

अण्डों मे वढते हुए और गर्भ में स्थित जीवो ओर मूर्छित मनुष्यो की जैसी दशा होती है वेसी ही दशा एकेन्द्रियो को जानना। (अर्थात् जेसे अण्डे वगैरह की वढती देखकर उनमे जीव का अस्तित्व जानते हैं, वेसे ही एकेन्द्रियों में भी जानना चाहिए।)

५ संवुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते वेइदिया जीवा।। (पंचा० ११४)

शवुक, मातृवाह, शंख, सीप, विना पैर के कृमि, लट वगैरह जो जीव स्पर्श और रस को जानते हैं, वे द्वीन्द्रिय जीव हैं।

६ जूगागुंभीमक्कणपिपीलियाविच्छियादिया कीडा।
जाणंति रस फासं गंधं तेइंदिया जीवा।। (पंचा० ११५)

जू, कुम्भी, खटमल, चींटी और विच्छु आदि कीट स्पर्श, रस और गंध को जानते हैं, इसलिए वे त्रीइन्द्रिय जीव हैं।

७. उद्दंस-मसय-मक्खिय-मधुकरि-भमरा पतंगमादीया।
रूप रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति।। (पंचा० ११६)

डॉस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवरा और पतंग वगैरह स्पर्श, रस, गंध और रूप को जानते हैं, अत वे चतुरिंद्रिय जीव हैं।

८ सुर-णर-णारय-तिरिया वण्ण-रस-प्फास-गंध-सद्दण्हु।
जलचर-थलचर-खचरा बलिया पंचेंदिया जीवा।। (पंचा० ११७)

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच स्पर्श, रस, गध, रूप और शव्द को जानते हैं। तिर्यंच जलचर, जलचर ओर नमचर के भेद से तीन प्रकार के हैं। ये सव जीव पचेन्द्रिय होते हैं। इनमें से कुछ जीव मनोवल सहित होते हैं अर्थात् देव, मनुष्य और नारकी तो मन सहित ही होते हें, किन्तु तिर्यंच मनसहित भी होते है और मनरहित भी होते हें।

९. संकप्पमओ जीओ सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
त चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ।। (द्वा० अ० १८४)

जीव सकल्पमय होता है, संकल्प सुख-दुःखात्मक है। देह में मिला हुआ होने पर भी जीव ही सव जगह सुख-दु.ख का अनुभव करता है।

१० देहेमिलिदो वि पिच्छदि देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देहमिलिदो वि भुजदि देहमिलिदो वि गच्छेदि।। (द्वा० अ० १८६)

देह से सयुक्त होने पर भी यह जीव ऑख से नाना प्रकार के रगो को देखता है, कानो से नाना प्रकार के शब्दो को सुनता हैं, जीभ से नाना प्रकार के भोजनो का आस्वाद लेता है और देह से मिला हुआ होने पर भी चलता है।

६. कर्मवाद

१. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउ निययऽस्स बंधो ससारहेउं च वयंति बध।।
(उ० १४ १६)

आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है—उनसे नहीं जाना जाता। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। यह निश्चय है कि अज्ञान आदि आत्मा के दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और कर्म-बन्धन ही ससार का कारण कहलाता है।

२. अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कम।
जेहि बद्धो अय जीवो ससारे परिवत्तए।। (उ० ३३ १)

जिन कर्मो[1] से बॅधा हुआ यह जीव ससार मे परिभ्रमण करता है, वे सख्या मे आठ है। मैं अनुपूर्वी से यथाक्रम उनका वर्णन करूॅगा।

३ नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोह आउकम्मं तहेव य।।
नामकम्मं च गोय च अंतराय तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ।। (उ० ३३ २-३)

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय—ये संक्षेप मे आठ कर्म है।[2]

४. सव्वजीवाण कम्म तु संगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्व सव्वेण बद्धग।। (उ० ३३ १८)

सर्व जीव आत्मा से सलग्न छहो दिशाओ मे रहे हुए कर्म-पुद्गलो को ग्रहण करते है और आत्मा के सर्व प्रदेशो के साथ सर्व कर्म सर्व प्रकार से बद्ध होते है।

---

१ कर्म का अर्थ साधारण तौर पर 'क्रिया' किया जाता है, परन्तु यहाँ पर कर्म का अर्थ क्रिया नहीं है। जैन परिभाषा मे, क्रिया से आत्म-प्रदेशो के साथ जिन पुद्गल-स्कन्धो का सम्बन्ध होता है, उन्हे कर्म कहते हैं। आत्मा के साथ इस प्रकार बँधे हुए जड कर्म भिन्न-भिन्न प्रकृति के स्वभाव के होते है। समभाव के भेद से कर्मो के ज्ञानावरणीय आदि आठ वर्ग होते हैं।

२ इन आठ कर्मो के अर्थ के लिए देखिए परिच्छेद के अन्त की टिप्पणी पृ० ३७५।

५ जमिण जगई पुढो जगा कम्मेहि लुप्पति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहई णो तस्स मुच्चे अपुट्ठव।।
(सू० १, २ (१) : ४)

इस जगत् मे जो भी प्राणी है, वे पृथक्-पृथक् अपने-अपने सचित कर्मो से ही ससार मे भ्रमण करते है और स्वकृत कर्मो के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियॉ पाते है। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मो से प्राणी का छुटकारा नहीं होता।

६ अस्सिं च लोए अदुवा परत्था सयग्गसो वा तह अण्णहा वा।
ससारमावण्ण पर पर ते बधति वेयंति व दुण्णियाणि।।
(सू० १, ७ . ४)

इसी जन्म मे अथवा पर जन्म मे कर्म फल देते हैं। किये हुए कर्म एक जन्म मे अथवा सहस्रो—अनेक भवो मे भी फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किये गए हें, उसी तरह से अथवा दूसरी तरह से भी फल देते हें। ससार मे चक्कर काटता हुआ जीव कर्मवश वडे से वडा दु ख भोगता है ओर फिर आर्त्तध्यान कर नये कर्म को बॉधता हे। वॉधे हुए कर्मो का फल दुर्निवार्य है।

७ कामेहि य सथवेहि य कम्मसहा कालेण जतवो।
ताले जह बंधणच्चुए एव आयुखयम्मि तुट्टई।।
(सू० १, २ (१) ˙ ६)

जिस तरह समय पाकर बन्धन से मुक्त हुआ ताल फल भूमि पर गिर पडता है, उसी प्रकार आयु शेष हो जाने पर मनुष्य मरण को प्राप्त होता है। काम-भोग तथा सम्वन्धियो मे आसक्त मनुष्य मरकर अपने कर्मो के साथ परभव मे जाता है और उसका फल भोगता है।

८ सव्वे सयकम्मकप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिडति भयाउला सढा जाइजरामरणेहिऽभिद्दुया।।
(सू० १, २ (३) ˙ १८)

सर्व प्राणी अपने कर्मो के अनुसार ही पृथक्-पृथक् योनियो मे व्यवस्थित है। कर्मो की अधीनता के कारण अव्यक्त दु ख से दु खित शठ प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत और पीडित रहते हुए चार गतिरूप ससार-चक्र मे भटकते है।

९ तेणे जहा सधि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एव पया पेच्च इह च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।।
(उ० ४ ३)